मानवतावाद और शिक्षा

पूरब और पच्छिम के देशों में

यूनेस्को द्वारा आयोजित एक अंतर्राष्ट्रीय चर्चा

अनुवादक

यदुवंशी

संयुक्त राष्ट्र की शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति
संस्था के सह प्रबन्ध से भारत के राष्ट्रीय
कमीशन के तत्वावधान में भारत में प्रकाशित

ओ रि य न्ट लौं ग म न्स

बम्बई कलकत्ता नई दिल्ली मद्रास

ओरियन्ट लौंगमन्स प्राइवेट लिमिटेड
१७ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता १३
निकोल रोड, बैलार्ड एस्टेट, बम्बई १
३६ए माउन्ट रोड, मद्रास २
२४।१ केन्सन हाउस, आसफ अली रोड, नयी दिल्ली
१७।६० सन्यासीराजू स्ट्रीट, गांधीनगर, विजयवाडा २
१७ नाजिमुद्दीन रोड, ढाका

लौंगमन्स, ग्रीन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
६ और ७ क्लिफोर्ड स्ट्रीट, लन्दन डब्ल्यू १
एवं
न्यूयार्क, टोरंटो, केप टाउन तथा मेलबोर्न

संयुक्त राष्ट्र की शिक्षा, विज्ञान
और संस्कृति संस्था, पेरिस द्वारा
अंग्रेजी संस्करण (प्रथम प्रकाशन) १६५३
हिन्दी संस्करण (प्रथम प्रकाशन) १६५६

मुद्रक ज्ञानेन्द्र शर्मा, जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
प्राइवेट लि०, ३६ वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता ७

विषय-सूची

भूमिका

यूनेस्को के सामान्य सम्मेलन ने अपने पाचवें अधिवेशन में एक ठहराव[१] स्वीकार किया था, जिससे प्रधान निर्देशक को यह अधिकार दिया गया था कि वह 'पूरब और पच्छिम के देशो के बीच सास्कृतिक और दार्शनिक सम्बन्धो के विषय में विविध देशो के विचारको और दार्शनिको की एक चर्चा' का आयोजन करे।

इस ठहराव पर अमल किया गया, और १३ से २० दिसम्बर १९५१ तक नई दिल्ली (भारत) के ससद भवन मे गोलमेज चर्चा हुई। इस चर्चा का मुख्य विषय था 'पूरब और पच्छिम के देशो में मनुष्य की सकल्पना और शिक्षा दर्शन'। इस गोलमेज सम्मेलन में जो चर्चा हुई और जो निष्कर्ष निकले तथा सिफारिशें की गई उनको जनता के सामने रखना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

यूनेस्को इस चर्चा की तैयारिया १९५१ के प्रारम्भ से ही करने लगा था। रामकृष्ण वेदान्तिक मिशन (भारत) के स्वामी सिद्धेश्वरानन्द और लिल्ल विश्वविद्यालय तथा पेरिस के उच्च शिक्षा विद्यालय (Ecole des hautes etudes) के प्रोफेसर आलिविए लाकोम्ब की सहायता से एक बुनियादी दस्तावेज[२] तैयार किया गया जिसमें गोलमेज सम्मेलन में जो समस्यायें रखी जानी थी उनके पदो को स्पष्ट किया गया था।

यूनेस्को के सदस्य राष्ट्रो के राष्ट्रीय कमीशनो से कहा गया कि इस अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा की रूपरेखा की सीमाओ के अन्दर यदि वे कुछ कहना चाहें तो उसे लिख कर भेज दें।

इस चर्चा में भाग लेने के लिये यूनेस्को ने ससार के अनेक प्रदेशो से बारह प्रख्यात विशेषज्ञो को बुलाया जिन्हें राष्ट्रीय कमीशनो से परामर्श करके चुना गया था

श्री एल्बर्ट बेगुए (स्विटजरलैण्ड), लेखक और 'एस्प्री' (Esprit) पत्रिका के सम्पादक,

---

१ १९५१ का कार्यक्रम ठहराव ४. १२११
२ देखो परिशिष्ट १

प्रो० जान ट्रेस क्रिस्टी (यूनाइटिड किंगडम): प्रिंसिपल, जीसस कालिज, आक्सफोर्ड

प्रो० फ्लेरेंस फाउस्ट (संयुक्त राष्ट्र अमरीका): डीन, ह्यूमैनिटीज विभाग, स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय, स्टैनफोर्ड, फोर्ड फाउंडेशन द्वारा स्थापित विद्या विकास निधि के अध्यक्ष ;

प्रो० हैल्मुथ फान ग्लासेनेप (जर्मनी): ल्युबिंगन विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति के प्राध्यापक ;

प्रो० मैंशो कानाकुरा (जापान): तोहोकु विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति के प्राध्यापक ;

सेनेटर इब्राहीम मदकूर (मिस्र): मिस्री सेनेट के सदस्य, अरबी भाषा की फुआद आकादेमी के सदस्य, काहिरा विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के भूतपूर्व प्राध्यापक;

प्रो० जी० पी० माललसेकेर (श्रीलंका): कोलम्बो विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक ,

प्रो० ज्यूसेप्प पिसानेल्ली (इटली): इटली की लोक सभा के सदस्य, रोम विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक ;

श्री आन्द्रे रुसो (फ्रांस) लेखक ;

श्री जैक रुएफ्फ (फ्रांस): दर्शनशास्त्र और मानवतावादी अध्ययन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय परिषद के अध्यक्ष, एस्तित्युत द फ्रांस के सदस्य ;

परमश्रेष्ठ डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन (भारत): यूनेस्को के कार्यकारी बोर्ड के अध्यक्ष, मास्को में भारतीय राजदूत ;

प्रो० हिल्मी जिया उल्केन (तुर्की): इस्ताम्बूल विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक ,

मेजबान देश के नाते भारत की सरकार ने भी कुछ विचारकों को चर्चा में भाग लेने के लिये बुलाया। उनके नाम यह है :

प्रो० रास बिहारी दास, सागर विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक ;

डा० हुमायू कबीर, दर्शन शास्त्र के भूतपूर्व प्राध्यापक, शिक्षा मन्त्रालय के सलाहकार ;

प्रो० एच० आर० वाडिया, बड़ोदा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति, भारतीय दर्शनशास्त्र कांग्रेस के कार्यकारी समिति के अध्यक्ष।

भारत सरकार यह गोलमेज चर्चा नई दिल्ली में १३ से २० दिसम्बर १९५१ तक करने के लिये राजी हो गई। उसने यूनेस्को को इस सम्मेलन का आयोजन

करने में सहायता दी, और इसका प्रबन्ध करने की ओर इसके अधिवेशनों के लिये एक सचिवालय का संगठन करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली।

चर्चा प्रारम्भ होने से पहले महात्मा गान्धी की समाधि पर फूल चढाये गये।

औपचारिक प्रारंभिक और अन्तिम बैठको में निमन्त्रणों द्वारा जनता और प्रेस को भी बुलाया गया। इन बैठको के अध्यक्ष भारत के शिक्षा मन्त्री, परमश्रेष्ठ मौलाना आजाद थे।

प्रधान मन्त्री परमश्रेष्ठ श्री नेहरू, अन्तिम बैठक में आये जहां उन्होने एक प्रवचन दिया।

परमश्रेष्ठ डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन सभापति चुने गये, सेनेटर इब्राहीम मकदूर और श्री जैक रुएफ्फ उप सभापति चुने गये, और अपने सहयोगियो के कहने पर प्रो० जे० टी० क्रिस्टी ने रिपोर्ट करने का काम स्वीकार किया।

श्री जीन टामरा, निर्देशक, सास्कृतिक कार्य विभाग, यूनेस्को के प्रधान निर्देशक के प्रतिनिधि बन कर आये थे। उनकी सहायता के लिये यूनेस्को के दर्शन और मानवतावाद अध्ययन प्रभाग के श्री जैक हैवेट और श्री कृष्णा कृपलानी थे।

एक जर्मन दार्शनिक, डा० गुथर पालिग, जिन्हें यूनेस्को का फैलोशिप मिला हुआ है, प्रेक्षक के रूप में आये। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयो से चौबीस और प्रेक्षक भी उपस्थित थे।

चर्चा में भाग लेनेवाले विशेषज्ञ जो लेख पहले से तैयार करके लाये थे, और आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, फ्रास, भारत, स्विटजरलैण्ड तथा यूनाइटिड किंगडम के राष्ट्रीय कमीशनो ने जो टिप्पणिया भेजी थी, उन्ही के आधार पर विचार विमर्श किया गया।

बैठको के दो भाग कर दिये गये। पहले दो दिनो में पूरब और पच्छिम के देशो में मनुष्य की सकल्पना के सामान्य विषय को लेकर पहले से तैयार किये हुए भाषणो के साथ चर्चा शुरू हुई। अन्तिम दो दिनो में विचार के मुख्य विषय थे, वे सिद्धान्त जो इस चर्चा से सम्बन्ध रखने वाली अनेक सस्कृतियो में शिक्षा के आधार है। हर एक प्रारभिक भाषण के बाद सामान्य विचार विमर्श होता था। हर रोज अन्त में प्रेक्षको को अपनी टिप्पणिया देने और सवाल करने का अवसर भी दिया जाता था।

प्रो० क्रिस्टी की रिपोर्ट के मसौदे के आधार पर अन्तिम बैठकों में चर्चा की रिपोर्ट को स्वीकार किया गया। इसमें सामान्य निष्कर्ष और वे सिफारिशें भी शामिल थी जो पूरब और पच्छिम के लोगो में अधिक निकट बौद्धिक

और नैतिक सम्बन्धों का विकास सबसे अच्छे ढंग पर करने के लिये यूनेस्को की और विभिन्न सरकारों और शिक्षा संस्थाओं की की गई थी।

सम्मेलन का विचार था कि प्रस्तुत पुस्तिका का चर्चा के पूरे ब्योरे के भार से न लादा जाये। अतः सम्मेलन ने जो इच्छा प्रकट की है उसके अनुसार आगे के पन्नों में नीचे बताई सामग्री दी गई है :

सामान्य निष्कर्ष और सिफारिशों सहित गोलमेज चर्चा की अन्तिम रिपोर्ट।

औपचारिक प्रारंभिक बैठक में परमश्रेष्ठ मौलाना आज़ाद और परमश्रेष्ठ डा० राधाकृष्णन के भाषण।

इस प्रकाशन के लिये लिखे गोलमेज सदस्यों के निबन्ध, जिनमें चर्चा के दौरान में जो विचार उन्होंने प्रकट किये उनका सार तथा चर्चा के लिये जो लेख उन्होंने पहले से लिखे रखे थे वे भी शामिल हैं।

अन्तिम बैठक में परमश्रेष्ठ श्री नेहरू का भाषण।

परिशिष्ट में यूनेस्को का तैयार किया हुआ बुनियादी दस्तावेज है, और गोलमेज के सदस्यों की जीवनियां भी दी गई हैं।

यूनेस्को, भारत सरकार के प्रति, जिसने उदार भाव से इस गोलमेज सम्मेलन का आतिथ्य किया, उन महामना व्यक्तियों के प्रति जिन्होंने प्रारंभिक और अन्तिम अधिवेशनों को अपनी उपस्थिति से सम्मानित किया, और उन सब दार्शनिकों और लेखकों के प्रति जिन्होंने सम्मेलन की तैयारी में और उसके विचार विमर्श में भाग लिया, अपनी गहरी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता है।

विचार विमर्श पर रिपोर्ट,
सामान्य निष्कर्ष और सिफारिशें

जिन निष्कर्षों पर हम पहुँचे और जो सिफारिशें हमने की उनका चाहे कुछ भी मूल्य हो, परन्तु इस बात पर तो सभी उपस्थित सदस्य सहमत होंगे कि भारत और श्रीलका, सुदूर पूरब और पूरब तथा यूरोप और अमरीका के प्रतिनिधियो का इस प्रकार सग होना ही बड़ा मूल्यवान था। जिस सहज रूप से हमने एक दूसरे से सपर्क बना लिये वह उस परस्पर सद्भाव का प्रतीक है जिसे पैदा करने के लिये यूनेस्को की स्थापना की गई थी। और इसके लिये नई दिल्ली से अधिक उपयुक्त और कोई स्थान नही चुना जा सकता था। अगर यह विचार विमर्श पेरिस या लण्डन में होता तो उसमें वह बात न आती। नई दिल्ली में हमारे चारो ओर पूरब की आधुनिक सस्कृति थी। और अतीत के स्मारकों से हमको उस पुराने भारत की आत्मा की अनुभूति होती थी, जो अभी तक सजीव और सक्रिय है। हमारे सम्मेलन की इस सस्थिति से ही हम सबमें ऐसी मनोवृत्ति हो गई थी कि अपनी चर्चा के मुख्य विषय के सम्बन्ध में हममें विशेष रुचि और उत्सुकता पैदा हो गई थी।

प्रथम अधिवेशन के लिये जुटने से पहले सम्मेलन राजघाट गया और महात्मा गान्धी की समाधि पर फूल चढाये। एक प्रारभिक बैठक में परमश्रेष्ठ डा० राधाकृष्णन अध्यक्ष चुने गये और सेनेटर इब्राहीम मदकूर तथा श्री जैक एएफ्फ उपाध्यक्ष चुने गये। श्री जे० टी० क्रिस्टी को रिपोर्ट तैयार करने के लिये नियुक्त किया गया। इस बात पर सब राजी हो गये कि शुक्रवार और शनिवार को प्रस्तुत विषय के सामान्य पहलुओ की चर्चा की जाये और सोमवार और मगलवार को शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ पर वे कहा तक लागू होते है इस पर विचार किया जाये। जिन पच्चीस प्रेक्षको को बुलाया गया था उनसे कहा गया कि पहले चार दिन तक वे हर अधिवेशन के अन्तिम एक घटे में अपनी अपनी टिप्पणिया दें। परन्तु आखिरी दिन जब सामान्य निष्कर्षों की रूपरेखा तैयार की जानी थी, यह प्रेक्षक उपस्थित नही रहेंगे।

तीसरे पहर सब डेलीगेट ससद भवन के केन्द्रीय सदन में जुटे, और एक बड़े दर्शक समूह की उपस्थिति में शिक्षा मन्त्री ने उन्हें प्रवचन दिया। शिक्षा मन्त्री

हिन्दी में थाने। यूनेस्को के सास्कृतिक विभाग के निर्देशक, श्री जान टामस ने यूनेस्को की ओर से उत्तर दिया। पूरब के देशो की ओर से डा० राधाकृष्णन ने और पश्चिम के देशो की ओर से श्री आन्द्रे रूसो ने भी भाषण दिये। शिक्षा मन्त्री ने अपने भाषण के शुरू में पूरब और पश्चिम में मनुष्य की कल्पना में भेद पर जोर दिया। पूरब में मनुष्य को ईश्वर की निःसृति माना जाता है, पश्चिम में उनको एक प्रगतिशील जन्तु के रूप में देखा जाता है। दोनों ही देशों में एक दूसरे के दृष्टिकोण का देखते हुए अपने अपने दृष्टिकोण में शुद्धि करने की प्रवृत्ति देखी गई है। फिर भी अभी तक इन दोनो में भेद विद्यमान है, और हाल में कुछ बढ़ ही गया है, क्योंकि पश्चिम में विज्ञान पर एक नया जोर दिया जाने लगा है। शिक्षा के क्षेत्र में पश्चिम ने विद्यादान को एक उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र माना है, परन्तु पूरब में इसका स्वतः साध्य माना गया है। व्यवहारिक रूप में शिक्षा का प्रसार करने में पश्चिम भले ही अधिक सफल रहा हो परन्तु पूरब का दृष्टिकोण अधिक गहरा और सच्चाई के अधिक निकट है।

श्री टामस ने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया कि भारत, जो बुद्ध से लेकर महात्मा गान्धी तक प्रख्यात ऋषियो और गुरुओं की भूमि रहा है, इस प्रकार के सम्मेलन के लिये बहुत उपयुक्त देश है। हमारा आदर्श एकता है और हमें दोनो ओर के भेदो को जरूरत से ज्यादा महत्व नही देना चाहिये। यदि हम सहानुभूति रखें तो यह आशा की जा सकती है कि हम इस एकता को खोज निकालेंगे और फिर अपने शिक्षा के आदर्शों में इसी एकता को अभिव्यक्त कर सकेंगे।

डा० राधाकृष्णन ने कहा कि युद्धो के बावजूद ससार भर के लोग एकता के लिये तथा सक्रिय और धनात्मक शान्ति के लिये लालायित है, और एक ऐसे जगत में रहना चाहते हैं जहा किसी भी राष्ट्र के नागरिक सब जगह अपने देश जैसी ही सुख सुविधायें पा सकें। आज का सबसे भयकर भेद पूरब और पश्चिम के बीच नही बल्कि साम्यवादियो और साम्यवाद विरोधियों के बीच है। स्वय साम्यवाद जिसके मुख्य लक्षण तार्किक अनम्यता, असहिष्णुता और प्रचार हैं, खास पश्चिम की उपज है। मानव प्रकृति के इस एकतरफा दृष्टिकोण को ठीक करने की क्षमता पूरबवालो में पर्याप्त रूप से है, और पश्चिम वाले आज भी इनसे सहिष्णुता और अध्यात्मिकता सीख सकते है, भले ही वे प्रजातन्त्र के विकास में पूरब से आगे निकल गये हो।

आन्द्रे रूसो ने इस बात की ओर निर्देश किया कि इस बीसवी सदी में हम विश्वमैत्री के आदर्श को तो पहुँच ही न सके, उलटे ऐसा प्रतीत होता है कि एक भारी सकट-स्थिति ने सारे जगत का हिला रखा है। परन्तु साथ ही उन्होने

यह भी कहा कि पूरी तरह खोजबीन करने पर हमें आज के जगत में एकता का आधार भी मिलता है। उन्होंने कहा कि अगर हम अपनी प्राकृतिक और अधि-प्राकृतिक सत्यता में पर्याप्त गहराई तक पैठें तो हमारे परस्पर के विरोध गायब हो जायेंगे। इसलिये उनका यह विचार था कि हमें पूरब और पश्चिम में निकटतर सम्पर्क की बात न कह कर उनके वास्तविक सम्मिलन की चर्चा करनी चाहिये जिसके द्वारा वे एक सामान्य नियति की ओर अग्रसर होंगे। कारण कि, जैसा उन्होंने बताया, वे असल में एक दूसरे से अलग नहीं हैं।

इन प्रारम्भिक भाषणों में जो बातें उठायी गयीं, वे इस विचार विमर्श में बराबर उठती रहीं अर्थात् पूरब और पश्चिम का भेद जिसको अब तक स्वीकार किया गया है, और इस भेद पर अधिक जोर देने से हानि, अध्यात्म, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्रों में पूरब की पश्चिम को और पश्चिम की पूरब को देन जो सदियों से चली आ रही है, हाल में विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम का प्रभुत्व, वैज्ञानिक दृष्टि-कोण अपनाने से पूरब को संभावित लाभ और हानि, और विशेष रूप से आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा वैज्ञानिक मूल्यों पर एक नया जोर देने से शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्याशित अच्छे और बुरे फल।

सम्मेलन के अधिवेशन दो भागों में बट गये। पहले दो दिनों में चर्चा उन वक्ताओं ने शुरू की जिन्होंने 'पूरब और पश्चिम के देशों में मनुष्य की संकल्पना' के अधिक विस्तृत विषय पर लेख दिये थे। बाद के दो और दिनों में चर्चा का मुख्य विषय था शिक्षा के ढग और आदर्श। विचार विमर्श के दौरान में यद्यपि बातचीत कभी-कभी इन सीमाओं के बाहर भी चली जाती थी फिर भी इस कार्यवाही का लेखा जोखा देने में इस विभाजन के अनुसार चलना ही सुविधाजनक रहेगा।

पहले दो दिन की चर्चा के दौरान में, प्रारंभिक भाषणों और उनके बाद की टिप्पणियों में दो मुख्य विषय बार बार उठे, (क) पूरबी और पश्चिमी विचारधारा में सम्बन्ध, और (ख) नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वास्तविक अर्थ, खासकर पश्चिम के देशों में।

पूरब और पश्चिम के बीच परम्परा से जो भेद किया जाता रहा है सम्मेलन के पहले भाषण का वही मुख्य विषय था। अब तक जो यह विचार रहा है कि पश्चिम क्रियात्मक, प्रगतिशील और अपनी सफलता की अनुभूति से स्वय ही उन्नत है, और इसके विपरीत पूरब निष्क्रिय और विचारात्मक है, यह एक भयंकर भूल है। हो सकता है कि पश्चिम ने इस रूप में अपने आप को दुनिया के सामने रखना पसन्द किया हो, परन्तु इस धारणा से सच्चाई के प्रति न्याय

नहीं होता। प्राचीन यूनानी-रोमन परम्परा में इससे अधिक और भी बहुत कुछ था, परन्तु अपने पुनर्जागृति के युग में पश्चिम ने इस परम्परा में से केवल उन्हीं तत्वों को छांटा जो उसके आत्म-सम्मान को पुष्ट करते थे। इस परम्परा में बहुत कुछ ऐसा भी था जिसे परखने के लिये पश्चिम की अपेक्षा पूरब अधिक समर्थ था। क्या आज पश्चिम के प्राचीन गौरव ग्रन्थों का सही अर्थ पश्चिम वालों को फिर से समझा कर, और इसके साथ-साथ अपनी आध्यात्मिकता के स्रोतों को पश्चिम वालों के लिये खोल कर पूरब मानव-समाज की भारी सेवा नहीं कर सकता? अपने अभिलेखों और परम्पराओं में से केवल वही बातें ढूंढना जो हम चाहते हों, यह रीति कितनी खतरनाक है, इसके उदाहरण बोलने वाले कई अन्य वक्ताओं ने भी दिये। पुनर्जागृति के युग में यूरोपवालों ने यूनान और रोम के अवशेषों में एक प्रकार के तत्व ढूंढे थे, परन्तु उन्नीसवी शती के रोमांटिकों ने उन्ही अवशेषों में एक दूसरी ही प्रकार की विरासत पाई थी, और यूनानी सभ्यता के रहस्यवादी तथा पूरबी पक्ष पर जोर दिया था।

सदस्यों के पास पहले भेजे हुए लेखों में पूरब और पश्चिम के परस्पर सांस्कृतिक आभार की जो अनेक बार चर्चा की गई थी, उसको भी अनेक वक्ताओं ने विस्तार दिया। अरस्तू को पश्चिम ने अधिकतर मध्यवर्ती अरब विद्वानों की व्याख्या के द्वारा ही समझा है, यद्यपि बाइजेन्टाइन का एक दूसरा स्रोत भी विद्यमान था। स्पेन में और अन्यत्र यूरोपीय रहस्यवादियों और पूरब के विचारकों में कई बातें एक सी थीं। सतरहवीं शती में बोहीम पूरबी विचार धारा से प्रभावित हुआ था। इसी के समान उन्नीसवीं शती में सभवत. हेगल का उदाहरण दिया जा सकता है। पश्चिम के प्रति पूरब के आभार को शायद अब तक भेजे गये लेखों में कम महत्व दिया गया था। सिकन्दर की चढाई का असर शतियों तक पूरबी कला में दिखाई देता था। ईसाई मिशनरियों का, विशेष कर जेसुइट मिशनरियों का असर केवल धर्म पर ही नही बल्कि संस्कृति और शिक्षा पर भी बहुत गहरा है। और इसके भी बाद भारत को ब्रिटेन की जो देन है, चाहे उसे हम पसन्द करें या न पसन्द करें, उसको भी नहीं भुलाया जा सकता। एक वक्ता का दावा था कि पूरबी विचार-धारा और दर्शन का एक भी ऐसा पक्ष नहीं है जिसका प्रतिरूप आधुनिक अमरीका में कहीं न कहीं न मिलता हो। फिर भी पश्चिमी देशों में पूरब की जितनी जानकारी है, उससे कहीं अधिक जानकारी भारत में पश्चिम की है। इस स्थिति में सुधार होना चाहिए।

दूसरे दिन की चर्चा समाप्त होते होते यह प्रतीत होने लगा था कि सम्मेलन में इस बात पर सहमति है कि पूरब और पश्चिम की मौलिक एकता, उन परस्पर

भेदो से बहुत अधिक महत्व की है, जिनसे आम लोग इतने परिचित है। परन्तु तीसरे दिन यह भी स्पष्ट था कि कुछ सदस्य इस विचार में कुछ अदल बदल करना चाहते थे कि पूरब और पच्छिम में कोई गहरे भेद हैं ही नही। आखिर भूगोल और जलवायु के कारण भेद तो रहेंगे ही। तुरकी के वक्ता ने इन दोनो सस्कृतियो की समानताओ के साथ-साथ उनके कुछ महत्वपूर्ण भेदो पर भी जोर दिया, यद्यपि अनेक स्थलो पर यह भेद और साम्य एक दूसरे की सीमाओ को लाध जाते थे। भारत को भी पूरब का पर्यायवाची समझना ठीक नही है। मिश्र के सदस्य ने हमें याद दिलाया कि भारतीय विचारधारा और धर्म के सम्बन्ध में जो बातें ठीक है, उनमें से बहुत सी इसलाम पर लागू नही होती, और न चीन और जापान पर। काल को, और इसलिये इतिहास को, अगर सारे भारतीय विचारक नही, तो भी बहुत से माया मानते है। यह मान्यता पच्छिम में साधारण रूप से प्रचलित विचारधारा से मेल नही खाती। स्वय अध्यक्ष ने यह राय रखी है कि पूरब और पच्छिम में मानव प्रकृति की दो अलग अलग कल्पनायें है। पच्छिमी विचार में देवत्व मनुष्य के बाहर है, परन्तु पूरब में दैवी तत्व को प्रारभ से ही मनुष्य के अन्त स्थ माना जाता है, और मनुष्य की सच्ची वृद्धि ठीक इसी तत्व के विकास से होती है।

परन्तु यह सब होने पर भी सम्मेलन को विश्वास था कि इनमें से अनेक भेद ऐसे नही है जिनको दूर न किया जा सके। वास्तव में यह कोई मौलिक भेद नही है बल्कि इनको विभिन्न रुख कहा जाये तो अधिक ठीक होगा। जैसे कि एक फ्रासीसी वक्ता ने कहा, ये भेद विकासात्मक है और समय के साथ तथा शिक्षा से इनमें बहुत कुछ अदल बदल हो सकता है। अमली तौर पर देखते हुए हम यह कह सकते है कि मौजूदा समय सहानुभूति और एक दूसरे को समझने की एक नई नीति का सूत्रपात करने के लिये आदर्श रूप से उपयुक्त है। विज्ञान के आविष्कारो ने हम सबको एक दूसरे के इतना निकट ला खडा किया है इतना कि इतिहास में इससे पहले कभी नही हुआ। अब पूरब और पच्छिम के लोगो के लिये अलग अलग रहना असभव है। जनसाधारण भी अब अपने से भिन्न सस्कृतियो को जानने समझने लगे है। दोनो पक्षो को अब एक दूसरे के सम्पर्क में आना ही है, और हमारी पीढी का काम यह देखना है कि इस सम्पर्क मित्रतापूर्ण के मूल में मित्रता हो न कि एक दूसरे के प्रति घृणा। एक बात जो आशाजनक है और जिस पर बार-बार जोर दिया गया वह यह है कि बीसवी शती के युद्ध और दूसरे महान अनर्थ विभिन्न सभ्यताओ के बीच नहीं बल्कि एक ही संस्कृति के भीतर कुछ अल्पसख्यक असभ्य दलो के बीच हुए। जैसा कि अध्यक्ष ने अपने

प्रारंभिक भाषण में बताया था, मार्क्स का साम्यवाद और उसका विरोध दोना ही पश्चिमी सभ्यता की गाथा उपज है।

हमारे सम्मेलन के पहले भाग का दूसरा मुख्य विषय था विज्ञान का प्रभाव और मनुष्य के चरित्र और आदर्शों पर इसका प्रभाव। बाद की विशुद्ध शिक्षा सम्बन्धी चर्चा में यह विषय फिर उठाया गया। परन्तु शुरू से ही यह स्पष्ट था कि सभी वक्ता इसको एक मार्मिक विषय समझते थे। मोटे तौर पर इस विषय को लेकर दो प्रकार के मत रखे गये। एक तो यह था कि पश्चिम में मनुष्य एक मशीन युग में जा रहा था। और इस बात का भारी खतरा था कि विज्ञान के साधनों से प्रकृति को वश में करने की कोशिशों में कहीं वह अपने को दास बना हुआ न पाये। वैज्ञानिक भौतिकवाद पश्चिम की पूरब को एक अत्यन्त खेदजनक देन है। इससे मनुष्य के आध्यात्मिक मूल्य और उसकी स्वायत्तता दोनों के लिये ही संकट खड़ा हो गया है।

दूसरी ओर यह कहा गया, और इसमें भारतीय प्रतिनिधि पीछे नहीं थे, कि विज्ञान ने हजारों ऐसे प्राणियों को सुखी और स्वस्थ बनाया है जो पचास बरस पहले इसकी सहायता के बिना जीवित भी न रह सकते। संसार की भलाई और समृद्धि के लिये वैज्ञानिक विशेषज्ञों की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ेगी। इसलिये विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार न करना अनभीष्ट ही नहीं असंभव है।

इस मत संघर्ष के कारण 'विवेक' शब्द को लेकर बहुत चर्चा बहस हुई। संयुक्त राष्ट्र अमरीका से आये हुए वक्ता ने इस बात पर चिन्ता प्रकट की कि सम्मेलन ने यह जाहिर तक भी क्यों होने दिया कि वह जीवन और शिक्षा में विवेक के पहलू को कम समझता है। 'सद्विवेक' तो हमारे लिये अस्पष्ट भावुकतावाद, प्रतिबुद्धिवाद और दूसरी ऐसी ज्यादतियों के खिलाफ़, जिन्हें नाजी परिभाषा में 'रक्त द्वारा विचार करना' कहा जाता था, एक ढाल का काम देगा। यह आपत्ति ठीक समय पर ही उठाई गई, और इससे बाद के अधिवेशनों में एक अधिक दार्शनिक, यद्यपि कुछ विस्खलित सी, बहस विवेक को लेकर उठी। एक फ्रांसीसी सदस्य ने बड़ी गरमजोशी से इस बात पर अपनी सहमति प्रकट की कि विवेक सच्चे मानों में उस मानव जाति की विशेषता है जिसका सजन देवताओं ने किया है, जो अपने में स्वाधीन है और जिसे सत टामस के शब्दों में, ईश्वर ने 'कारण' बना कर गौरव दिया है। सम्मेलन में इस बात पर भी सहमति प्रकट की गई कि हमें विवेक के इस अर्थ में और उसके दूसरे अर्थ में भेद करना चाहिये जहां उसका आशय केवल मनुष्य का बौद्धिक तत्व होता है

और अस्वाभाविक ढंग से इस तत्व को उसके शेष व्यक्तित्व से अलग कर दिया जाता है। मोटे तौर पर पास्कल और डेकार्ट में यही अन्तर था। अपने श्रेष्ठ रूप में मानव विवेक मार्क्सवादियों के उस कठोर अति तार्किक बुद्धिवाद से बहुत भिन्न है, जो इतिहास तक की केवल एक जड़ व्याख्या करता है, और जिसके कारण दुष्प्रचार, असहिष्णुता और फिर अत्याचार फैलता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इतिहास की रहस्यमयता के भाव को फिर से अनुभव करने लगें। फ्रांसीसी वक्ता ने कहा कि विवेक के इस निकृष्ट रूप की उपमा एक नीबू-निचोड़ से दी जा सकती है क्योंकि यह पहले तो विचारों को कुचल देता है और फिर उन्हें निकाल बाहर फेंकता है।

यह विचार शिक्षा पर किस प्रकार लागू किये जा सकते हैं, इस विषय पर सम्मेलन के उत्तरार्द्ध में खूब विचार-विमर्श हुआ। परन्तु सम्मेलन का पूर्वार्ध समाप्त होने से पहले कुछ वक्ताओं ने वैज्ञानिक बुद्धिवादियों में असहिष्णुता की चर्चा की, और इसको लेकर सहिष्णुता और इसीसे आगे बढकर धर्म पर कुछ बहस हुई। यह एक ऐसा विषय था जिसको अधिकाश लेखों में प्रमुखता नहीं दी गई थी। विवेक पर जो बहस हुई थी उसमें अधिक्तर पश्चिम के वक्ताओं ने भाग लिया था। परन्तु अब भारतीय सदस्यों ने अपने विचार प्रकट किये। यह तो स्पष्ट ही है कि सहिष्णुता एक ऐसा गुण है जो अधिकाश मनुष्यों को सीखना चाहिये। परन्तु सहिष्णुता बडी आसानी से उदासीनता की सीमा तक पहुँच जाती है और असहिष्णुता के प्रति हमें कहा तक सहिष्णुता बरतनी चाहिये इस परिचित पहेली का कोई उत्तर न मिला। एक भारतीय वक्ता का कहना था कि सहिष्णुता ही काफी नहीं है, बहुत करके सहिष्णुता में इनायत का भाव छिपा रहता है। परन्तु जो सहिष्णुता हम सबको सीखनी चाहिये उसमें दूसरे के दृष्टिकोण का आदर करने के साथ-साथ अपने पर गहरा विश्वास भी होता है।

कुछ सदस्यों में धर्म के प्रति स्पष्ट ही संदेह था। एक वक्ता ने एक आदर्श समुदाय का खाका खींचा जिसकी बागडोर नेताओं के एक विशेष वर्ग के हाथों में होगी। उदारता, सहानुभूति और आत्म-त्याग के गुणों पर जोर देते हुए उन्होंने यह कह कर सबको अचम्भे में डाल दिया कि इस श्रेष्ठ वर्ग के लिये उन्हें किसी धर्म की आवश्यकता नहीं होगी। इतिहास बताता है कि धर्म आम तौर पर भेदजनक होता है। यदि इस समुदाय के दो अन्य और कम सस्कृत वर्गों के लिये किसी प्रकार के धर्म को आवश्यक समझा भी गया तो भी यह आंखें मूद कर नहीं अपनाया जायेगा वरना वह अवश्य ही कट्टरता और असहिष्णुता की भावनायें पैदा कर देगा।

पश्चिम से आये हुए एक प्रतिनिधि ने इस बात पर अचरज प्रकट किया कि एक पूरबी दार्शनिक के मन में धर्म के प्रति यह अविश्वास हो। इसके विपरीत वह तो यह समझते थे कि, भारत शायद संसार भर में वहएता ऐसा देश है जहां दर्शन को धार्मिक रोगों से कम से कम अलग रखा जा सकता है। कम से कम आज पश्चिम के विचारक तो भारत में इसी बात की अपेक्षा रखते हैं कि यहां धर्म का दार्शनिक पक्ष असंख्य जीवों को मिलाने के लिये सक्षम सिद्ध होगा न कि उनमें भेद पैदा करके इन्हें एक दूसरे के विरोध में खड़ा करने के लिये तब, इसके विपरीत, यदि पूरब धर्म को दर्शन से अलग करने की प्रवृति दिखता है तो क्या वह अपने महान उद्देश्य में असफल न हो जायेगा ?

इस पर अध्यक्ष ने कहा कि इस चर्चा में शायद कुछ गलतफहमी पैदा हो गई है। हमें धर्म को कट्टरता के साथ नहीं मिलाना चाहिये। धर्मसहिष्णुता के विरुद्ध चेतावनियाँ देना कितना भी न्यायसंगत क्यों न हो, वह उस धार्मिक विचार-धारा पर लागू नहीं होता जो हमारे जीवन और हमारी आत्मा का एक अंग बन गई है। अध्यक्ष की इस बात से सभी प्रतिनिधि सहमत हो गये कि धर्म का प्रभाव हमारे विचार-जगत में बड़े महत्व का हो सकता है, जब कि कट्टरता, यदि राष्ट्रों के बीच नहीं तो, लोगों के मस्तिष्कों के बीच तो युद्ध कर ही देती है।

हमारी गोष्ठी के जिस भाग का सम्बन्ध शिक्षा से था, वहाँ सामान्य रूप से दो विषयों पर चर्चा चली। एक तो विज्ञान का शिक्षा पर समाघात, विशेष कर पश्चिम में, और दूसरे प्रजातन्त्रवाद का शिक्षा पर समाघात, विशेष कर पूरब में। चर्चा का प्रारम्भ अमरीकन वक्ता ने किया जिनका लेख पहले ही सब सदस्यों के पास पहुँच चुका था, और जिन्होंने अब इस लेख पर अपनी टिप्पणी दी। उनका भाषण सामान्य विषयों से उतर कर विशेष विषयों पर आने के लिये उपयुक्त सिद्ध हुआ। उन्होंने फिर उस खतरे की चर्चा की जिसे उनकी राय में विवेक से दूर भगाना कहा जा सकता है। लेकिन इसके साथ ही वह उस खतरे को भी समझते थे जो शिक्षा को अत्यधिक विवेकवादी बनाने से पैदा हो सकता है। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका को अनेक व्यवहारिक समस्याओं का हल ढूंढ़ना है इसलिये शायद यह डर हो सकता है कि वहाँ शिक्षा क्रियाओं की उलझन में ही फँस कर रह जाये, और परम मूल्यों को अनुचित ढग पर घृणा की दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार शिक्षा को लें कर हम दो विचार धाराओं को स्पष्ट देख सकते हैं। इन विचार धाराओं के दार्शनिक आधारों का और अधिक अध्ययन करने से सम्भव

अमरीकन विचार-धारा के एक और पहलू की ओर भी निर्देश किया, और वह यह कि विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों में परस्पर सहिष्णुता का सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि उससे व्यवहारिक संघर्षों को मिटाने और सैद्धान्तिक समानताएँ खोज निकालने का एक आधार मिल जाता है।

बाद के वक्ताओं में इस विषय को ले कर कुछ मतभेद हुआ, कि विज्ञान और शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने की ठीक-ठीक स्थिति क्या होनी चाहिये। पूरब के एक सदस्य ने विज्ञान को सर्वथा हेय बतलाया। जहाँ तक वह देख सकते थे, आज की दुनिया में विज्ञान का दो ही प्रकार उपयोग होता है, एक तो उद्योग में और दूसरे लड़ाई में। ये दोनों ही उपयोग खेदजनक हैं। परन्तु अन्य वक्ताओं ने विज्ञान का पक्ष लिया। उन्होंने कहा कि विज्ञान को केवल उपयोग की दृष्टि से देखना कोई अर्थ नहीं रखता। ज्ञान के स्वयं सिद्ध होने का सिद्धान्त वैज्ञानिक पर उतना ही लागू होता है, जितना मानवतावादी पर। और यह कहना भी विज्ञान के साथ अन्याय करना है कि शिक्षा पर इसका प्रभाव आवश्यक रूप से भौतिकवादी ही होगा। उन्नीसवीं सदी के अन्त में शायद यह बात ठीक हो, परन्तु १९०० के बाद से इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं, कि मनुष्य के व्यक्तित्व में सविचार तार्किक विवेक का वह पुराना प्राधान्य अब वैज्ञानिकों की दृष्टि में नहीं रहा है। बर्गसां के दार्शनिक सिद्धान्त इस का एक उदाहरण है।

इस विचार-विमर्श के फलस्वरूप अन्य सदस्यों ने यह सुझाव रखा कि यूनिवर्सिटी-स्तर पर विज्ञान के अध्यापन में दर्शन को भी स्थान देना चाहिये। परन्तु यह दर्शन सच्चा दर्शन होना चाहिये, जिसे दार्शनिक विद्वान् पढ़ायें न कि 'दर्शन का इतिहास' कहलानेवाली पुस्तकों में दी हुई व्याख्या, जिनसे विद्यार्थीगण समझ बैठते हैं कि उन्होंने दर्शन के सिद्धान्तों को समझ लिया है जब कि वास्तव में—उन्होंने केवल दार्शनिकों की जीवनियों को पढ़ा होता है। तुर्की के वक्ता ने इस बात की ओर निर्देश किया कि दार्शनिक अध्यापन दो प्रकार का होता है—एक तो सिद्धान्तों का सिनेमावत् दिग्दर्शन, जिससे संशयवाद पैदा होता है, और दूसरे *अधिक सुधारों और विस्तारों के द्वारा मानव विचार-धारा के विकास की* कल्पना, जो समस्याओं का इतिहास मात्र है, और जिससे किसी *अहित* की सम्भावना नहीं है।

सामान्य रूप से सम्मेलन ने अमरीकी वक्ता के इस कथन को स्वीकार कर लिया कि शिक्षा देनेवालों को दो काम अवश्य करने चाहियें, (क) विशेषज्ञ को उसका काम सिखाना, (ख) विशेषज्ञ और अविशेषज्ञ दोनों को *विचारशील*

नागरिक बनने के लिये सिखलाई देना। यह दूसरा काम पहले काम से भी अधिक महत्व का है।

बाद में एक अधिवेशन में अंग्रेज सदस्य ने मानवतावाद के समर्थन में भाषण दिया। क्या इस समय हमें इसी मानवतावादी दृष्टिकोण की आवश्यकता नहीं है, जिसका क्षेत्र केवल तकनीक सिखाने भर से अधिक विस्तृत है और इसके साथ-साथ दार्शनिक परम तत्वों के प्रशिक्षण से अधिक ठोस भी है ? मानवतावादी शास्त्र केवल विज्ञान के एक वैकल्पिक पाठ्यक्रम नहीं हैं, जैसा कि अंग्रेजी स्कूलों में अक्सर समझा जाता है। यह शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार के अंग हैं। परन्तु इसमें बहुत कुछ अध्यापक की योग्यता पर निर्भर है, और यहाँ शायद पश्चिमी देश पूरब से सीख ले सकते हैं, जहाँ एक बुद्धिमान अध्यापक के व्यक्तित्व के प्रति एक गहरी परम्परागत आदर भावना पाई जाती है। आजकल विज्ञान के अध्यापक बहुधा तकनीक सिखा कर ही सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु मानवतावादी अपना समस्त व्यक्तित्व दूसरे तक पहुँचा देता है। मानवतावादी शिक्षा केवल एक धुन्धली भावना मात्र नहीं है। इससे एक अपनी तरह का ज्ञान होता है, जो वैज्ञानिक ज्ञान की अपेक्षा कम अनुमान्य और यथार्थ भले ही हो परन्तु अधिकांश लोगों के लिये उससे कहीं अधिक महत्व का होता है।

मिस्र के वक्ता ने मानवतावाद का एक दूसरा अर्थ लगाया, अर्थात् वे तमाम नैतिक और बौद्धिक सिद्धान्त जो मनुष्य को अपने व्यक्तिगत रूप में समाज के एक सदस्य के रूप में शामिल करते हैं। मानवतावाद मानव-जाति की वह विरासत है, जो युगों में, और अनेक सभ्यताओं के बीच बनी है। यह न तो विशुद्ध रूप से पूरबी है न विशुद्ध रूप से पश्चिमी। यह अन्तर्राष्ट्रीय है। इसके अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का एक सम्पूर्ण मापदण्ड बन जाना चाहिये, जो सर्वत्र पूरी निष्ठा से माना जाना चाहिये, वरना राष्ट्रों के किसी भी समाज की कोई उपयोगिता नहीं होगी। हमें उन राष्ट्रीय मूल्यों की ओर से भी सचेत रहना चाहिये जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के ऊपर हावी हो जाने की प्रवृत्ति रहती है। हमें डर है कि एक प्रबल राष्ट्रवादी भावना अन्तर्राष्ट्रीयता को अपना स्थान नहीं लेने देगी।

इस सारभूत विवरण से इस बात का कुछ पता चलता है कि आधुनिक शिक्षा में विज्ञान को कैसा योग देना चाहिये, इस प्रश्न को ले कर कैसी सजीव यद्यपि कुछ विस्खलित सी बहस हुई। पश्चिम से आये हुए एक दो सदस्यों ने कुछ ठोस प्रश्न भी पूछे और भारत के एक प्राध्यापक ने उनका उत्तर दिया। उन्होंने स्वीकार किया कि भारत में यूनिवर्सिटियाँ परीक्षाओं के भार से बहुत अधिक

दबी हुई है। इस कारण वह यह चाहेंगे कि यूनिवर्सिटियों के पाठ्यक्रम का कुछ भाग (उदाहरण के लिये दर्शन शास्त्र पर सामान्य प्रवचन, विशेषकर वैज्ञानिकों के लिये) परीक्षाओं से न जाँचा जाये। उनका यह भी विचार था कि यूनिवर्सिटियों की डिगरियों को आर्थिक मूल्य देने के कारण ही हम वहाँ अध्ययन और अध्यापन के ऊँचे से ऊँचे स्तरों तक नहीं पहुँच पाते हैं। जब उनसे यह पूछा गया कि क्या पश्चिम के समान भारत में भी एक युवक स्नातक बढ़िया शिक्षा पा लेने पर अपने पारिवारिक क्षेत्र से अलग हो जाता है, तो उन्होंने बताया कि इस बात का डर भारत में भी है, जहाँ कि पारिवारिक क्षेत्र पश्चिम की अपेक्षा समाज का एक अधिक अन्तरंग भाग है। इतिहास के प्रति हिन्दू-दृष्टिकोण क्या है इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि जिस दर्शन में काल को असत् माना हो वह इतिहास के अध्ययन को अधिक महत्व नहीं दे सकता। परन्तु इस विषय पर उनका अपना मत यह नहीं था।

दूसरा विषय जिसने सम्मेलन के शेष समय का अधिकांश भाग लिया वह था शिक्षा पर प्रजातन्त्रवाद का समाघात विशेषकर भारत में एक अधिवेशन में यह प्रश्न पहले ही उठाया जा चुका था कि क्या भारत के 'नये प्रजातन्त्र' में यूनिवर्सिटियों की उच्च शिक्षा को पचाने और उससे लाभ उठाने की शक्ति है। एक यूरोपियन प्रतिनिधि ने अपने लेख में जो एक बात कही थी उसके आधार पर उनसे पूछा गया था कि क्या उनके विचार में किसी भी देश की अधिकांश जनता के लिये उच्च शिक्षा के लाभों से वंचित रहना अवश्यम्भावी है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि ऐसा तो वह कतई नहीं मानते, पर उनकी साफ साफ राय यह भी थी कि संस्कृति की एक प्राचीन और अभिजात वर्गीय परम्परा है, और 'नई जनता' को इस परम्परा से प्रभावपूर्ण ढंग से नाता जोड़ने में अभी बहुत समय लगेगा। इसी प्रकार के दृष्टिकोण को बाद में एक भारतीय वक्ता के भाषण से भी समर्थन मिला। उन्होंने तीन वर्गों वाले एक आदर्श समाज का जो नक्शा खींचा उससे बरबस प्लेटो का ध्यान आता था, और स्वयं यही बात पूरब और पश्चिम के नाते की ओर संकेत करती थी। प्लेटो को प्रजातन्त्र से जो डर था कुछ कुछ वैसा ही डर इनके भाषण में भी झलकता था। उन्होंने कहा कि मनुष्य उतनी ही मात्रा में पूर्ण मानव होता है जितनी उसमें उच्चतर मूल्यों को समझने की सामर्थ्य होती है। अवश्य ही अनेक लोग ऐसे होते हैं जिनमें ऊपर उठने की न तो चाह होती है न शक्ति। क्या ऐसे लोग वास्तव में पशुओं से कुछ बहुत भिन्न होते हैं? यह नहीं कहा जा सकता कि यह दृष्टिकोण सारे सम्मेलन का दृष्टिकोण था। परन्तु यह उस गुरुगम्भ आदर्शवाद

के विरुद्ध एक बड़ी लाभप्रद चेतावनी थी, जो कभी कभी प्रजातन्त्रवादी शिक्षा के हिमायतियों में पायी जाती है। कुछ भी हो पूरब के एक अन्य वक्ता ने बताया कि अगर यूनिवर्सिटियाँ धन्धाधुन्ध छात्र भर्ती करती रहीं तो वे सच्चे अर्थ में यूनिवर्सिटियाँ न रहकर केवल 'डिगरी लेने की मशीनें' बन जायेंगी। पूरब ने एक तीसरे वक्ता ने इस बात का अनुरोध किया कि बालकों की शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कल्पना और सौन्दर्यबोध की शक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। केवल बौद्धिक योग्यता पर ही ध्यान केन्द्रित करना, जिससे युवक परीक्षायें पास कर सकते हैं, इकतरफा प्रयास है जिससे बौद्धिक दम्भ पैदा होता है। एक भारतीय वक्ता ने, जो पहले दर्शन के प्राध्यापक थे और अब भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की सेवा कर रहे हैं, अपने भाषण में वही रख लिया जो उन्होंने अपने लेख में लिया था। यह लेख भी पहले से सब सदस्यों के पास भेज दिया गया था। उनका विचार था कि विज्ञान ने मानव जाति को बड़े विस्तृत पैमाने पर राष्ट्रों के बीच नये सम्पर्क स्थापित करने का अवसर दिया है। स्थान और समय की दृष्टि से संसार अब एक इकाई बन जाने के इतना निकट पहुँच गया जितना पहले कभी नहीं पहुँचा था। इसकी जोड़ में अब हमें सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा देना चाहिये। हमें एक सामान्य विचारात्मक पृष्ठभूमि तैयार करनी चाहिये, जो केवल कुछ थोड़े से पढ़े लिखों के लिये ही नहीं होगी बल्कि आम लोगों के लिये भी होगी। मनुष्यों के विचारों को इच्छानुसार रूप और गति दी जा सकती है, यह बात तो बड़े पैमाने पर जो प्रोपेगंडा किया जाता है उससे स्पष्ट प्रगट हो जाती है। प्रजातंत्र में प्रोपेगंडा का स्थान शिक्षा को देना चाहिये। यूनिवर्सिटियाँ केवल उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं हैं। स्कूलों के लिये जो अध्यापक चाहिये वे भी उन्हीं को मुहैया करने पड़ते हैं, और उनकी योग्यता का स्तर भी उन्हीं पर निर्भर है। अपने काम में लगन रखने वाले अध्यापकों के बिना, कोई भी पद्धति चाहे वह कितनी भी सुसंगठित क्यों न हो, न तो पनप सकती है न यूनिवर्सिटियों का आधार ही बन सकती है।

सच्चे प्रजातन्त्र की प्राप्ति में बाधायें भी हैं, जिनको केवल शिक्षा ही हटा सकती है जैसे जातीय प्रवरता में झूठा विश्वास, और इतिहास को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना। आज हम क्रान्तियों के युग में रह रहे हैं, यह क्रान्तियाँ होनी तो अवश्य ही हैं, और केवल शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जो परम्परा और नये प्रयोगों के बीच मध्यस्थ का काम करते हुए, लोगों को बिना हिंसा और रक्तपात के क्रान्ति करने के लिये तैयार कर सकता है। एक नवजात

प्रजातंत्र में शिक्षा का पहला फल यह हो सकता है कि उससे युवा विद्यार्थी अपनी घरेलू परम्परा से अलग पड़ जायें, और उनके सामने व्यवहार के दो मापदण्ड उपस्थित हो जायें। परन्तु शिक्षा की प्रक्रिया जब एक बार शुरू हो जाये तो उसे आगे बढ़ते ही जाना चाहिये जब तक कि विद्यार्थी का दृष्टिकोण संकलित न हो जाये। विद्यार्थियों में से एक एक व्यक्ति के सांस्कृतिक संकलन से हम एक संकलित समाज और अन्त में एक संकलित संसार बना सकेंगे।

यूनेस्को की ओर से बोलते हुए श्री टागरा ने सम्मेलन को आश्वासन दिलाया कि सम्मेलन में जो कुछ सिफारिशें की जानी थी, उनमें से बहुतों पर तो यूनेस्को ने पहले ही काम शुरू कर रखा है। दर्शन के अध्यापन की जांच की जा रही है, और उन्हें यह देख कर हर्ष हुआ कि सम्मेलन ने यूनिवर्सिटी-स्तर पर दर्शन और विज्ञान के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित करने का सुझाव दिया है। इसके अतिरिक्त शीघ्र ही यूनेस्को की ओर से मानवजाति के वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विकास का एक इतिहास प्रकाशित होनेवाला है, जो बहुत हद तक प्रोफेसर कबीर के इस अनुरोध को पूरा करेगा कि राष्ट्रों के बीच विचारों का संकलन होना चाहिये।

हमारे विचार विमर्श का जो वर्णन ऊपर दिया गया है, वह केवल उतने तक ही सीमित है कि सम्मेलन के नियमित अधिवेशनों में क्या कहा गया। परन्तु परिशिष्ट को देखने से पता चलेगा कि कुछ सदस्यों ने बड़े विद्वत्तापूर्ण और प्रभावशाली लेख भेजे थे जिनको पढ़ कर गोष्ठी के सभी सदस्यों ने लाभ उठाया, परन्तु जिन पर आम बहस नहीं हो सकी। प्रो० ग्लासनेप्प और प्रो० उल्कन के लेख इनके उदाहरण हैं।

सामान्य निष्कर्ष

हमारी चर्चा के इस सारभूत विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि यह चर्चा व्यक्तिगत लेखों को ले कर चली। यह लेख पहले से सब सदस्यों को पहुँचा दिये गये थे, और अधिवेशनों के समय प्रत्येक लेखक से कहा गया कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक विस्तार से समझायें। वक्ताओं को यह स्वतंत्रता थी कि वे जैसे चाहें अपने विचारों की व्याख्या करें। विशेष प्रश्नों के उत्तर देना उनके लिए आवश्यक नहीं था। फिर भी चर्चा के दौरान में बहुत से निष्कर्ष निकले, यद्यपि उनको सर्वसम्मत अथवा बहुमत प्रस्तावों के रूप में नहीं रखा गया।

जिस समय बुनियादी दस्तावेज सब सदस्यों के पास भेजा गया था, उसके साथ ही एक तितम्मा भी भेजा गया था जिसका शीर्षक था 'कुछ निर्णायक प्रश्न'[1]। इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिये सम्मेलन के पास समय नहीं हो सकता था। परन्तु यह तितम्मा, जो परिशिष्ट के भीतर ही छपा है, हमारे लिये एक ढांचे का काम दे सकता है जिसमें हम अपने निष्कर्ष रख सकते हैं। नीचे जो कुछ दिया जा रहा है, वह वस्तु रूप में सम्मेलन को उसकी अन्तिम बैठक में पढ़कर सुना दिया गया था, और सामान्य रूप से सम्मेलन ने इसके प्रकाशन की अनुमति दे दी थी। तितम्मे में जो प्रश्न क्रम रखा गया था वह पूरब और पश्चिम के भेदों पर जोर नहीं देता था, अपितु वह इस धारणा को लेकर रखा गया था कि मनुष्य की सफलता, उसके प्रभाव और उसकी शिक्षा के मोटे विषय पर सदस्य भले ही एकमत न हों, परन्तु उनके मतभेद पूरब और पश्चिम के भेद के अनुसार नहीं होंगे। और स्वयं सम्मेलन में यह धारणा ठीक ही निकली। पहले कुछ अधिवेशनों में ही यह बात एक सिद्ध-तथ्य के रूप में प्रगट हो गई कि क्रियाशील पश्चिम और विचारशील पूरब के बीच परम्परा से जो भेद माना जाता है वह कितना असत्य है। यह ठीक है कि वक्ताओं के मत में कुछ भेद ऐसे भी थे जो पूरब-पश्चिम के भेद का अनुसरण करते थे, परन्तु इस प्रकार के भेदों को अनुचित प्रमुखता देना वास्तविक स्थिति का एक गलत रूप प्रस्तुत करना होगा। हां, इनका अपनी अपनी जगह पर उल्लेख किया जायेगा। (जो सन्दर्भ यहां दिये जा रहे हैं वे तितम्मे के अनुभागों की ओर संकेत करते हैं)।

अनुभाग १ : धर्म और आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवन के बीच सम्बन्ध

सामान्य रूप से यह मान लिया गया कि धर्म जितने सच्चे रूप में नीति और दर्शन का आधार है भारत में है उतना पश्चिम में नहीं, जहां नीति पर अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे जाते हैं जिनका धर्म से कोई वास्ता ही नहीं होता। परन्तु जहां यह बात भारत के लिये ठीक है वहां पूरब के दूसरे भागों के लिये नहीं, जैसे चीन। पूरब और पश्चिम दोनों ही के सदस्यों ने यह डर प्रगट किया कि धर्म का भेदकारी प्रभाव पड़ सकता है और एक ऐसे धर्म की अपेक्षा जिस में कट्टरता और असहिष्णुता हो, धर्म का न होना ही अच्छा है।

---

[1] देखो परिशिष्ट १

अनुभाग २ : टेक्नालोजी के द्वारा प्रकृति को वस में करने की मनुष्य की शक्ति

इस विषय पर सम्मेलन में मतभेद था, परन्तु पूरब-पच्छिम के भेद के अनुसार नहीं। अनेक सदस्य यह बात समझते थे कि मशीन-युग का मनुष्य की आत्मा पर कितना जड़कारी प्रभाव पड़ता है, और यदि शिक्षा को केवल एक वैज्ञानिक तकनीक सिखाने तक ही सीमित रखा जाये, तो उस से कितनी हानि पहुँच सकती है। परन्तु पच्छिम और भारत दोनों ही के प्रतिनिधियों ने यह दावा किया कि विज्ञान के द्वारा हजारों मनुष्यों ने स्वास्थ्य और जीवन पाया है और इसलिये इसके महत्त्व को कम न समझना चाहिये। फिर भी जहाँ यह बात सच है कि वैज्ञानिक विवेक से मनुष्य ने संसार को अपने वस में कर लिया है, वहाँ इस बात के भी संकेत दिखाई दे रहे हैं कि मनुष्य स्वयं अपने वैज्ञानिक विवेक का दास बन सकता है, और प्रकृति पर किसी प्रकार की भी विजय के लिये इतनी भारी कीमत नहीं दी जा सकती।

इस निष्कर्ष का निकट सम्बन्ध उस विषय से था जो अनुभाग ३ में उठाया गया अर्थात् **'बौद्धिक शक्ति की क्या सीमायें रखी जायें : बौद्धिक ज्ञान और सम्पूर्ण मानव की परिष्कृति।'**

इस विषय को लेकर इस बात पर सब एकमत थे, यहाँ तक कि वे भी जो विवेक को बहुत मूल्य देते थे, कि बौद्धिक तत्त्व मनुष्य के स्वभाव का एक अंशमात्र है। इसके साथ-साथ सदस्यों की यह भावना भी थी कि यह बौद्धिक तत्त्व अनुचित रूप से अत्याधिक अधिकार पाता जा रहा है, विशेषकर पच्छिम में। सदस्यों ने इस अनुरोध को भी स्वीकार किया कि हमें बुद्धि के साथ साथ कल्पनाशक्ति और अपनी आत्मा को भी शिक्षित करना चाहिये (और यहाँ सौन्दर्य-बोध के मूल्य बड़ा मार्मिक कार्य कर सकते हैं, देखो अनुभाग ४)। सम्मेलन के अधिकांश सदस्यों की यह भावना थी कि केवल इसी ढंग से विद्यार्थी की बुद्धि का संकलन हो सकता है, और व्यक्ति के संकलन के बिना किसी समाज का संकलन नहीं हो सकता।

अनुभाग ५ शिक्षा की संकल्पना और समता की कल्पना : सांस्कृतिक जीवन में सब का भाग लेना

अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं से ही, शिक्षा को यह काम करना चाहिये कि वह हर व्यक्ति के मान पर जोर दे, चाहे उस व्यक्ति का सामाजिक स्तर कैसा भी क्यों

न हो। अर्थात्, गान्धी जी ने बुनियादी शिक्षा की जो कल्पना की थी उसका विकास करना चाहिये। शिक्षा में, विशेषकर इतिहास के अध्यापन में, राष्ट्रीयतावादी प्रवृत्तियां जो एक जाति को दूसरी जाति से प्रखर मान कर चलती हैं उनको संसार भर में दबाया जाना चाहिये। इतना होने पर भी, जैसा कि एक वक्ता ने कहा, और इस में अन्य सदस्य भी किसी हद तक उनसे सहमत थे, आम जनता को अभिजातवर्गीय संस्कृति की पुरानी परम्परा से नाता जोड़ने में अवश्य ही बहुत समय लगेगा।

अनुभाग ६ एक 'नये मानवतावाद' में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था क्या योग दे सकती हैं ?

सारी सच्ची शिक्षा में मानवतावाद एक बुनियादी तत्त्व रहा है। पश्चिम में इसने अत्यधिक टेक्नालोजी के मुकाबले में एक दूसरी मान्यता प्रस्तुत की, और पूरब में जीवन के दृष्टिकोण को अनुचित रूप से अस्पष्ट और पारलौकिक होने से बचाया। पूरब और पश्चिम दोनों में शिक्षा संस्थायें और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस विषय में महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं। नये मानवतावाद के लिये जो नये गौरव ग्रन्थ चाहिये उन्हें शायद पूरब मुहय्या कर सके।

अनुभाग ६ देशभक्ति का मूल्य और राष्ट्रीयतावाद का खतरा

आक्रमक राष्ट्रीयतावाद की बुराई पर जोर देने में सब सदस्यों में सामान्य सहमति थी। परन्तु जैसा कि एक वक्ता ने कहा, मानवतावाद को भी देशभक्ति को लेकर अपनी शुरुआत करनी होगी। युवकों को पहले अपने देश को और अपनी भाषा को लेकर ही चलना होगा। हानि इससे नहीं होती कि हमें जो अपना है उस पर गर्व हो बल्कि इससे होती है कि दूसरे लोगों को हम तिरस्कार की दृष्टि से देखें।

अनुभाग ७ सहिष्णुता

सम्मेलन ने यह माना कि सहिष्णुता एक ऐसा गुण है जिसे दुनिया को अभी सीखना है। फिर भी सम्मेलन उस खतरे से भी आगाह था कि जब सहिष्णुता का उदासीनता से भेद करना कठिन हो जाये। सहिष्णुता का प्रभावी प्रकार केवल वही है जिस में दृढ़ विश्वास का पुट हो परन्तु इनायत की भावना न हो।

अनुभाग ८ : काल श्रौर शाश्वतता

इस विषय पर सदस्यो में वास्तव में मतभेद था, श्रौर वे किसी ऐसी श्रवस्था पर नही पहुँचे जिस से कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता। पश्चिम के विचारक काल को सत्य मानते हैं, श्रौर इतिहास के श्रध्ययन को मौलिक महत्व देते हैं। पूरब के विचारको में सब तो नही परन्तु कुछ काल को असत्य मानते हैं, श्रौर इसलिये इतिहास को कोई महत्व नही देते। पर यह बात इसलाम पर लागू नही होती, श्रौर इसलाम ने कई नामी इतिहासकार पैदा किये है।

अनुभाग १० : मानवश्रम के दर्शन का महत्त्व

एक वक्ता ने कहा कि मशीनी यत्रो के कारण श्रब मनुष्य के जीवन में काम के प्रति वह आदर का भाव नही रहा जो पहले था। इसलिये श्राज दार्शनिको का पहला काम यह हो जाना चाहिये कि वे काम के सम्बन्ध में फिर से एक नैतिक धारणा को खोजें (देखो श्री वेंगुएँ के लेख में काम-सम्बन्धी श्रनुभाग)। सदस्य इस विषय पर वक्ता से सहमत थे।

अनुभाग ११ . सम्पूर्ण मानव की शिक्षा श्रौर विशेषज्ञ की सिखलाई

एक पूरी श्रौर बहुमुखी बहस के बाद सम्मेलन इस बात पर एकमत हुआ कि जहाँ वर्तमान ससार में विशेषज्ञो की पहले से भी श्रधिक श्रावश्यकता है वहाँ यह भी सच है कि विशेषज्ञो की सिखलाई को बहुधा शिक्षा कह ही नही सकते। विशेषज्ञो श्रौर श्रविशेषज्ञो, दोनो को ही मानवतावादी शास्त्र श्रवश्य ही पढने चाहियें, श्रौर यह मनुष्यों की हैसियत से उन की शिक्षा का एक भाग होना चाहियें। विज्ञान के वर्तमान विद्यार्थियो को तो विशेष रूप से लेक्चरो श्रौर कक्षाश्रो में दर्शन की शिक्षा दी जानी चाहियें श्रौर श्रच्छा यह हो कि इस शिक्षा को लेकर कोई परीक्षायें न रखी जायें। दार्शनिक श्रवश्य ही वैज्ञानिक से बहुत कुछ सीख सकता है, परन्तु दूसरी श्रोर वह वैज्ञानिक को विज्ञान की कुछ कमिया भी दिखा सकता है।

ऊपर जिन मतो का विवरण दिया गया है वह सम्मेलन के कुछ ऐसे निष्कर्षों को दर्शाते हैं जिनका पूरब पश्चिम के भेदो से कोई वास्ता नही है। इस खास विषय को लेकर सम्मेलन में सामान्य रूप से सहमति थी कि :

१. प्रचलित विचारधारा में इस भेद पर श्रनुचित रूप से जोर दिया जाता है।

२. पूरब श्रौर भारत कदापि पर्यायवाची नही है।

३ कुछ भेद जो भूगोल, जलवायु आदि के कारणों पैदा होते हैं, सदा रहेंगे ही, और उन को बदला नहीं जा सकता।

४. फिर भी पूरब और पश्चिम के लोगों की जो अपने अपने सामान्य दृष्टिकोण हैं, वह एक क्रमिक विकास का फल है, और समय के साथ साथ उनको सांस्कृतिक सम्पर्कों द्वारा बदला भी जा सकता है।

५ इस प्रकार के सम्पर्क अब इतने बड़े पैमाने पर सम्भव हैं, जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, और हर मुमकिन तरीके से उनको प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये।

६ इस विचार से हमें आशा मिलती है कि युद्ध और विश्व संघर्ष सभ्यता के उन भेदों से पैदा नहीं हुए हैं जिन्हें हम पूरब और पश्चिम के भेद कह सकते हैं, अपितु वे एक ही सभ्यता में कुछ असभ्य और कट्टर अल्पसंख्यकों के कारण हुए हैं। ऐसे असभ्य अल्पसंख्यकों का अस्तित्व शिक्षा के द्वारा मिटाया जा सकता है, और इस काम में पूरब और पश्चिम एक दूसरे को सहयोग दे सकते हैं।

सिफारिशें

पूरब और पश्चिम के संपर्क को प्रोत्साहन दिया जाये, और वह इस तरह कि पूर्वी और पश्चिमी दोनों केन्द्रों में सम्मेलनों का एक सिलसिला चलाया जाये, जिन में दर्शन, विज्ञान, कला और शिक्षा का प्रतिनिधित्व करने वाले दल आयें।

पूरब और पश्चिम दोनों में स्कूलों और यूनिवर्सिटियों के लिये उपयुक्त पुस्तकें तैयार की जायें, जिनमें पैगम्बरों और धार्मिक और दार्शनिक विचारों के नेताओं के उपदेशों का विवरण हो। इस सम्बन्ध में सम्मेलन को यह देख कर संतोष हुआ कि कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने, विशेष कर ब्रिटेन ने यह प्रयास किया है कि संसार भर के नैतिक, दर्शन विषयक और धार्मिक गौरव ग्रन्थों का अध्ययन किया जाये। (अध्यक्ष के सौजन्य से इस विषय पर जो दस्तावेज था उसे सब सदस्यों के पास भेज दिया गया था)।

पूरब के गौरव ग्रन्थों का पश्चिम में आजकल की अपेक्षा और अधिक प्रचार होना चाहिये, और इस उद्देश्य से यूनेस्को को एक समिति बिठानी चाहिये जो इन 'गौरव ग्रन्थों' को चुनेगी और उनके प्रकाशन का पर्यवेक्षण करेगी।

सब स्तरों पर विज्ञान के अध्यापन का दर्शन के अध्यापन के साथ अधिक निकट सम्बन्ध होना चाहिये।

शिक्षा में विशेषकर उसकी प्रारम्भिक अवस्थाओं में, बच्चों की कल्पना शक्ति और सौन्दर्यबोध के विकास के लिये अधिक गुंजाइश होनी चाहिये।

स्कूलों में जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसको राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण से हटाना चाहिये और इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का पर्यवेक्षण संयुक्त समितियों द्वारा होना चाहिये जिन में विभिन्न राष्ट्रिक समुदायों के प्रतिनिधि हों।

शिक्षा के क्षेत्र में जो काम यूनेस्को कर रहा है, जैसे शिक्षा के विभिन्न राष्ट्रीय प्रकारों के बारे में सूचना मुहय्या करना, और उस विषय पर सलाह देने के लिये विशेषज्ञों का एक पैनल बनाना, उसको और अधिक प्रोत्साहन दिया जाये।

गोष्ठी के औपचारिक प्रारंभिक अधिवेशन में प्रवचन

भारत सरकार के शिक्षा मंत्री परमश्रेष्ठ मौलाना अबुलकलाम आजाद का अध्यक्ष पद से भाषण

दोस्तो,[1]

भारत सरकार की ओर से, और अपनी ओर से मैं आप सब का इस गोष्ठी में सहर्ष स्वागत करता हूँ।

जब से यूनेस्को की स्थापना हुई है तभी से वह सेमीनार, चर्चा मण्डलियाँ, और गोष्ठीयों का आयोजन करता चला आ रहा है। इन सब का उद्देश्य यह रहा है कि उन अनेक समस्याओं पर विचार किया जाये जिनका राष्ट्रों और देशो के परस्पर सम्बन्धो पर प्रभाव पडता है, तथा विभिन्न क्षेत्रो में ज्ञान और अनुभव के आदान प्रदान के द्वारा एक दूसरे को और अच्छी तरह समझा जा सके। इस गोष्ठी का सम्बन्ध एक इससे भी अधिक मौलिक विषय के साथ है। आज इसमें पूरब और पच्छिम के दार्शनिक स्वय मनुष्य की कल्पना पर विचार करने के लिये इकट्ठे हुए है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि यह विषय आज के युग का एक मौलिक विषय है और इसके सन्तोषजनक समाधान पर ही मनुष्य के भविष्य का दारोमदार है। इसलिये मुझे आज आप सब का इस दार्शनिको और ऋषियो की भूमि में स्वागत करते हुए विशेष हर्ष हो रहा है, मुझे पक्की आशा है, कि जिस भारत में बुद्धिमानी और आध्यात्मिकता की एक दीर्घ परम्परा है, उसी भारत की आत्मा आप के विचार विमर्श को प्रेरणा देगी।

१

पिछले छ हजार वर्षो में या उससे कुछ अधिक ही, मानव जाति अपने आदि समाज की प्रारंभिक अवस्था से बढ कर एक बहुत बडा फासला तय कर चुकी है। इस अवधि में मनुष्य ने अनेक बाधाओ पर विजय पाई है जो उसके मार्ग में छिपी पडी थी, तथा जड प्रकृति और चेतन जगत की चुनौती को स्वीकार किया है। इस अवधि में जो भी उतार चढाव-मनुष्य को देखने पडे है, उन सब के बावजूद, सामान्य रूप से देखते हुए हम यह कह सकते है कि प्रकृति के कुछ बडे से बडे रहस्यो का उद्घाटन करने में मनुष्य ने निरन्तर और अविचल प्रगति की है। प्रकृति के अवगुंठित मुख पर से मानो एक के बाद एक परदे ले लिये गये है। और जो

[1] यह भाषण हिन्दी में दिया गया था।

रहस्य अब तक अज्ञात हैं, वह भी मानव की खोज से धीरे-धीरे खुलते जा रहे हैं।

परन्तु जहाँ प्रकृति के मुख से परदा हटाने में मनुष्य ने निरन्तर और अविचल गति से विजयी प्रयास किया है, वहाँ क्या हम उसी विश्वास से यह भी कह सकते हैं कि स्वयं अपनी आत्मा से आवरण हटाने में भी वह सफल हुआ है। क्या हम यह भी कह सकते हैं कि इन हजार वर्षों की वास्तविकता की इस खोज के बाद मनुष्य अपने को अपने असली रूप में देखता है? मेरा विचार है कि आप मुझसे सहमत होंगे कि इस विषय में हमें खेद के साथ एक तथ्य को मानना पडता है। जो दर्पण मनुष्य ने गढ़ा है उसमें संसार के तमाम पदार्थ तो झलकते हैं परन्तु मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा उसमें दिखाई नहीं देती। हमें यह मानना पड़ता है कि मनुष्य अभी अपने स्वभाव का एक स्पष्ट चित्र नहीं बना सका है। विश्व के रहस्यों को वह अपनी आत्मा के रहस्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से देख सकता है। ढाई तीन हजार वर्षों से या उससे भी अधिक, दार्शनिकों ने बार-बार पूछा है मनुष्य क्या है? वह कहाँ से आता है? और कहाँ चला जाता है? इन प्रश्नों का अभी तक अधिकांश कोई उत्तर नहीं दिया गया है। यह बात साफ है कि जब तक मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं पहचानता और यह निर्णय नहीं कर पाता विश्व की विशालता में मनुष्य का क्या स्थान है? तब तक वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्याओं का कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकाल सकता।

आप के सामने मौलिक कार्य इसी समस्या पर विचार करना है। आप लोग यहाँ इसलिये जमा हुए हैं कि पूरब और पच्छिम के विचारकों ने मनुष्यों की सकल्पना की जो परिभाषा की है उस पर विचार विमर्श करें। यहाँ शुरू में ही मैं इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि जब हम पूरब और पच्छिम की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान इन प्रदेशों की विचारधारा की कुछ विशेष बातों पर ही होता है। इस का यह अर्थ नहीं हो सकता और न है, कि इन दोनों प्रदेशों में बहुत कुछ सामान्य बातें नहीं हैं जिन पर दोनों में परस्पर सहमति है। ससार भर में मनुष्य ने तर्क और विचार के सामान्य ढंग अपनाये हैं। मानव विवेक सब जगह समान और एकरूप है। मनुष्य की भावनायें भी बहुत करके एक-सी हैं। समान परिस्थितियों में मनुष्य का व्यवहार सब जगह बहुत कुछ समान ही होता है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने आपको और ससार को देखता है वह दुनिया के अलग अलग भागों में लगभग एक सा होता है। अस्तित्व के अज्ञात रहस्यों की ओर भी उसका रुख अधिकतर एक सा ही होना है। अलिम्पस पर्वत की चोटियों को सराहना और भयातुरता से

देखते हुए यूनानियो के अन्दर वही भावनायें उठती थी, जो भारतीयो के अन्दर, जब वे हिमालय की घाटियो का चिन्तन करते थे, और सदा से ढके उसके शिखरो को निहारते थे।

परन्तु विस्तृत क्षेत्रो में समानता होने पर भी ससार के विभिन्न प्रदेशो के विचारको ने अपनी कुछ सामान्य समस्याओ को भी विभिन्न दृष्टिकोण से देखा है। और जहाँ कही यह दृष्टिकोण भिन्न नही भी है वहाँ भी उनके सामान्य हलो के विभिन्न पहलुओ पर विभिन्न मात्रा में बल देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई दो परिस्थितियाँ बिलकुल एक सी नही होती। विभिन्न प्रदेशो के लोगो के लिये सामान्य समस्याओ के अलग अलग पहलुओ पर अधिक ध्यान देना अनिवार्य है। इस प्रकार के बल भेद के कारण ही, हम किसी एक खास विचार-प्रक्रिया को किसी खास राष्ट्र या प्रदेश की विशेषता मानते हैं। मैं इस दृष्टिकोण से ही पूरब और पच्छिम के भेदो का विधिवत उल्लेख करने का प्रयत्न करूँगा। मेरे विचार में आप इस बात से सहमत होगे कि जहाँ समस्याओं के हलो का स्वरूप और उनकी रूप रेखा एक सी होती भी है वहाँ भी इन में से हलके और सूक्ष्म भेद पैदा हो जाते हैं, जिन के आधार पर हम कुछ को पूरब के और दूसरो को पच्छिम के हल कह सकते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, पूरब और पच्छिम के दार्शनिको के मतो की कई बातो में सामान्य है, परन्तु भारत, यूनान और चीन में जिन-जिन बातो पर विशेष जोर दिया जाता है उन में भिन्नता है, और यह भिन्नता अभिलिखित इतिहास के प्रारम्भ से ही हमारा ध्यान आकर्षित करती है। भारतीय दर्शन में सामान्य रूप से मनुष्य के आन्तरिक अनुभव पर जोर दिया गया है। दार्शनिको ने यहाँ मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव को समझने की चेष्टा की है, और अपने इस प्रयास में वे इन्द्रियो, बुद्धि और विवेक तक के क्षेत्रो को पार कर गये है, और मनुष्य की एक गहरे और अव्यक्त सत् के साथ तदरूपता स्थापित करने का प्रयास किया है। यूनान में दार्शनिको ने प्रधान रूप से बाह्य जगत को समझने में ही रुचि दिखाई है। उन्होने इस बाह्य जगत में मनुष्य का स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया। अत सामान्य रूप से उन का दृष्टिकोण भारत के दृष्टिकोण से अधिक बहुमुखी रहा है। इसके विपरीत चीन में दार्शनिको ने तो मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव की न बाह्य प्रकृति की चिन्ता की है, अपितु उन्होने अपना पूरा ध्यान मनुष्य के दूसरे मनुष्यो के साथ कैसे सम्बन्ध होने चाहियें इस विषय पर दिया है। दृष्टिकोणो में इन भेदो का इन प्रदेशो में से हर एक के उत्तरकालीन दर्शन विकास पर बडा गहरा प्रभाव पडा है। अत हम देखते हैं कि

रहस्य अब तक अज्ञात हैं, वह भी मानव की खोज से धीरे-धीरे खुलते जा रहे हैं।

परन्तु जहाँ प्रकृति के मुख से पर्दा हटाने में मनुष्य ने निरन्तर और अविचल गति से विजयी प्रयाण किया है, वहाँ क्या हम उसी विश्वास से यह भी कह सकते हैं कि स्वयं अपनी आत्मा से आवरण हटाने में भी वह सफल हुआ है। क्या हम यह भी कह सकते हैं कि दस हजार वर्षों की वास्तविकता की इस खोज के बाद मनुष्य अपने को अपने असली रूप में देखता है? मेरा विचार है कि आप मुझसे सहमत होंगे कि इस विषय में हमें खेद के साथ एक तथ्य को मानना पड़ता है। जो दर्पण मनुष्य ने गढ़ा है उसमें संसार के तमाम पहलू तो झलकते हैं परन्तु मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा उसमें दिखाई नहीं देती। हमें यह मानना पड़ता है कि मनुष्य अभी अपने स्वभाव का एक स्पष्ट चित्र नहीं बना सका है। विश्व के रहस्यों को वह अपनी आत्मा के रहस्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से देख सकता है। कोई तीन हजार वर्षों से या उससे भी अधिक, दार्शनिकों ने बार-बार पूछा है मनुष्य क्या है? वह कहाँ से आता है? और कहाँ चला जाता है? इन प्रश्नों का अभी तक अधिकांश कोई उत्तर नहीं दिया गया है। यह बात साफ है कि जब एक मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं पहचानता और यह निर्णय नहीं कर पाता विश्व की विशालता में मनुष्य का क्या स्थान है? तब तक यह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्याओं का कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकाल सकता।

आप के सामने मौलिक कार्य इसी समस्या पर विचार करना है। आप लोग यहाँ इसलिये जमा हुए हैं कि पूरब और पच्छिम के विचारकों ने मनुष्यों की सफलता की जो परिभाषा की है उस पर विचार विमर्श करें। यहाँ शुरू में ही मैं इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि जब हम पूरब और पच्छिम की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान इन प्रदेशों की विचारधारा की कुछ विशेष बातों पर ही होना है। इस का यह अर्थ नहीं हो सकता और न है, कि इन दोनों प्रदेशों में बहुत कुछ सामान्य बातें नहीं हैं जिन पर दोनों में परस्पर सहमति है। संसार भर में मनुष्य ने तर्क और विचार के सामान्य ढंग अपनाये हैं। मानव विवेक सब जगह समान और एकरूप है। मनुष्य की भावनायें भी बहुत करके एक-सी हैं। समान परिस्थितियों में मनुष्य का व्यवहार सब जगह बहुत कुछ समान ही होता है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने आपको और संसार को देखता है वह दुनिया के अलग अलग भागों में लगभग एक सा होता है। अस्तित्व के अज्ञात रहस्यों की ओर भी उसका रुख अधिकतर एक सा ही होता है। अलिम्पस पर्वत की चोटियों को सराहना और भयातुरता से

देखते हुए यूनानियो के अन्दर वही भावनायें उठती थी, जो भारतीयो के अन्दर, जब वे हिमालय की घाटियो का चिन्तन करते थे, और सदा से ढके उसके शिखरों को निहारते थे।

परन्तु विस्तृत क्षेत्रो में समानता होने पर भी ससार के विभिन्न प्रदेशो के विचारको ने अपनी कुछ सामान्य समस्याओ को भी विभिन्न दृष्टिकोण से देखा है। और जहाँ कही यह दृष्टिकोण भिन्न नही भी है वहाँ भी उनके सामान्य हलो के विभिन्न पहलुओ पर विभिन्न मात्रा में बल देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई दो परिस्थितियाँ बिलकुल एक सी नही होती। विभिन्न प्रदेशो मे लोगो के लिये सामान्य समस्याओ के अलग अलग पहलुओ पर अधिक ध्यान देना अनिवार्य है। इस प्रकार के बल-भेद के कारण ही, हम किसी एक खास विचार-प्रक्रिया को किसी खास राष्ट्र या प्रदेश की विशेषता मानते हैं। मैं इस दृष्टिकोण से ही पूरब और पच्छिम के भेदो का विधिवत उल्लेख करने का प्रयत्न करूँगा। मेरे विचार में आप इस बात से सहमत होंगे कि जहाँ समस्याओ के हलो का स्वरूप और उनकी रूप रेखा एक सी होती भी है वहाँ भी इन में से हलके और सूक्ष्म भेद पैदा हो जाते हैं, जिन के आधार पर हम कुछ को पूरब के और दूसरो को पच्छिम के हल कह सकते है।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, पूरब और पच्छिम के दार्शनिको के मतो की कई बातो में सामान्य है, परन्तु भारत, यूनान और चीन में जिन-जिन बातो पर विशेष जोर दिया जाता है उन मे भिन्नता है, और यह भिन्नता अभिलिखित इतिहास के प्रारम्भ से ही हमारा ध्यान आकर्षित करती है। भारतीय दर्शन में सामान्य रूप से मनुष्य के आन्तरिक अनुभव पर जोर दिया गया है। दार्शनिको ने यहाँ मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव को समझने की चेष्टा की है, और अपने इस प्रयास में वे इन्द्रियो, बुद्धि और विवेक तक के क्षेत्रो को पार कर गये है, और मनुष्य की एक गहरे और अव्यक्त सत् के साथ तदरूपता स्थापित करने का प्रयास किया है। यूनान में दार्शनिको ने प्रधान रूप से बाह्य जगत को समझने में ही रुचि दिखाई है। उन्होने इस बाह्य जगत में मनुष्य का स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया। अत सामान्य रूप से उन का दृष्टिकोण भारत के दृष्टिकोण से अधिक बहुमुखी रहा है। इसके विपरीत चीन में दार्शनिकों ने तो मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव की न बाह्य प्रकृति की चिन्ता की है, अपितु उन्होने अपना पूरा ध्यान मनुष्य के दूसरे मनुष्यो के साथ कैसे सम्बन्ध होने चाहिये इस विषय पर दिया है। दृष्टिकोणो में इन भेदो का इन प्रदेशो में से हर एक के उत्तरकालीन दर्शन विकास पर बडा गहरा प्रभाव पडा है। अत. हम देखते हैं कि

इन तीनों प्रदेशों की धरती यानी मनुष्य की सभ्यताओं में बड़े नुमायाँ अन्तर है।

यूनानियों ने मनुष्य की समस्या पर एक खास दृष्टिकोण से विचार किया। इसलिये हम देखते हैं कि प्राचीनतम समय से ही यूनानी दर्शन ने इस बात पर बहुत अधिक ध्यान दिया है कि मनुष्य क्या करता है; बनिस्बत इसके कि वह है क्या ? यह ठीक है कि कुछ प्रारंभिक यूनानी दार्शनिकों के विचार में मनुष्य सार रूप से एक आध्यात्मिक तत्त्व है, और हम देखते हैं कि लगभग प्लेटो के समय तक इसी विचारधारा का प्राधान्य था। परन्तु अरस्तू के आने पर यूनानी विचारधारा ने एक नई दिशा पकड़ी, जिस में दार्शनिकों का ध्यान मनुष्य की कल्पना से हट कर संसार में उसके नानानीत कृत्यों की ओर चला गया। अरस्तू ने मनुष्यों को एक विवेक प्रधान जीव माना है। उसके इस प्रभाव के अधीन यूनानी दर्शन अधिक विश्लेषणात्मक हो गया। होते होते यह विश्लेषणात्मक, प्रयोगात्मक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पश्चिम की विचारधारा का एक प्रधान अंग बन गया। विवेकात्मकता ही मनुष्य को जानवरों से अलग करती है, और इस विवेकात्मकता के प्रयोग से ही मनुष्य जिस पशु-रूप में पैदा हुआ था, उससे इतना आगे बढ़ आया है। फिर भी वह सार रूप से और मूल रूप से अभी तक एक प्रगतिशील पशु ही बना रहा है। इस विचार को जितने सुन्दर ढंग से एक जर्मन दार्शनिक रीहल ने रखा है, उतना शायद ही किसी और ने रखा हो। जहाँ वह यह मानते हैं कि मनुष्य जानवर से पैदा हुआ वहां वह यह भी कहते हैं कि अब मनुष्य उस अवस्था पर पहुँच गया है जहाँ उसे अपने से नीचे की ओर नहीं बल्कि अपने से ऊपर की ओर देखना चाहिये। केवल वही एक ऐसा पशु है जो सीधा खड़ा हो सकता है, और आगे भी इस प्रकार तभी सीधा खड़ा रह सकता है जब उसकी दृष्टि ऊपर की ओर हो। यदि उसे अपना वर्तमान पद बनाये रखना है तो उसे ईश्वर को अपना ध्येय बनाकर उस की प्राप्ति के लिये प्रयास करना चाहिये।

यह ठीक है कि ईसाई धर्म का प्रभाव, और प्लेटो की परम्परा का बराबर बना रहना, यूरोप की विचारधारा के बड़े शक्तिशाली तत्त्व रहे हैं। इसीलिये हम देखते हैं कि मध्यम युग में वहाँ के पण्डित कभी कभी दार्शनिक होने की अपेक्षा धर्मशास्त्री अधिक होते थे। आधुनिक युग में भी यूरोप की विचारधारा में धार्मिक आदर्शवाद काफी मात्रा में पाया जाता है। परन्तु आधुनिक युग के प्रारम्भ से यह आदर्शवाद विज्ञान की सफलताओं से अभिभूत एक दार्शनिक दृष्टिकोण के आगे बराबर पीछे हटता चला गया है। विज्ञान की विजय यात्रा सतरहवीं शती में शुरू हुई, और इसने प्रकृति के ऊपर मनुष्य के प्रभुत्व को बढ़ा दिया। विज्ञान की सफलता ने पश्चिम वालों की बुद्धि को चकाचौंध कर दिया

है और विज्ञान की अचूक प्रभाविता में एक श्रद्धा पैदा कर दी। पश्चिम ने विज्ञान की संकल्पनाओं को और उसके तरीको को मानव अनुभव के तमाम क्षेत्रों में लगाना शुरू कर दिया, और मनुष्य को भी दूसरे पदार्थों के बीच एक पदार्थ समझने लगा। होते होते एक भौतिकवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पश्चिम में सर्वत्र फैल गया। उन्नीसवी और बीसवी शती में जाकर तो यह प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँची। डार्विन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मनुष्य जानवरों से पैदा हुआ है, और मार्क्स ने यह तर्क रखा कि उसकी मानसिक अवस्था बहुत कुछ उसके भौतिक माहौल से ही बनती है। बीसवी शती में फ्रायड इससे एक कदम और आगे बढा और उसने यह सिखाया कि मनुष्य केवल जानवरो से पैदा ही नही हुआ है बल्कि उस की मानसिक अवस्था में आज तक उसके पशुजन्म के लेश पाये जाते हैं।

मनुष्य की इस सकल्पना के विपरीत कि वह एक प्रगतिशील पशु है, पूरब में हमें मनुष्य की एक नितान्त भिन्न सकल्पना पाते हैं। बिलकुल प्रारम्भ से ही पूरब मे मनुष्य की अन्तर्निहित अध्यात्मिकता पर जोर दिया गया है। मनुष्य के आन्तरिक सत के चिन्तन से भारत में वेदान्त दर्शन की, और अरब में सूफीमत की उत्पत्ति हुई। मानव की अध्यात्मिक सकल्पना का समस्त पूरब में मनुष्यो की मानसिक अवस्था पर बडा गहरा प्रभाव पड़ा है, और पश्चिम में भी यह बिलकुल अज्ञात नहीं है। इस दृष्टिकोण के अनुसार हम मनुष्य के सारभूत तत्त्व को नही समझ सकते यदि हम उसे केवल एक भौतिक पदार्थ ही मानते रहें। मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को तभी समझा जा सकता है जब हम ईश्वर की निःसृति के रूप में उस की कल्पना करें। पूरबी दर्शन में ईश्वर की सर्वव्यापकता का तत्त्व बडा प्रबल है। भारतीय दर्शन की सभी पद्धतियो में समस्त वस्तुओ को ईश्वर के अस्तित्व की अभिव्यक्तियां माना जाता है, फिर भी मनुष्य जाति का अपना एक विशेष वर्ग है, क्योंकि वह ईश्वर के अस्तित्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। गीता के शब्दों में (xi · 18).

> तुम जानने के योग्य अक्षर ब्रह्म अपरपार हो,
> जगदीश ! सारे विश्वमण्डल के तुम्ही आधार हो।
> अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान हो,
> मेरी समझ में तुम सनातन पुरुष हे भगवान हो।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि सुफियो के मत में मनुष्य ईश्वर रूपी अनन्त सागर की एक तरंग है, ईश्वर रूपी सूर्य की एक किरण है। मनुष्य तभी तक अपने आपको उस शाश्वत ब्रह्म से अलग मान सकता है जब तक उस की आखो पर अज्ञान

की बुराई का परदा पड़ा हुआ है। एक बार जब उसके ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं, तो सब भेद मिट जाते हैं और मनुष्य अपने आपको शाश्वत अस्तित्व में एक क्षण के रूप में पहचान लेता है।

पूरब ने मनुष्य की जो संकल्पना बनाई है उस के अनुसार मनुष्य इस पृथ्वी के जन्तुओं में केवल एक श्रेष्ठ जन्तु ही नहीं है, बल्कि उसका स्वभाव सारम्पेण भिन्न है। मनुष्य केवल अपने से तुल्य जीवों में सर्व प्रथम ही नहीं है परन्तु उसका एक अपना अलग अस्तित्व है जो तमाम दूसरे जीवों से ऊँचा है। वह केवल एक प्रगतिशील जानवर ही नहीं है, अपितु उसके अस्तित्व में स्वयं ईश्वर का अंश है। वास्तव में उसका स्वरूप इतना ऊँचा और उत्कृष्ट है कि मानव विवेक उससे ऊँची कल्पना कर ही नहीं सकता। छान्दोग्य उपनिषद के शब्दों में (9 4):

'वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तू है।'

इसी सिद्धान्त को अरबी में भी बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है

'जो अपने को जानता है वही ईश्वर का जानता है।'

यही सिद्धान्त अब और आगे विकसित होता है तो इससे इस विचार की उत्पत्ति होती है कि मनुष्य कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका शेष जगत से कोई सम्पर्क न हो अपितु उसके अन्दर तो समस्त ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। गीता के शब्दों में (xı 7)

इस देह में एकत्र सारा जग चराचर देख ले।
जो और चाहे देखना इस में बराबर देख ले॥

एक सूफी कवि ने इसी भाव को अरबी में यूं कहा है

तू सोचता है कि तू एक छोटा सा शरीर है
तू नहीं जानता कि भौतिक जगत से भी विशाल
ब्रह्माण्ड तेरे अन्दर है।

यह तो फौरन मान ही लिया जायेगा कि इससे ऊँची मनुष्य की सकल्पना हो ही नहीं सकती। ईश्वर मानवी चिन्ता की परम सीमा है। मनुष्य का ईश्वर से तादात्म्य करके पूरब की इस मनुष्य की सकल्पना ने उसे ईश्वरत्व के पद तक पहुँचा दिया है। इसलिये मनुष्य का कोई और ध्येय नहीं है सिवाय इसके कि वह ईश्वर के साथ अपना तादात्म्य फिर से स्थापित कर ले। इस प्रकार मनुष्य समस्त सृष्टि से श्रेष्ठ हो जाता है।

२

अब तक हमने मनुष्य की सकल्पना पर पूरब और पश्चिम के दार्शनिक सिद्धान्तो के दृष्टिकोण से विचार किया है। अब हम सक्षेप में यह देखना चाहते हैं कि धर्म इस विषय पर क्या कहता है। यदि हम जूडाइज्म और ईसाईमत के रुख पर विचार करें तो हम देखते हैं कि 'ओल्ड टेस्टामेंट' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने रूप में बनाया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य ईश्वर के गुणो का भी भागी है। अत ईसाई मत में अध्यात्मिक रहस्यवाद का एक प्रबल तत्व रहा है, और इस तत्व ने अत्यधिक भौतिकवादी प्रवृत्तियों को प्रधानता पाने से रोके रखा है।

इस्लाम में भी हम इसी दृष्टिकोण के प्रभाव के सकेत पाते हैं। वास्तव में मनुष्य के उत्कर्ष में कुरान एक कदम और आगे बढ गई है। उसके अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को केवल अपने रूप में पैदा ही नही किया है, बल्कि उसे पृथ्वी पर अपना प्रतिराज बना कर भेजा है। आदम की सृष्टि की चर्चा करते हुए ईश्वर कहता है (कुरान 2 29)

'मैं पृथ्वी पर अपने प्रतिराज की सृष्टि करना चाहता हूँ।'

मनुष्य के ईश्वर का प्रतिराज होने की कल्पना का अरब दार्शनिको पर बडा गहरा प्रभाव पडा। इस सम्बन्ध में दो बातो पर ध्यान देना चाहिये। पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिराज होने से उसका ईश्वर से नाता फौरन स्थापित हो जाता है। इससे वह समस्त सृष्टि से श्रेष्ठ भी हो जाता है, और केवल जीवो का ही नही बल्कि स्वय प्रकृति की शक्तियो का स्वामी बन जाता है। कुरान ने बार बार घोषणा की है कि (xiii, 45)

'इस पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग में जो कुछ भी है वह सब मनुष्य के अधीन कर दिया गया है।'

सामान्य रूप से यह मान लिया जाता है कि अरब दार्शनिको पर अरस्तू का गहरा प्रभाव पडा है। परन्तु अरस्तू के सिद्धान्तो की व्याख्या करने में भी अरब दार्शनिको के ऊपर मनुष्य की प्रतिराजता के विचार का प्रभाव साफ झलकता है। इब्न सिना और इब्न रुश्द तत्व-मीमासा की दृष्टि से तो अरस्तूवादी कहे जा सकते हैं, परन्तु उन की अध्यात्म शिक्षा इस्लाम के सिद्धान्तो के अनुसार हुई थी, इसलिये वह यह भी समझाते हैं कि चूकि मनुष्य ईश्वर के गुणो का भागी है, अत अपने ज्ञान और अपनी शक्ति को वह जहाँ तक बढा सकता है उसकी कोई सीमा नही है। अलगज्जाली, अर रजी, अररुमी आदि मुसलिम विद्वानो ने अपनी अपनी दार्शनिक कृतियो में इस विचार को और भी आगे बढाया है।

परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि जहां वेदान्त और सूफीमत दोनों मनुष्य को एक बहुत ऊंचा पद देते हैं, वहां इन दोनों में से कोई भी इस आरोप से मुक्त नहीं हो सकता कि यदि एक ओर वे मानव क्षमता को असीम ठहराते हैं तो दूसरी ओर उन के सिद्धान्तों में भाग्यवाद का पुट निहित है, जो मनुष्य की शक्ति को सीमित करता है। इस विरोधाभास का समाधान उस सकल्पना द्वारा होता है जो इन दोनों ने मनुष्यों और ईश्वर के सम्बन्ध के बारे में की है। चूंकि मनुष्य ईश्वरत्व की निःसृति है, अत जो कुछ मनुष्य करता वह अन्ततोगत्वा ईश्वर की करनी होती है। जो कुछ होता है वह ईश्वर की इच्छा से होता है। इस स्थिति से केवल एक कदम आगे बढ़कर हम यह विचार कर सकते हैं कि मनुष्य भाग्य के हाथों में केवल एक खिलौना है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि जहां वेदान्त और सूफीमत की सकल्पनायें अपने विशुद्ध रूप में, मनुष्य की कुछ उच्चतम अत्याधिक उन्नति का कारण बनी हैं, वहां सासारिक स्तर पर कुछ हद तक वे मानव प्रगति में बाधा भी सिद्ध हुई हैं। मनुष्य के ईश्वर के साथ ऐक्य पर जोर देने से समाज में मानव दुखों की अपेक्षाकृत कम अनुभूति होती है क्योंकि दुख को केवल माया माना जाता है। इसलिये हम देखते हैं कि पूरबी देशों के मानव समाज बहुधा सामाजिक रोगों के कारणों को हटाने में कुछ उदासीन रहे हैं। यही कारण है कि कुछ आधुनिक विचारक इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि वेदान्त दर्शन का इस प्रकार निरूपण किया जाये कि उस में से भाग्यवाद का पुट निकल जाये।

पच्छिम में जो मनुष्य की सकल्पना की गई है उसमें भी इसी प्रकार का विरोधाभास है। भौतिकवादी दर्शन के प्रथम परिचय से तो यही अपेक्षा होती है कि उसमे जीवन के प्रति एक निश्चयवादी दृष्टिकाण की ओर सकेत मिलेगा। समस्त भौतिक जगत में कार्य कारण के जिस नियम का राज है वही नियम मानव चेष्टाओं के क्षेत्र में भी लागू होना चाहिये। इस प्रवत्ति की पराकाष्ठा व्यवहारवादियों के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों में होती है। परन्तु पच्छिमी विचारकों ने इस प्रकार की निश्चयवादी सकल्पना का विरोध किया, और एक ऐसी अध्यात्मिक ऊर्जा का आभास दिया जिसकी बराबरी विरले ही कहीं हुई हो, और जिस से बढ़ कर तो इस प्रकार की ऊर्जा शायद कभी दिखाई ही नहीं दी।

प्रस्तुत गोष्ठी के मुख्य कार्यों में से एक यह होना चाहिये कि वह इस बात पर विचार करे कि इन दोनों सकल्पनाओं को, जिन्होंने पूरब और पच्छिम के दर्शन और धार्मिक दृष्टिकोण पर इतना गहरा प्रभाव डाला है, किस तरह मिलाया जा सकता है। यदि मनुष्य के उच्च पद की पूरबी सकल्पना को पच्छिम की प्रगति

की संकल्पना के साथ जोड़ दिया जाये तो मनुष्य के लिये अनन्त प्रगति का एक ऐसा मार्ग खुला जायगा जिसमें विज्ञान के दुरुपयोग का निहित जोखिम न होगा। इसीसे हमें उस भाग्यवाद से भी मुक्ति पाने का उपाय मिल सकता है जो मनुष्य और ईश्वर के तादात्म्य की पूरबी संकल्पना का एक अवश्यभावी परिणाम प्रतीत होता है। मनुष्य के उच्च पद की पूरबी संकल्पना पश्चिम के विज्ञान की प्रगति से नितांत संगत हो नहीं है, अपितु वह इस बात को सुबोध रूप से स्पष्ट भी कर देती है कि वैज्ञानिक प्रगति किस प्रकार सम्भव हो सकती है। यदि मनुष्य केवल एक विकास प्राप्त पशु ही है तो उसकी उन्नति की कोई न कोई सीमा होनी चाहिये। परन्तु यदि वह ईश्वर की अनन्तता का भागी है तो उस की प्रगति की कोई सीमा नहीं हो सकती, और तब विज्ञान विजय पर विजय पाता हुआ आगे बढ़ता चला जा सकता है और अनेक पहेलियों के हल खोज सकता है जो आज भी मनुष्य को तंग करती है।

एक और भी कारण है जिससे मनुष्य की संकल्पना के पूरबी और पश्चिमी रूपों का संश्लेषण मनुष्य के भविष्य के लिये अत्यधिक महत्व का है। विज्ञान स्वयं निष्पक्ष है। उसके आविष्कार वरदान और शाप दोनों हो सकते हैं। यह उनका प्रयोग करने वाले पर निर्भर है कि विज्ञान को इस धरा पर एक नया स्वर्ग बसाने के काम में लाये, या संसार भर को विनाश की एक भयंकर आग में झोंक दे। अगर हम मनुष्य को केवल एक प्रगतिशील पशु ही मानते रहे तो कोई चीज भी उसे इस बात से रोकने वाली नहीं है, कि वह विज्ञान को अपने ऐसे स्वार्थों की पूर्ति में लगाये, जिनका आधार वे मनोविकार हैं जिनमें उसका अन्य पशुओं के साथ सामान्य है। परन्तु यदि हम मनुष्य को ईश्वर की निःसृति मानते हैं तो वह केवल ईश्वर के प्रयोजनों को ही बढ़ाने में विज्ञान का प्रयोग कर सकता है, अर्थात् पृथ्वी पर शान्ति और मानव मात्र के बीच सद्भावना स्थापित करना।

३

मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि पूरब और पश्चिम के देशों में मनुष्य की संकल्पनायें कई बातों में एक दूसरे के पूरक हैं। यदि एक ने मनुष्य के अस्तित्व की आक्षरिक श्रेष्ठता पर जोर दिया है तो दूसरी ने मनुष्य की उस प्रगति को प्रमुखता दी है जो उसने अब तक अपने प्रयत्नों से की है और जो वह आगे कर सकता है। यदि एक ने मनुष्य की प्रकृति के आध्यात्मिक तत्वों की ओर अधिक ध्यान दिया है तो दूसरी ने यह बताया है कि आध्यात्मिक श्रेष्ठता का भी एक

वांछित भौतिक आधार होना चाहिये। बल-भेद के इस अन्तर के रहते हुए भी अगर पूरब और पश्चिम की यह मनुष्य की सकल्पनाओं का विरोध समाप्त कर दिया जाये तो कोई कारण नहीं कि इन दोनों प्रदेशों के शिक्षा-दर्शन की भी एक अधिक विशाल शिक्षा-दर्शन का अग क्यों न बना दिया जाये, जो समस्त ससार के लिये होगा।

पूरब और पश्चिम दोनों में ही शिक्षा की प्रचलित प्रणालियों ने अनेक विरोधाभासों का जन्म दिया है। पूरब में व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है। मनुष्य केवल अपनी निष्कृति के लिये ही ज्ञानार्जन करता था। पूरब की इस विचार प्रक्रिया ने, जिसका सम्बन्ध केवल व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति के साथ ही था, सामाजिक हित और प्रगति की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत, पश्चिम में सामाजिक प्रगति की आवश्यकता को अधिक प्रमुखता दी गयी है। वास्तव में सामाजिक हित के विचार से ही कभी-कभी एक-दलवादी समाजों की उत्पत्ति हुई है जिनमें व्यक्ति दब कर रह जाता है। आज जब विज्ञान की प्रक्रियाओं से पूरब और पश्चिम एक दूसरे के निकट आ गये हैं, तो यह आवश्यक है कि व्यक्ति या समाज की ओर जो भी पक्षपात हो उसे दूर किया जाये और शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली का विकास किया जाय जो व्यक्ति और समाज दोनों के मूल्यों पर उचित ध्यान देगा।

आधुनिक ससार में शिक्षा का यही महत्व है। अनुभव से हमें यह पता चला है कि शिक्षा का व्यक्तियों के विकास पर और व्यक्तियों के द्वारा समाज के विकास पर बहुत गहरा प्रभाव पड सकता है। यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व सकलित नहीं है तो समाज में सामजस्य नहीं आ सकता। अत आधुनिक ससार में शिक्षा का काम यही है कि एक सकलित समाज में सकलित व्यक्तियों का विकास करे। पूरब और पश्चिम दोनों की सकल्पना को इस विकास में योग देना चाहिए।

अपना यह भाषण समाप्त करने से पहले मैं एक और समस्या की ओर भी आपका ध्यान दिलाना चाहूँगा। यह प्रश्न अक्सर उठा करता है कि शिक्षा साधन है या साध्य। मेरे विचार में सामान्य रूप से पश्चिम में शिक्षा को एक साधन माना गया है, जबकि पूरब में इसे साध्य माना गया है। यदि शिक्षा को हम एक साधन मानते हैं तो प्रश्न उठता है कि फिर वह साध्य क्या है। पश्चिम में बहुधा सामाजिक हित को यह साध्य माना गया है। परन्तु सामाजिक हित एक ऐसी सकल्पना है जिसके विभिन्न अर्थ लगाये जा सकते हैं। कुछ भी हो

शिक्षा को एक साधन मान लेने से शिक्षा का मूल्य कुछ घट जाता है। मेरा विचार है कि शिक्षा के बारे में पूरब की सकल्पना में शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझा गया है। शिक्षा को स्वय एक साध्य मान लेने से हमको यह बोध होता है कि ज्ञान एक परम मूल्य है। मै यह तो नही समझता कि पश्चिम का कोई भी दार्शनिक ज्ञान के महत्व से इनकार करेगा, परन्तु हम ज्ञान के मूल्य को पूरी तरह तभी समझ सकते हैं जब हम शिक्षा को स्वय एक साध्य मानें। और फिर इस मान्यता से मनुष्य की हैसीयत बढेगी। इस दृष्टिकोण से मै समझता हूँ कि हमें शिक्षा को एक साध्य के रूप में देखना चाहिये न कि किसी बाह्य हित की पूर्ति के लिये केवल एक साधन के रूप में।

४

इस सबका तात्पर्य यह है कि पूरबी सकल्पना के अनुसार मनुष्य ईश्वर की निमृति होने के नाते ईश्वर के अनन्त गुणो का भागी है, और समस्त सृष्टि पर प्रभुत्व पाने की क्षमता रखता है। पश्चिमी सकल्पना के अनुसार मनुष्य नि-सदेह एक पशु है। परन्तु भौतिक क्षेत्र म जो प्रगति वह कर सकता है उसकी कोई सीमा नही है। उसके वैज्ञानिक कारनामे सारी सृष्टि से उसकी श्रेष्ठता का एक स्पष्ट प्रमाण है, और उनके द्वारा उसने जल, थल, और आकाश पर अपना प्रभुत्व जमा लिया है। इसलिये हम कह सकते हैं कि मनुष्य के बारे में पूरब के सिद्धान्तो का जो दावा था उसे पश्चिम के लोगो ने व्यवहार में सिद्ध कर दिया है। परन्तु चूकि पश्चिम की सकल्पना ने मनुष्य के अध्यात्मिक उद्भव पर जोर नही दिया, इसलिये विज्ञान के क्षेत्र में उसकी सफलतायें स्वय उसके अस्तित्व के लिये एक खतरा बन गई हैं। अत यदि पश्चिमी विज्ञान के कारनामो का ईश्वर और मनुष्य की सजातीयता की पूरबी भावना के अधीन उपयोग किया जाये तो विज्ञान हमारे विनाश का नही बल्कि मानव समृद्धि और शान्ति तथा प्रगति की स्थापना का साधन बन सकता है।

मुझे आशा है कि पूरब और पश्चिम के दार्शनिको की यह गोष्ठी एक अध्यात्मिक सत्व के रूप में मनुष्य की सकल्पना, और अनन्त भौतिक प्रगति करने में समर्थ मनुष्य की सकल्पना के बीच विरोध को मिटाने मे सफल होगी और इस प्रकार इस धरती पर राम राज्य स्थापित करने में सहायक होगी।

परमश्रेष्ठ डा० राधाकृष्णन का प्रवचन

यदि भविष्य में इतिहासकार से कभी पूछा जायेगा कि हमारे युग का एक केन्द्रीभूत लक्षण क्या था तो वह हमारे सामाजिक और आर्थिक विप्लवों की, अथवा उन युद्धों और भीषण विनाशकारी घटनाओं की चर्चा नहीं करेगा, जिनसे हमारे अखबार रंगे रहते हैं। वरन् वह मानव जाति की बढ़ती हुई एकता की ओर संकेत करेगा। चाहे हम इसे पसन्द करें या न करें, आज हम सब की दुनिया एक हो गयी है, और यह आवश्यक हो गया है कि मानव जाति के प्रयोजन और उसकी नियति के बारे में भी सब एक सकल्पना करना सीखें। पूरब और पच्छिम के राष्ट्रों का मुख्य ध्येय आज शान्ति है। शान्ति का अर्थ केवल युद्ध का अभाव ही नहीं है। इसका अर्थ है परस्पर भाईचारे का एक प्रबल भाव पैदा करना, और एक दूसरे के विचारों और मूल्यों का भ्रातृभाव से आदर करना। जैसे जैसे मनुष्य के आन्तरिक जीवन के अर्थ का बोध बढ़ता जाता है, भौतिक भेद भावों का महत्व कम होता जाता है।

यह एक अच्छा शगुन है कि इस सम्मेलन का आयोजन यूनेस्को ने किया है जिसकी स्थापना एक विशिष्ट एजेंसी के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस उद्देश्य से की थी कि वह परस्पर सद्भाव और बौद्धिक एकता को बढ़ावा देगी। यहां हम सब पूरब और पच्छिम के प्रतिनिधि इस आशय से जमा हुए हैं कि हम सब मिल कर बौद्धिक और अध्यात्मिक स्तर पर लोगों के भेद भावों को पाटने के महान कार्य में लग जायें। हमें पच्छिम के लोगों से बहुत कुछ सीखना है, और पच्छिम के लोग भी कुछ थोड़ा बहुत हमसे सीख सकते हैं। परन्तु यह तभी संभव है जब हम विनीत भाव से और कुछ सीखने के उद्देश्य से इस काम की ओर बढ़ें।

कुछ समय पहले हमारे प्रधान मंत्री, जवाहर लाल नेहरू ने इस बात को कबूल किया था, कि वह 'पूरब और पच्छिम का एक अजीब मिश्रण सा है, जो कहीं भी अपनाया नहीं जाता, और जिसका अपना कोई घर नहीं है। हमें सीखना यह है कि हम सब जगह अपनाये जा सकें, और सभी जगह हम अपने को अपने घर में महसूस करें।

इस एकता को मानवजाति तभी पहुँच सकती है जब हम विभिन्न सभ्यताओं के आधारभूत विचारों और आदर्शों का बिल्कुल निष्पक्ष रूप से मूल्यांकन कर सकें और एक ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करें जिसमें हम मानव जीवन के विभिन्न प्रयोगों को उनके अपने-अपने उचित स्थान पर देख सकें। यह जो एक आम खयाल है कि पूरब की समस्त अध्यात्मिक और भौतिक पृष्ठभूमि, पश्चिम की पृष्ठभूमि से इतनी भिन्न है कि एक दूसरे को समझ ही नहीं सकता, यह बिल्कुल गलत है। परम मूल्यों के सम्बन्ध में इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है यद्यपि अनेक बल-भेद ऐसे अवश्य हैं जिनका बड़ा अर्थ है। मानव अनुभव की मूलभूत बातें, जो दार्शनिक विचार की सामग्री हैं, सब जगह एक सी ही हैं अर्थात् वस्तुओं की अस्थायिता, दैवयोग का खेल, राग और द्वेष, भय और ईर्ष्या की भावनायें, और पदार्थों की भ्रष्टशीलता को रोकने की चिन्ता। इन सब के बारे में न तो कोई पूरब है और न पश्चिम। दोनों ही प्रदेशों में सत् के स्वरूप, बुद्धि की सकल्पना और ज्ञान के सिद्धान्त को लेकर एक ही प्रकार के विचारों का विकास हुआ। जिन कारणों से दुनिया का नकशा दो भागों में बट गया है उनमें हमें कोई बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक भेद इतने भी गहरे दिखाई नहीं देते जितने एक ही परिवार के दो सदस्यों के बीच अथवा एक ही देश के दो नागरिकों के बीच पाये जाते हैं।

संसार शरीर से एक है परन्तु बुद्धि में बटा हुआ है। हम चाहे पूरब के हों या पश्चिम के, हम सब उन्हीं परिस्थितियों में रह रहे हैं जिसे 'समकालीन कोलाहल' कहा गया है। हमारा काम यह है कि हम ऐसे सामान्य और सतुलित व्यक्ति पैदा करें, जिनके बाह्य और आन्तरिक जीवन का विरोध मिट गया है। जब हम कठिन स्थलों पर पहुँचे, जब हमारे सामने ऐसी समस्यायें आयें जो पहाड़ सी लगती हों, तो हमें लौट कर अपने आदि सिद्धान्तों का सहारा लेना चाहिए, और विचार और जीवन के स्वीकृत मूल तत्वों का प्रश्न उठाना चाहिए।

२

आज जब पूरब-पश्चिम सम्बन्धों की चर्चा होती है तो बहुधा हमारे ध्यान में पूरबी और पश्चिमी प्रदेश, एशिया और यूरोप, नहीं होते, बल्कि यूरोप के पूरबी और पश्चिमी राजनीतिक भाग होते हैं। जब ईसाई मत यूरोप का प्रधान धर्म था तब इस मत के रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट रूप पश्चिम का प्रतिनिधान करते थे, और ग्रीक चर्च तथा रूसी आर्थोडॉक्स चर्च पूरब का। आज भी सुरक्षा परिषद के चुनावों के समय जो स्थान पूरबी यूरोप के लिए रखा गया

है उसके लिए यूनान और वाटर्लीरम दोनों लड़ते है। साम्यवादी पूरब और प्रजातन्त्रवादी पश्चिम का भेद पश्चिमी जगत के भीतर ही हुआ है।

साम्यवाद की वंशावली प्लेटो से शुरू होती है और न्यूटेस्टामेंट, वामवेल के दिनों के 'लेवलर', रिकार्डो, एडम स्मिथ, हेगल, फ़ायरबाख, मार्क्स, एंजल्स, से होती हुई लेनिन तक पहुँचती है।

साम्यवाद के कुछ विशेष लक्षण पश्चिम के विशेष लक्षण हैं।

यूनानी विचारक तार्किक श्रेणी के थे। वे विवेक की प्रमुखता पर जोर देते थे। साम्यवाद एक वैज्ञानिक प्रणाली और विश्लेषण के प्रयोग का दावा करता है। उसमें एक निश्चयात्मकता की भावना है, और अपनी अमोघता पर विश्वास है।

प्राचीन यूनान के समय से मानववाद पश्चिमी विचारधारा का एक विशेष लक्षण रहा है। यूनानी लोग सामाजिक अवस्थाओं और समाज के स्वीहन मूल तत्वों पर ही विचार करते रहे। मार्क्सवादी पृथ्वी पर एक सर्वथा दोष रहित समाज की स्थापना करना चाहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति का मजदूर वर्ग पर जो प्रभाव पड़ा और उसके फलस्वरूप मजदूरों का गुजारे लायक भी वेतन न मिलना, बच्चों और स्त्रियों का मजदूरी करना, गन्दी और घनी बस्तियों का बसना, और पारिवारिक जीवन का विनाश, आदि आदि जो बुराइयां पैदा हुई उनके विरुद्ध वे आवाज उठाते हैं। सामाजिक न्याय की दुहाई देकर वे पूंजीवादी समाज व्यवस्था की निन्दा करते हैं।

जो तर्क एक धार्मिक मत प्रचारक को अग्रधर्षी प्रचार करने की प्रेरणा देता है वह इतिहास में कोई नया नहीं है। 'तुम सारे संसार में फैल जाओ और इस दैवी सदेश का प्रत्येक प्राणी को सुनाओ'।

विरोध का नियम हमें बताता है कि दो विरुद्ध वस्तुएं एक साथ नहीं रह सकतीं। साम्यवादियों और असाम्यवादियों में जो संघर्ष है, वह उसी प्रकार का है जैसा यहूदियों और गैर यहूदियों में, यूनानियों और बर्बरों में, ईसाइयों और गैर ईसाइयों में तथा प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक सम्प्रदायों में था। विरुद्ध वस्तुओं के बीच संघर्ष का यह मत 'यह-या-यह' के सिद्धान्त पर आधारित है। यह मत संसार को दो विरोधी पक्षों में बांट देता है, जहां एक में प्रकाश और दूसरे में अन्धकार का राज माना जाता है।

जब तक हम किसी दिव्य सिद्धान्त को मानते रहेंगे, और इस सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए व्याख्याकारों का एक अधिकृत दल रहेगा तब तक विधर्मिता भी रहेगी और विधर्मिता दमन का प्रयास भी। यदि किसी सिद्धान्त को ही हम

अन्तिम और अमोघ सत्य की अभिव्यक्ति मान लें तो फिर हम मत सबधी झगडो से और उनके दमन के लिए अतिपृच्छात्मक तरीके अपनाने से बच नही सकते। ईसाई मत प्रचार के प्रारम्भिक युग में सच्चे मत की परिभाषा करने और विधर्मी मतो के विरुद्ध निर्णय देने के लिए सात धर्म सभायें की गई थी।

पश्चिम ने केवल इसी पर तो नही, परन्तु मुख्य रूप से जरूर वैज्ञानिक विवेक मानवतावाद, धार्मिक मत प्रचार और ससार को दो विरोधी पक्षो में बाट देने पर जोर दिया है। साम्यवाद इन सबको और बढा चढा कर बखानता है। कार्ल मार्क्स के उपदेशो पर अपनी पुस्तक (१९१४) मे लेनिन ने लिखा है कि कार्लमार्क्स वह प्रतिभाशाली व्यक्ति था जिसने उन्नीसवी सदी की तीन प्रमुख विचारधाराओ को जारी रखा और उन्हें सपूर्ण बनाया। यह तीन धारायें थी, शास्त्रीय जर्मन दर्शन, शास्त्रीय अग्रेजी अर्थशास्त्र, और फ्रासीसी क्रान्ति के सिद्धान्तो को लिए फ्रासीसी समाजवाद। मानव जाति के तीन सबसे अधिक उन्नतिशील देश इन तीनो विचारधाराओ का प्रतिनिधान करते हैं।

साम्यवाद का मत ही केवल पश्चिमी विचारधारा की उपज नही है, बल्कि इसका प्रचार भी उन्ही नेताओ ने किया जिनकी शिक्षा दीक्षा बर्लिन, पेरिस और जनीवा जैसी पश्चिमी राजधानियो में हुई थी। पहले विश्वयुद्ध में जर्मनी की उच्च कमान के अफसरो ने ही भावी रूस के निर्माताओ को एक रेल के डिब्बे में बिठा कर, उसे सीलबन्द कर तत्कालीन फिनलैंड के रेलवे स्टेशन पेत्रोग्राड को भेज दिया। उसके वहा पहुँचने पर ही रूस में साम्यवाद का विस्फोट हुआ[१]। इसलिये यह कुछ विचित्र सा लगता है कि साम्यवाद को अब एक पूरबी मत माना जाये, यद्यपि अब वह पूरब में भी फैल रहा है।

३

पूरबी विचारधारा का दृष्टिकोण कुछ और रहा है। उसके मुख्य लक्षण हैं, एक अदृश्य सत् में विश्वास, जिससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति होती है, आध्यात्मिक अनुभव की प्रमुखता, और दीखने में परस्पर विरुद्ध तत्वों के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयास करना एशिया के एक बडे भाग में जीवन के इसी दृष्टिकोण ने विचार और कला को स्फूर्ति दी है, और ससार के अन्य भागों को भी प्रभावित किया है।

१ ब्रिटेन के विदेश मत्रालय को यह पक्का विश्वास था कि बालशेविक जर्मन साम्राज्य के जरखरीद लोग हैं, और बालशेविक आन्दोलन 'केवल जर्मन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही चलाया गया' था।

सत् आत्मा का सारभूत तत्त्व है। मनुष्य का उद्देश्य इसी सत् के साथ मिल जाना है। 'यह मिलन केवल विवेक से ही नहीं अपितु मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व के द्वारा होता है। इसे सत् को केवल अपने विचार से ही नहीं, बल्कि अपने समस्त अस्तित्व से ग्रहण करना है। यह प्रश्न केवल विचारों के धारण करने का नहीं है, अपितु अपने आपका सम्पूर्ण परिवर्तन करने, और अपने अस्तित्व के नवीकरण करने का है। ध्यान लगाने से हम सम्पूर्ण मानव का परिवर्तन कर देते हैं, और अपने ध्येय के स्वरूप से उसको आत्मसात् कर देते हैं।

धार्मिक अनुभव एक परम दर्शन है, एक बोधात्मकता है, बन्धनों से छूट कर एक शान्त स्वातन्त्र्य में विचरण है। इस बोधात्मकता को ही हम ज्ञान कहते हैं। इसका उलट है अज्ञान, अर्थात मन और इन्द्रियां जो सकुचित सीमायें बान्ध देती हैं, उन्हीं के अन्दर बंद हो जाना। चूंकि धर्म को सत् का अनुभव माना गया है, इसलिए यहां हमारा धार्मिक मतों से इतना सम्बन्ध नहीं है जितना धार्मिक अनुभूति से, धार्मिक जीवन से। धार्मिक संघर्ष ब्रह्माण्ड सम्बन्धी सिद्धान्तों का और ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न मतों को लेकर उठते हैं। परन्तु धार्मिक अनुभव का अर्थ किन्हीं विशेष प्रस्थापनाओं में विश्वास करना नहीं है, अपितु वास्तविक मानव सम्बन्धों की जो चुनौती हमारे सामने रोज उपस्थित रहती है, उसके अनुकूल अपने समस्त व्यक्तित्व को लगा देना है। वह जीवन का, प्रेम का और बुद्धिमत्ता का एक मार्ग है। वह किन्हीं सिद्धान्तों पर निर्भर नहीं रहता। ईश्वर के रहस्य की अनुभूति से विनय पैदा होती है जो समस्त कट्टरता की शत्रु है।

उपनिषदों और बुद्ध की शिक्षा से यह बात निकलती है कि उन्होंने परिभाषा की सीमाओं का उल्लंघन करने से इनकार किया है। सत् अद्वैत है, अद्वितीय है। महात्मा बुद्ध ने बुद्धिमानी और अनुकम्पा का प्रचार किया परन्तु कभी सत् के सिद्धान्त बनाने का प्रयास नहीं किया।

'जिस ताओ का हम वर्णन कर सकते हैं वह शाश्वत ताओ नहीं है, जिस नाम की परिभाषा की जा सके वह अविकारी नाम नहीं हो सकता'।

मत आवश्यक हैं। हम जो चाहें वही धारणा नहीं बना सकते। परन्तु यह सब मत अपर्याप्त हैं, हम सत्य को शब्दों और सवल्पनाओं के घेरे में नहीं ले सकते। जिस भाषा में सत्य का वर्णन किया जाता है उस की विभिन्न लोगों की आवश्यकताओं के अनुकूल कई बोलियां हो गई हैं।

यदि मतों के अनुपालन से ही धार्मिक विश्वास को अन्तिम रूप से जांचा जायेगा तो विभिन्न मतों के अनुयायियों के बीच एक बहुत गहरी खाई पड़ जायेगी

परन्तु यदि उनके जीवन के ढग पर ध्यान दिया जाये तो पता चलता है कि धार्मिक लोग सब जगह एक समान होते हैं। यह विचार कि हमारा मत ही सत्य की अभिव्यक्ति करता है, और जो उसे नहीं मानते अथवा उसकी यथार्थता पर आपत्ति करते हैं वे विधर्मी हैं, एक खतरनाक विचार है। भारत में अनेक धर्मों का प्रचलन रहा है, और भारतीयों की भावना दूसरे धर्मों का सत्कार करने की रही है। इसी भावना के अनुसार इडियन नेशनल काग्रेस ने १९ अक्तूबर, १९५१ को एक प्रस्ताव इन शब्दो में पास किया था :

'अपने प्रादुर्भाव से ही काग्रेस का यह उद्देश्य रहा है, और उसकी स्पष्ट नीति भी रही है, कि देश में एक धर्मनिरपेक्ष लोक तत्रात्मक राष्ट्र स्थापित करे, जो सब धर्मों का आदर करेगा और किसी धर्म के साथ भेदभाव नहीं करेगा।'

'चीनी वेश में धर्म' नामकी अपनी पुस्तक में डाक्टर कार्ल लुडविग राइ-खेल्त ने कहा है 'चीनी लोग एक साथ ही कनफ्यूशस के अनुयायी भी है, ताओ को भी मानते हे और बौद्ध भी है। इस तथ्य से साफ प्रगट करने वाली केवल यही बात नहीं है कि उनके कई देवता सभी धार्मिक पद्धतियो में पाये जाते हैं, बल्कि उसके साथ यह भी है कि कुछ छोटी-छोटी जगहो में सम्मिलित मन्दिर हैं, जहा तीनो धर्मों की अपनी अपनी देव-मूर्तिया सपूर्ण मैत्री भाव के साथ स्थापित की गई हैं। चीनियो की दैनिक उपासना का सम्बन्ध तो उनके घर के पूर्वजो के लेख पट्टो से होना है परन्तु कभी कभी विशेष अवसरो पर वे किसी मन्दिर में भी जाना पसन्द करते हैं। वह मन्दिर चाहे ताओ का हो चाहे बौद्ध इससे उनके लिए कोई फर्क नहीं पडता। यदि आप उन पर जोर दें और सामान्य रूप से उनके जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में विशेष रूप से पूछताछ करें तो हो सकता है कि कई विचित्र बातें आपको सुनने को मिलें। अधिकाश आपके सामने एक ऐसी विचार पद्धति प्रस्तुत की जायेगी जिसकी शाब्दिक व्याख्या कुछ बहुत सुगठित न होगी, और जिसमें कन्फ्यूशस के ढग पर ढला हुआ प्राचीन चीनी दृष्टि-कोण बौद्ध अस्तित्व-दर्शन के साथ जुडा हुआ नजर आयेगा'।[1]

मनुष्य की यह सकल्पना अध्यात्मिकता को प्रधान तत्व मान कर उस पर जोर देती है। यह अध्यात्मिक विवेकात्मकता से बिलकुल अलग है। प्रत्येक व्यक्ति में दैवत्व की एक चिनगारी रहती है। वह सार रूप में कर्ता है क्रियमण नहीं। यदि हम ग्रहण करना चाहें, तो हम उसकी सारभूत अग्राह्यता को समझते ही नहीं। मनुष्य किसी प्राकृतिक आवश्यकता का फल नहीं है। उसके

[1] E T (1950), p 173

ऊपर तो देवत्व की छाप लगी हुई है और उसके अन्दर दैवत्व का स्थान दिया है।

इसने सिद्धान्त रूप में तो मानव के व्यक्तित्व के अनुपम मूल्य को माना है परन्तु मानव समाज की रचना में उसका व्यावहारिक अर्थ क्या होना चाहिये इसका पूरा विवेचन नहीं किया है। पूरब की अपेक्षा पश्चिम में वास्तविक सोरतान अधिक हैं। इस स्थिति से सभी अनुभूतिशील मनुष्यों को इस बात पर क्रोध आता है कि केवल जन्म और अवसरों के प्रभाव के कारण कुछ लोग तो पसीना बहाते रहें और दुःख और मुसीबतें उठाते रहें, और दूसरे लोग, जो कुछ अधिक अच्छे नहीं हैं, सुख और चैन का जीवन वितायें।

सब मनुष्यों में निहित देवत्व के कारण, कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना भी दुराचारी क्यों न हो, त्राण के अयोग्य नहीं है। संसार में इस प्रकार की कोई स्थिति नहीं है जिसमें यह कहना उचित हो कि 'तुम जो कोई भी यहां आते हो, तुम्हारे लिए अब कोई आशा नहीं है'। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा उसका अपना अंश है, उसके अस्तित्व के अभ्यन्तर का एक भाग है। कुछ के अन्दर यह एक गुप्त खजाने की तरह छिपी रहती है, और उसके ऊपर पाशविकता और हिंसा का व्यर्थ कूड़ा करकट जमा हो जाता है। परन्तु वह है जरूर, और जीवित और सक्रिय है। 'संसार में आनेवाले प्रत्येक मनुष्य को प्रकाश दिखाने वाला दीप कभी बुझ नहीं सकता। आसंग ने हमें बताया है कि हमारे अन्दर 'विपद ग्रस्तों के लिए अनुकम्पा, गुस्सैलों के लिए अनुकम्पा, लोभियों के लिए अनुकम्पा, इन्द्रियों के दासों के लिए अनुकम्पा, और उनके लिए भी अनुकम्पा होनी चाहिए जो अपनी गलती पर अड़े रहते हैं' शान्ति देव ने कहा है कि हमें 'अपने सबसे बड़े शत्रुओं का भी भला करना चाहिए।' जापानी भिक्षु होनेन ने (११३३-१२१२) हमें अमिताभ की उपासना करनी सिखाई 'ऊजड़ से ऊजड़ भी कोई ऐसा गांवड़ा नहीं है जहां चन्द्रमा की रुपहली किरणें न पहुंचती हों। इसी प्रकार कोई मनुष्य भी ऐसा नहीं है, कि यदि वह अपने विचारों के कपाट पूरे खोल दे, तो वह दिव्य सत्य को न पहचान सके और उसे अपने हृदय में न बुला सके।'

यही ईसाई मत के प्रमुख सिद्धान्त हैं, जिसका हृदय पूरब का हृदय है, और जिसकी बुद्धि—अर्थात धर्मविद्या, जिसका शरीर—अर्थात संगठन, ग्रीको-रोमन है। ईसा ने समस्त चर्चों के लिये सरल परन्तु केन्द्रीभूत नियमों पर जोर दिया है। 'तू उस प्रभु से प्रेम कर जो तेरा परमात्मा है।' 'तू अपने पड़ोसी से उसी तरह प्रेम कर जैसे अपने से।' हमें अब आवश्यकता इसकी है कि ईसा

मसीह की जो मनोवृत्ति थी उसी का हम अपने अन्दर भी विकास करें। सत्य और उसके मार्ग की प्राप्ति मनुष्य के जीवन में ही होती है। इसीलिये ईसा ने फिर कहा है 'रामराज्य तो तुम्हारे अन्दर है।' संत टामस एक्विनास कहता है, 'उन लोगो के अन्वेषण का कोई ठिकाना नही, और उनकी मूर्खता की कोई सीमा नही जो निरन्तर ईश्वर को खोजते रहते है और बहुधा ईश्वर की चाह करते है, जब कि वे स्वय ही सदा, जीवन्त ईश्वर के मन्दिर है, क्योकि उनकी आत्मा ही ईश्वर का धाम है, जहा वह सतत निवास करता है।' हम स्वय अपने इतने निकट नही है जितना ईश्वर हमारे निकट है। संत आगस्तीन का कहना है 'जब यह प्रश्न होता है कि कोई आदमी अच्छा है या नही, तो हम यह नहीं पूछते कि वह किस चीज में विश्वास करता है, या वह किस बात की आशा रखता है, बल्कि यह कि वह किस वस्तु से प्रेम करता है।' 'मेरे परमपिता के घर में बहुत से भवन है।'

ईसा मसीह हमसे अपने शत्रुओ से प्रेम करने को कहता है। शाश्वत नरक का सिद्धान्त ईसा के उपदेश की भावना से मेल नही खाता। 'हे पिता इनको क्षमा कर दे, क्योकि इन्हें पता नही कि ये क्या कर रहे है।' 'क्योकि ईश्वर अपने सूर्य को बुराई और अच्छाई दोनो पर समान रूप से भासमान करता है, और उसकी वर्षा न्यायी और अन्यायी दोनो पर होती है।' एक भजनकार कहता है 'यदि मैं ऊपर स्वर्ग में जाऊँ तो वहा तू है, यदि मैं नरक में निवास करूँ तो वहा भी तू है।' यदि हम ईश्वर को सर्वत्र नही देख सकते तो हम उसे कही भी नही देख सकते। ससार का अन्त समस्त सृष्टि के द्रव्यान्तरण, एक विश्व अवतार के साथ होता है।

अलफारबी के विचारो के सम्बन्ध में डा० वालजर कहते है 'विश्व धर्म तो एक ही है, परन्तु परम-सत्य का प्रतीक रूप में दर्शन कई प्रकार से किया जाता है, जो देश देश में और राष्ट्र राष्ट्र में भिन्न हो सकते है। उनकी भाषा अलग-अलग होती है, उनके कानून, उनके रीतिरिवाज, उनके प्रतीको और उपमाओ के प्रयोग भी भिन्न होते है। दार्शनिक बुद्धि के लिये तो एक ही सच्चा ईश्वर है, परन्तु विभिन्न धर्मों में उसके अलग अलग नाम है।

४ १

जो ससार क्रोध और घृणा से भरा है, जहा हम मानवता की एक मुस्कान के लिये, सद्भावना के एक श्वास के लिये, व्यर्थ ही खोज करते है, वहा यदि हम अपने कार्य में कुछ आशा का, कुछ उदारता का पुट लाना चाहते है, तो हमें लौट

ऊपर तो देवत्व की छाप लगी हुई है और उसके अन्दर देवत्व का स्वरूप छिपा है।

हमने सिद्धान्त रूप में तो मानव के व्यक्तित्व के अनुपम मूल्य को माना है परन्तु मानव समाज की रचना में उसका व्यवहारिक अर्थ क्या होना चाहिए इसका पूरा विवेचन नहीं किया है। पूरब की अपेक्षा पश्चिम में वास्तविक लोकतन्त्र अधिक है। इस स्थिति से सभी अनुभूतिशील मनुष्यों को इस बात पर क्रोध आता है कि केवल जन्म और अवसरों के अभाव के कारण कुछ लोग तो पसीना बहाते रहें और दुःख और मुसीबतें उठाते रहें, और दूसरे लोग, जो कुछ अधिक अर्ह नहीं है, सुख और चैन का जीवन वितायें।

सब मनुष्यों में निहित देवत्व के कारण, कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना भी दुराचारी क्यों न हो, तारण के अयोग्य नहीं है। संसार में इस प्रकार की कोई स्थिति नहीं है जिसमें यह कहना उचित हो कि 'तुम जो कोई भी यहां आते हो, तुम्हारे लिए अब कोई आशा नहीं है'। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा उसका अपना अंश है, उसके अस्तित्व के अधःस्तर का एक भाग है। दुःख के अन्दर वह एक गुप्त खजाने की तरह छिपी रहती है, और उसके ऊपर पाशविकता और हिंसा का व्यर्थ कूड़ा करकट जमा हो जाता है। परन्तु वह है जरूर, और जीवित और सक्रिय है। 'संसार में आनेवाले प्रत्येक मनुष्य को प्रकाश दिखाने वाले दीप कभी बुझ नहीं सकता। आसंग ने हमें बताया है कि हमारे अन्दर 'विपद ग्रस्तों के लिए अनुकम्पा, गुस्सैलों के लिए अनुकम्पा, क्रोधियों के लिए अनुकम्पा, इन्द्रियों के दासों के लिए अनुकम्पा, और उनके लिए भी अनुकम्पा होनी चाहिए जो अपनी गलती पर अड़े रहते हैं' शान्ति देव ने कहा है कि हमें 'अपने सबसे बड़े शत्रुओं का भी भला करना चाहिए।' जापानी शिक्षक होनेन ने (११३३-१२१२) हमें अभिताभ की उपासना करनी सिखाई 'ऊजड़ से ऊजड़ भी कोई ऐसा गांवड़ा नहीं है जहां चन्द्रमा की रुपहली किरनें न पहुँचती हों। इसी प्रकार कोई मनुष्य भी ऐसा नहीं है, कि यदि वह अपने विचारों के कपाट पूरे खोल दे, तो वह दिव्य सत्य को न पहचान सके और उसे अपने हृदय में न बुना सके।'

यही ईसाई मत के प्रमुख सिद्धान्त हैं, जिसका हृदय पूरब का हृदय है, और जिसकी बुद्धि—अर्थात धर्मविद्या, जिसका शरीर—अर्थात संगठन, ग्रीको रोमन है। ईसा ने समस्त चर्चों के लिये सरल परन्तु केन्द्रीभूत नियमों पर जोर दिया है। 'तू उस प्रभु से प्रेम कर जो तेरा परमात्मा है।' 'तू अपने पड़ोसी से उसी तरह प्रेम कर जैसे अपने से।' हमें अब आवश्यकता इसकी है कि ईसा

मसीह की जो मनोवृत्ति थी उसी का हम अपने अन्दर भी विकास करें। सत्य और उसके मार्ग की इति मनुष्य के जीवन में ही होनी है। इसीलिये ईसा ने फिर कहा है 'रामराज्य तो तुम्हारे अन्दर है।' संत टामस एक्विनास कहता है, 'उन लोगों के अन्वेषण का कोई ठिकाना नहीं, और उनकी मूर्खता की कोई सीमा नहीं जो निरन्तर ईश्वर को खोजते रहते हैं और बहुधा ईश्वर की चाह करते हैं, जब कि वे स्वयं ही सदा, जीवन्त ईश्वर के मन्दिर हैं, क्योंकि उनकी आत्मा ही ईश्वर का धाम है, जहां वह सतत निवास करता है।' हम स्वयं अपने इतने निकट नहीं हैं जितना ईश्वर हमारे निकट है। संत आगस्तीन का कहना है 'जब यह प्रश्न होता है कि कोई आदमी अच्छा है या नहीं, तो हम यह नहीं पूछते कि वह किस चीज में विश्वास करता है, या वह किस बात की आशा रखता है, बल्कि यह कि वह किस वस्तु से प्रेम करता है। 'मेरे परमपिता के घर में बहुत से भवन हैं।'

ईसा मसीह हमसे अपने शत्रुओं से प्रेम करने को कहता है। शाश्वत नरक का सिद्धान्त ईसा के उपदेश की भावना से मेल नहीं खाता। 'हे पिता इनको क्षमा कर दे, क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। 'क्योंकि ईश्वर अपने सूर्य को बुराई और अच्छाई दोनों पर समान रूप से भासमान करता है, और उसकी वर्षा न्यायी और अन्यायी दोनों पर होती है।' एक भजनकार कहता है 'यदि मैं ऊपर स्वर्ग में जाऊँ तो वहां तू है, यदि मैं नरक में निवास करूँ तो वहां भी तू है।' यदि हम ईश्वर को सर्वत्र नहीं देख सकते तो हम उसे कहीं भी नहीं देख सकते। संसार का अन्त समस्त सृष्टि के द्रव्यान्तरण, एक विश्व अवतार के साथ होता है।

अनफारवी के विचारों के सम्बन्ध में डा० वालजर कहते हैं 'विश्व धर्म तो एक ही है, परन्तु परम-सत्य का प्रतीक रूप में दर्शन कई प्रकार से किया जाता है, जो देश देश में और राष्ट्र राष्ट्र में भिन्न हो सकते हैं। उनकी भाषा अलग अलग होती है उनके कानून, उनके रीतिरिवाज उनके प्रतीकों और उपमाओं के प्रयोग भी भिन्न होते हैं। दार्शनिक बुद्धि के लिये तो एक ही सच्चा ईश्वर है, परन्तु विभिन्न धर्मों में उसके अलग अलग नाम हैं।

४

जो संसार क्रोध और घृणा से भरा है, जहां हम मानवता की एक मुस्कान के लिये, सद्भावना के एक श्वास के लिये, व्यर्थ ही खोज करते हैं वहां यदि हम अपने कार्य में कुछ आशा का, कुछ उदारता का पुट लाना चाहते हैं, तो हमें लौट

कर उस मूलभूत धर्म की ओर जाना चाहिये जो हमारी आत्मा का धर्म है, जो न पश्चिम का है और न पूरब का, बल्कि समस्त विश्व का धर्म है। 'जब तक स्वयं ईश्वर घर का निर्माण नहीं करता तब तक वे सब जो उसे बनाना चाहते हैं व्यर्थ का प्रयास करते हैं।' जब तक कि हमारी बुद्धि की प्रवृत्ति स्वच्छ नहीं है, जब तक हम जीवन में आध्यात्मिक दर्शन को नहीं अपनाते, तब तक हम किसी ऐसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकते जो चिरस्थायी होगी। हमें जीवन का पूरबी दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, जो मानव-आत्मा की दिव्यता में, तथा समस्त जीवन और अस्तित्व की एकता में श्रद्धा रखता है, और जो मानव जाति की एकता को बढ़ावा देने के लिये विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के विरोधों को सक्रिय रूप से मिटाने पर ज़ोर देता है।

मनुष्य का जो रूप वैज्ञानिक खोज का विषय है, और जिसे जाति का परम्परा, मनोविश्लेषण अथवा आर्थिक निश्चयात्मकता के द्वारा पूर्ण रूप से समझा जा सकता है, वह न तो मनुष्य का सच्चा रूप है न सम्पूर्ण रूप। मनुष्य के अन्दर आत्मा का तत्व है जो उसे अनुपम बनाता है। कोई आदमी अपने पड़ोसी की अनुलिपि नहीं होता, कोई भी केवल एक जाति का उदाहरण मात्र नहीं होता। वह एक विवेकात्मक और ऐतिहासिक जीवन से ऊपर है। वह दैवत्व का वहन है। मनुष्य की आत्मा में से उसकी शक्तियों और उसके गुणों का चतुर्मुखी विकास होता है, जैसे चक्र के अरों का अपनी नेमि की ओर जो कि उसका बाह्यरूप है। कोई भी विचार अथवा कर्म केन्द्र के जितना निकट पहुँचेगा उतनी ही उसकी तीव्रता बढ़ती जायेगी और उतनी ही अधिक उसकी विविधता का एकता में सकलन होता जायेगा। परन्तु जितना ही वह केन्द्र से दूर रहेगा उतना ही उसका विस्तार बढ़ेगा और उसका सकलन ढीला पड़ता जायेगा।

जो विरोधी तत्व दीखने में परस्पर विग्रहात्मक लगते हों, उनको भी हमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उनमें मौलिक विरोध है, बल्कि ऐसा कि यदि आवश्यकता हो तो परस्पर अदल बदल से उनके विरोधों को मिटाया जा सकता है। बुराई और गलती के प्रति दो प्रकार का व्यवहार किया जा सकता है। एक तो दृढ़ प्रतिरोध के साथ बराबर उनसे इन्कार करते जाना, उन्हें न मानना। दूसरा समझदारी का, जिससे हम गलती या बुराई करने वाले व्यक्ति के मन में घुस जाते हैं और उसे अन्दर से बदल देते हैं। शारीरिक युद्ध के समान ही मानसिक संघर्ष भी इस के प्रयोक्ता और जिसके खिलाफ इसका प्रयोग किया जाता है दोनों ही के मन को कलुषित कर देता है। पश्चिम के विचारों का

सारा इतिहास इस बात का उदाहरण है कि किसी भी अन्य सांस्कृतिक विकास के समान इसमें भी अनेक धाराओं का जल आकर मिला है। यहा तक कि जिन तथाकथित विधर्मिताओं की निन्दा की गई है और जिनका दमन किया गया है वे सब पश्चिम की दाय का एक अंग बन चुकी हैं। यद्यपि जस्टिनियन ने ऐथन्स के स्कूलों को बन्द करा दिया और नव्य-अफलातूनवाद से किसी प्रकार का भी मेल नहीं करना चाहा, फिर भी नव्य-अफलातूनवाद ईसाई विचारधारा में घर कर ही गया। संत आगस्तीन के ईश्वर और संसार के विषय में गहरे से गहरे विचार इसी नव्य-अफलातूनवाद के सांचे में ढले थे। मध्ययुग में विधर्मी और गैर-ईसाई अरस्तूवाद का ईसाई धर्म विद्या पर प्रभाव पडा। संत टामस एक्विनास ने अपनी इलहामी धर्मविद्या का निर्माण अरस्तू के सिद्धान्तों की नींव पर ही किया था। गिब्बन ने जिहादी युद्धों के इतिहास में विश्व के संघर्ष की झलक देखी। फिर भी इसलाम की आत्मा ने संसार भर की विचार-धारा को प्रभावित किया है। तीन शतियां पहले कैथलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के परस्पर विरोधी कट्टर सम्प्रदायों के विनाशकारी युद्धों को देखिये। उस समय उनके जिस संघर्ष का कोई हल नजर नहीं आता था, वह आज मिट गया है।

इस सबसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमारे शत्रु इतने बुरे नहीं हैं जितना हम उन्हें दिखाते हैं, अपने भावों के उद्रेक में दिखाते हैं। पांच साल पहले हम जर्मनों और जापानियों से घृणा करते थे। हमने शपथ ली थी कि हम उनका नाम निशान मिटा कर ही दम लेंगे। हमने उनके बच्चों तक से बोलना मना कर दिया था। परन्तु आज हम राइन नदी पर जर्मनों के संरक्षक और मित्र बन कर खड़े हैं। हमने जापान से सन्धि कर ली है। अब हम उन 'खतर-नाक' लोगों को स्वतंत्र राष्ट्रों के परिवार में लेने को और उनकी गतिशील ऊर्जा को प्रजातंत्र के निर्माण में लगाने को तैयार हैं। फर्ज करिये कि जिस अगले युद्ध के लिये हम इतनी विशाल तैयारियां कर रहे हैं उसमें हम जीत जायें, तो क्या हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि हम एक बार फिर उसी दुविधा में नहीं पड़ जायेंगे? केवल इस बार हमारे साथी बदले हुए होंगे।[1] इतिहास हमें

---

[1] हम तो यहां तक कह सकते हैं कि यदि समस्त रूस और उसके आश्रित राष्ट्रों का समस्त दल भी इसी क्षण गंभीरतम समुद्रों के नीचे भी दबा दिया जाये, तो भी कल हम फिर उसी दुविधा में होंगे, यद्यपि अवशिष्ट शक्तियों के नये दल बन जाने से उस का स्वरूप कुछ भिन्न होगा। हर्बर्ट बटर फील्ड अन्तर्राष्ट्रिय मामलों में वैज्ञानिक बनाम नैतिक दृष्टिकोण। International Affairs (अक्तूबर १९५१, पृ० ४१४)

कर उस मूलभूत धर्म की ओर जाना चाहिये जो हमारी आत्मा का धर्म है और जो न पश्चिम का है और न पूरब का, बल्कि समस्त विश्व का धर्म है। 'जब तक स्वयं ईश्वर घर का निर्माण नहीं करता तब तक वे सब जो उसे बनाना चाहते हैं व्यर्थ का प्रयास करते हैं।' जब तक कि हमारी बुद्धि की प्रवृत्ति स्वस्थ नहीं है, जब तक हम जीवन के आध्यात्मिक दर्शन को नहीं अपनाते, तब तक हम किसी ऐसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकते जो चिरस्थायी होगी। हमें जीवन का पूरबी दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, जो मानव-आत्मा की दिव्य संभावनाओं में, तथा समस्त जीवन और अस्तित्व की एकता में श्रद्धा रखता है, और जो मानव जाति की एकता को बढ़ावा देने के लिये विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के विरोधों को सक्रिय रूप से मिटाने पर ज़ोर देता है।

मनुष्य का जो रूप वैज्ञानिक खोज का विषय है, और जिसे जाति, वंश परम्परा, मनोविश्लेषण अथवा आर्थिक निश्चयात्मकता के द्वारा पूर्ण रूप में समझा जा सकता है, वह न तो मनुष्य का सच्चा रूप है न संपूर्ण रूप। मनुष्य के अन्दर आत्मा का तत्व है जो उसे अनुपम बनाता है। कोई आदमी अपने पड़ोसी की अनुलिपि नहीं होता, कोई भी केवल एक जाति का उदाहरण मात्र नहीं होता। वह एक विवेकात्मक और ऐतिहासिक जीवन से बढ़कर है। वह दैवत्व का वहन है। मनुष्य की आत्मा में से उसकी शक्तियों और उनके गुणों का चतुर्मुखी विकास होता है, जैसे चक्र के अरों का अपनी नेमि की ओर जो कि उसका बाह्यस्वरूप है। कोई भी विचार अथवा कर्म केन्द्र के जितना निकट पहुँचेगा उतनी ही उसकी तीव्रता बढ़ती जायेगी और उतनी ही अधिक उसकी विविधता का एकता में संकलन होता जायेगा। परन्तु जितना ही वह केन्द्र से दूर रहेगा उतना ही उसका विस्तार बढ़ेगा और उसका संकलन ढीला पड़ता जायेगा।

जो विरोधी तत्व दीखने में परस्पर विग्रहात्मक लगते हों, उनको भी हमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उनमें मौलिक विरोध है, बल्कि ऐसा कि यदि आवश्यकता हो तो परस्पर अदल बदल से उनके विरोधों को मिटाया जा सकता है। बुराई और गलती के प्रति दो प्रकार का व्यवहार किया जा सकता है। एक तो दृढ़ प्रतिरोध के साथ बराबर उनसे इन्कार करते जाना, उन्हें न मानना। दूसरा समझदारी का, जिससे हम गलती या बुराई करने वाले व्यक्ति के मन में घुस जाते हैं और उसे अन्दर से बदल देते हैं। शारीरिक युद्ध के समान ही मानसिक संघर्ष भी इस के प्रयोक्ता और जिसके खिलाफ इसका प्रयोग किया जाता है दोनों ही के मन को कलुषित कर देता है। पश्चिम के विचारकों

सारा इतिहास इस बात का उदाहरण है कि किसी भी अन्य सांस्कृतिक विकास के समान इसमें भी अनेक धाराओं का जल आकर मिला है। यहां तक कि जिन तथाकथित विधर्मिताओं की निन्दा की गई है और जिनका दमन किया गया है वे सब पश्चिम की दाय का एक अंग बन चुकी हैं। यद्यपि जस्टिनियन ने ऐथन्स के स्कूलों को बन्द करा दिया और नव्य-अफलातूनवाद से किसी प्रकार का भी मेल नहीं करना चाहा, फिर भी नव्य-अफलातूनवाद ईसाई विचारधारा में घर कर ही गया। संत आगस्तीन के ईश्वर और संसार के विषय में गहरे से गहरे विचार इसी नव्य-अफलातूनवाद के सांचे में ढले थे। मध्ययुग में विधर्मी और गैर-ईसाई अरस्तूवाद का ईसाई धर्म विद्या पर प्रभाव पड़ा। संत टामस एक्विनास ने अपनी इलहामी धर्मविद्या का निर्माण अरस्तू के सिद्धान्तों की नींव पर ही किया था। गिब्बन ने जिहादी युद्धों के इतिहास में विश्व के संघर्ष की झलक देखी। फिर भी इसलाम की आत्मा ने संसार भर की विचारधारा को प्रभावित किया है। तीन शतियां पहले कैथलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के परस्पर विरोधी कट्टर सम्प्रदायों के विनाशकारी युद्धों को देखिये। उस समय उनके जिस संघर्ष का कोई हल नजर नहीं आता था, वह आज मिट गया है।

इस सबसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमारे शत्रु इतने बुरे नहीं हैं जितना हम उन्हें दिखाते हैं, अपने भावों के उद्रेक में दिखाते हैं। पांच साल पहले हम जर्मनों और जापानियों से घृणा करते थे। हमने शपथ ली थी कि हम उनका नाम निशान मिटा कर ही दम लेंगे। हमने उनके बच्चों तक से बोलना मना कर दिया था। परन्तु आज हम राइन नदी पर जर्मनों के संरक्षक और मित्र बन कर खड़े हैं। हमने जापान से सन्धि कर ली है। अब हम उन 'खतरनाक' लोगों को स्वतन्त्र राष्ट्रों के परिवार में लेने को और उनकी गतिशील ऊर्जा को प्रजातंत्र के निर्माण में लगाने को तैयार हैं। फर्ज करिये कि जिस अगले युद्ध के लिये हम इतनी विशाल तैयारियां कर रहे हैं उसमें हम जीत जायें, तो क्या हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि हम एक बार फिर उसी दुविधा में नहीं पड़ जायेंगे? केवल इस बार हमारे साथी बदले हुए होंगे।[1] इतिहास हमें

---

[1] हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि यदि समस्त रूस और उसके आश्रित राष्ट्रों का समस्त दल भी इसी क्षण गभीरतम समुद्रों के नीचे भी दबा दिया जाये, तो भी कल हम फिर उसी दुविधा में होंगे, यद्यपि अवशिष्ट शक्तियों के नये दल बन जाने से उस का स्वरूप कुछ भिन्न होगा। हर्बर्ट बटर फील्ड . अन्तर्राष्ट्रिय मामलों में वैज्ञानिक बनाम नैतिक दृष्टिकोण। International Affairs (अक्तूबर १९५१, पृ० ४१४)

आग्रह करता है कि एक ओर साम्यवादी सर्व सत्ता तन्त्र प्रासाद उत्साह, और दूसरी ओर ईश्वर और मनुष्य के पक्ष में हमारे जीवन के धर्म प्राण जो गर्व है उसका अन्त भी सद्भावना और समझन की प्रक्रिया में हो सकता है। यदि हम किसी समस्या का केवल एक पक्ष ही जानते हैं तो हम उसको कभी भी ठीक ठीक नहीं जान सकते। क्या यह आवश्यक है कि हम फिर 'युद्ध गर्तों' के पुराने ढर्रे में पड़ें, जिससे मानव जाति को अच्छे और बुरों में बांट दिया जाता है। इस समय हमें उदारता के गुण की सबसे अधिक आवश्यकता है। सन्त पाल की यह उक्ति कि हम सब 'एक दूसरे के सदस्य हैं' एक नितान्त सच्ची उक्ति थी, और एक नैतिक संगठन के लिये पुकार थी। यदि हम शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें 'युद्ध-गर्तों' की तीव्र भावना को छोड़ देना पड़ेगा, जिसके कारण प्रत्येक संघर्ष में एक धार्मिक पुट आ जाता है। जब कोई युद्ध 'विचार धाराओं' का युद्ध बन जाता है तो हम उसमें विजय पाने का पक्का निश्चय कर लेते हैं, चाहे इस बीच समस्त संसार का विनाश हो जाये। जब हम किसी भूखण्ड के लिये लड़ते हैं तो अपने ध्येय की प्राप्ति के साथ ही युद्ध का अन्त हो जाता है। परन्तु जब हम 'रास्तों' के लिये लड़ते हैं तो हम अपने आप को एक विनाशकारी युद्ध के लिये समर्पण कर देते हैं। एक नये युद्ध में जो वैज्ञानिक तरीके बरते जायेंगे, वह इतने मानव रूप से सनसनाते हैं, और एक ऐसे विश्व युद्ध के आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक परिणाम ऐसे महाविनाशकारी होंगे, कि उसमें जीतने वाले के हाथ वीरान खण्डहरों और अनिवर्तनीय स्थिति के सिवा और कुछ न लगेगा। स्वस्थ बुद्धि वाला कोई भी मनुष्य ऐसी सम्भावना से ही कांप उठेगा। हमें मानव जाति को सामूहिक आत्महत्या से बचाना है।

मानव जाति एक बार फिर एक ऐसी खाई के किनारे पर खड़ी है, जिसकी थाह लेने का साहस कोई मनुष्य नहीं कर सकता। जब मनुष्य में एक नई पूर्व-दशा, एक भाग्याधीनता की भावना है, कि विशाल जन समूह धीरे-धीरे परन्तु अरोध्य गति से एक दूसरे की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं और अन्त में जा कर टकरा जायेंगे। हमें अपने विचारों में एक उचित वस्तुनिष्ठता और स्वस्थता लाने के लिये अपने सारे गुणों को समर्पण कर देना चाहिये। न तो राजनीतिक पूरब को न राजनीतिक पश्चिम को यह सोचना चाहिये कि उनको मानवता को शिक्षित करने का ईश्वरदत्त अधिकार है। युद्ध से परे बैठे हुए विचारकों की हैसियत से हमारा यह काम है कि, जब सारे सेतु टूट चुके हों, तो हम पूरब और पश्चिम के बीच ही नहीं अपितु युद्धमान दार्शनिक सिद्धान्तों के नीचे जो आत्मिक और परस्पर पूरक सच्चाइयाँ दबी हुई हैं उनके बीच भी, सेतुओं का काम दें। धर्म की आत्मा

ही लोकतंत्र का सार है। भेदों का आदर करना दोनो का ही समान लक्षण है। लोकतंत्र वहाँ काम कर सकता है जहाँ लोगों में मतभेद होता है न कि जहाँ लोग परस्पर सहमत हों।

सोवियत नेता जब दोनों पद्धतियों के सह-अस्तित्व की बात कहते हैं, तो वह अपने सिद्धान्तवाद के पीछे चले जाते हैं और एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाते हैं जो उन्हें पूरबी विचारधारा के अधिक निकट ले आता है। साम्यवादी नेताओं के समक्ष भाषण देते समय एक बार स्टालिन ने कहा था 'यदि पूंजीवाद अपने उत्पादन को अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिए नहीं, बल्कि जनसाधारण की दशा सुधारने के अनुकूल बना ले, तो कोई कलह का कारण रह ही नहीं जायेगा। परन्तु तब पूंजीवाद पूंजीवाद नहीं रहेगा।' हमें शब्दों पर नहीं झगड़ना चाहिये। पूंजीवादी देशों में प्रमुख अमरीका केवल अमरीकनों के ही नहीं अपितु सारे संसार के जन साधारण के हित को बढ़ाने का प्रयास कर रहा है। और, देशों की सामान्य तनातनी के कम होने पर बहुत सम्भव है कि स्वयं सोवियत पद्धति में मौलिक परिवर्तन हो जायें और वह एक सच्ची लोकतंत्र बन जाये जिसमें वे सब स्वतंत्रतायें होंगी जिनका रूस में आज अभाव होने पर हमें खेद होता है।

अब ग्रीक और बर्बर, यहूदी और गैर-यहूदी, ईसाई और मुसलमान, प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक, और पिछले युद्ध के मित्रराष्ट्र और धुरी-राष्ट्र सबने मिलकर रहना सीख लिया है। संसार की शान्ति और प्रगति के लिये यह कोई कम महत्त्व की बात नहीं होगी कि साम्यवादी और असाम्यवादी दोनों इस संसार में, यदि मैत्री भाव से न भी सही, तो भी उचित मात्रा में एक दूसरे के लिये स्थान रखते हुए, साथ-साथ रहना सीख लें। एक परिवार में भी, यदि पति पत्नी आपस में प्रेम न भी कर सकते हों, तो भी वे एक दूसरे के साथ रहना सीख लेते हैं। यदि हम लोगों के साथ मिलकर रह सकते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उनसे पराभूत हो जाते हैं। यदि हम में कुछ और उदारता आ जाये, तो भविष्य में जो कुछ सम्भव हो सकता है उसकी कोई सीमा नहीं है, और वह उन सब कारनामों से बढ़ जायेगा जिनको अभी तक मनुष्य जानता है।

इस विक्षुब्ध युग में विचार के नेताओं की जिम्मेदारियाँ, या यूं कहें कि उन के लिए अवसर, बहुत अधिक हैं। क्योंकि अन्त में मानव जाति के भविष्य का निर्णय वस्तुओं से नहीं बल्कि विचारों से होगा। भारतीयों ने एक प्राचीन वाक्य को अपना मकूला बनाया है, जो कहता है कि सत्य की ही सदा विजय होती है। अन्त में मनुष्य की आत्मा ही प्रभावी होगी, वह आत्मा जिसमें सद्भावना, सहनशीलता और अनुकम्पा की क्षमता है।

गोलमेज़ चर्चा में
भाग लेनेवालों के निबंध

गोलमेज़ चर्चा में
भाग लेनेवालों के निबंध

पूरब पच्छिम सम्बन्धों के कुछ पहलू

एल्बर्ट वेगुएँ

हमारी चर्चा के विषय के लिए जो प्रश्न रखा गया है वह इतना विशाल है कि उसको असाधारण ढंग से सरल बनाये बिना उस पर सामान्य रूप से कुछ कहना असम्भव है। इसलिये इस समय मैं उस समस्या के कुछ पक्षों पर ही अपनी टिप्पणी दे कर संतोष करूँगा, जिससे कि एक चर्चा चलाई जा सके।

सभ्यता की आयु

पूरब और पच्छिम में मनुष्य की जो परिभाषायें सबसे अधिक मानी जाती हैं, जब हम उनके आधार पर इन दोनों प्रदेशों के मानव की तुलना करते हैं तो हम या तो वर्तमान के या निकट अतीत के मनुष्य के मिले जुले स्वरूप पर ही ध्यान देते हैं। या हम यूं कह सकते हैं कि हम मनुष्य (अथवा सभ्यता) के उन दो प्रकारों पर ध्यान देते हैं जो या तो बीसवीं शती में विद्यमान हैं, या जो उस काल में एक दूसरे के सामने आये जिसे हम कमोबेश पुनर्जागरण के काल के साथ मिला सकते हैं (इस से पहले मध्ययुग में भी इन दोनों में अनेक सम्पर्क थे, विशेष कर अरब जाति के साथ, परन्तु यह वह काल था जब सांस्कृतिक परिवारों के भेदों का अनुमान लगाने में यथार्थता का नितान्त अभाव था, जब वहिर्जात अपरिचित वस्तुओं में रुचि बड़ी सीमित थी, और खोज के साधन बड़े अविकसित थे)। माना कि पूरब की मारक्षेप परम्परावादी मनोवृत्ति एक प्रकार की स्थैतिक अवस्था पैदा करने में सहायक होती है (जिस को पूरब तो यह मानता है कि उसी के कारण भाग्यवश कुछ मूलभूत मूल्य बच रहे हैं, परन्तु जिसे पच्छिम इस दृष्टि से देखता है कि कुछ हद तक यह गतिहीनता ही है), फिर भी यह तर्क पेश किया जा सकता है कि पूरबी जगत काल के प्रभाव से बाहर है, या कम से कम एक ऐसा जगत है जिसने अपने सामने यह आदर्श रखा है कि काल की गति से उसमें कोई विकार न आने पाये। इसके विपरीत पच्छिम वालों को दीर्घकाल से इस बात की चेतना रही है कि उनका जगत गतिमान है, और इसी कारण उनमें इस जगत के विकारों को ही प्रगति मान बैठने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब वे लोग पहली बार एशिया की सभ्यताओं के सम्पर्क में आये, तो उनके ऊपर यह असर हुआ मानो वे इन

सभ्यताओं से आगे बढ़ गये हैं, और ये सभ्यतायें अभी उस अवस्था में हैं जिन्हें वे पीछे छोड़ आये हैं।

निश्चय ही पश्चिम का यह मत सर्वमान्य नहीं है, विशेष कर जहाँ तक मूल्यों के निर्णय का सम्बन्ध है। फिर भी यह आवश्यक है कि कुछ विशेष स्थितियों में इस मत पर विचार किया जाये। उदाहरण के लिये, यह कहा जाता है कि पश्चिम विचारों का विशेष लक्षण जो कि इन को पूरब की विचार-प्रणाली से अलग करता है, दीन और दुनियाँ में, आध्यात्मिक और राजनीतिक के बीच भेद करना है। या जब यह दावा किया जाता है कि पश्चिम की मुख्य प्रवृत्ति केवल वैज्ञानिक ज्ञान, भौतिक जगत पर प्रभुत्व, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर है। यह सब पश्चिम की केवल आधुनिक सभ्यता पर (बहुत ही सीमित मात्रा में) लागू होता है। यूरोप के मध्ययुग में बाबत यही बातें कहना नितान्त हास्यास्पद होगा। पूर्वी जीवनमार्ग के वे सब लक्षण जिनको उस की विशेषता माना जाता है—अर्थात् आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रमुखता, धार्मिक तत्त्वों से दैनिक सम्पर्क, आन्तरिक जीवन और पवित्रता के आदर्श पर जोर, ये सब लक्षण मध्ययुगीन यूरोप के भी हैं।

अतः इसमें कोई अचरज की बात नहीं है कि पिछली दो शतियों के विवेकात्मक विचारकों ने इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला है कि निरपेक्ष प्रगति की दृष्टि से पश्चिम एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया है जहाँ, इतिहास के पूर्वयुग में अकड़ा हुआ पूरब अभी तक नहीं पहुँच सका है। जो लोग इस मत को मानते हैं उनके लिये यह उपकल्पना बनानी बहुत सरल है कि एशिया में लोगों का भी इसी प्रकार विकास होना आवश्यक है। उनको भी पश्चिम की तरह उसी मार्ग से और उन्हीं अवस्थाओं से जुड़ना पड़ेगा और इसलिये पश्चिम को अपने प्रभाव से उनकी सहायता करनी पड़ेगी। इस दृष्टिकोण का यूरोप के साधारण जनों पर और समुद्र पार मिशनरियों पर बड़ा गहरा प्रभाव था। और जब जैसे जापान में, टेक्नालोजी को तेजी से आत्मसात् करने के उदाहरण मिलने लगे, और जब इसके ऊपर, इस प्रक्रिया के समवाय स्वरूप एशिया में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ, तो इसको इस प्रगतिशील उपकल्पना की पुष्टि माना गया।

अपने आदि रूप में यह उपकल्पना अब मान्य नहीं है, विशेषकर इस घड़ी में जब कि एक ऐसे विकासक्रम की, जिसे अब 'प्रगति' कहते रहना कठिन हो गया है, जो कीमत हमने अदा की है वह आज समस्त युगों की सबसे बड़ी संकट स्थिति बन कर हमारे सामने आ खड़ी हुई प्रतीत होती है। पश्चिम को अब अपने

मूल्यमानों को बदलना पड रहा है और जो काम इसने अपने हाथों और अपने मस्तिष्क से किया है उस पर पुनर्विचार करना पड रहा है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अन्त करण की इस परीक्षा के लिए और जीवन में अदल बदल करने के लिये, यूरोप की सब से प्राचीन दाय को, जो कि ईसाई मध्ययुग की देन है, एक मापदण्ड के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। कुछ दूसरे लोग हैं, परन्तु अभी इनकी सख्या कम है, जो एशिया की प्रज्ञा की ओर झुकते हैं, चाहे वे इस प्रज्ञा को इसके सबसे अधिक व्यक्त स्रोतों से ग्रहण न करते हों। फिर भी बहुत काफी लोग यूरोप की ऐतिहासिक विकास की सकल्पना के प्रति इस हद तक श्रद्धा रखते हैं कि वह यह मानते हैं कि इस सारी समस्या का हल हमारे आगे, मशीनी सभ्यता को सम्पूर्ण बनाने में है न कि उसका प्रतिरोध करने में (इस प्रकार अकेले मार्क्सवादी ही भविष्य की ओर मुंह नहीं करते हैं, जहाँ उन्हें पश्चिम में पुनर्जागरण के युग में आरम्भ हुए काम की सपूर्ति नजर है)।

सच्चाई जो कुछ भी हो, हमें और अधिक विचार किये बिना न तो इस धारणा को अस्वीकार करना चाहिये कि सभ्यताओं की सापेक्ष आयु का एक मान होता है, न इस उपकल्पना का परित्याग करना चाहिये कि एशिया के लोग उसी मार्ग पर चल पड़े हैं जिस पर यूरोप उन से पहले हो कर गया था। परन्तु आजकल की सकट स्थिति को देखते हुए हम विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि विकास का यह क्रम हमें जीवन की ओर ले जाने की बजाय मृत्यु की ओर नहीं ले जायेगा। हमें सभ्यताओं की आपेक्ष आयु को, और लोगों की विभिन्न प्रतिभा को दूसरी दृष्टि से देखना चाहिये। हमें यह नहीं मानना चाहिये कि इन मानव सभ्यताओं और लोगों की विभिन्न प्रतिभाओं के भाग्य में यह लिखा है कि कालान्तर में जा कर वे सब एक सचमुच विश्वव्यापी (या वर्तमान सभ्यता से अधिक विश्वव्यापी) सभ्यता के जीवनहीन समान स्तर को पहुँच जायें। बल्कि हमें तो इन्हें एक भाग्यशाली विविधता के तत्व समझना चाहिये, और काल और प्रतिभा के भेद से इनमें जो अन्तर पैदा होते हैं उनमें उतने ही विशेष और आवश्यक व्यवसाय देखने चाहियें। हमारी समस्याओं के ठीक-ठीक हल अब इसमें नहीं समझे जायेंगे कि एक सभ्यता दूसरी सभ्यता पर विजय पाये जिसकी वह पथ प्रदर्शक और शिक्षक रही है, बल्कि यह हल उन निधियों को आपस में बाँटने से निकलेंगे जिनका सरक्षण प्रत्येक सभ्यता ने किया है। पूरब की निर्विकारता को उसका उचित मूल्य मिल जायेगा, कि वह आध्यात्मिक की एक ऐसी वाछित निधि है जिसकी 'कर्मवाद' से छिन्न भिन्न आज के जगत को बड़ी आवश्यकता है। दूसरी ओर जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं उसको बस में करने की हमारी आन्तरिक इच्छा को भी हमें एक

उपयोगी साधन चाहिये जिससे अत्यधिक धर्म-हीन अध्यात्मिकता का प्रतिकार किया जा सकता है।

मेरे विचार में तो यही दृष्टिकोण ऐसा है जिस से पूरब और पश्चिम के बीच मेल और आदान प्रदान के प्रयास का औचित्य सिद्ध हो सकता है।

इतिहास का अर्थ

पश्चिमी विचार की एक प्रमुख अवाप्ति है इतिहास का दर्शन। हेगल के समय से, उदारतावादी और मार्क्सवादी दोनो प्रकार के विचारकों ने मानव जीवन का मूल्यांकन एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की दृष्टि से किया है, जिसके नियमों का निर्णय करने के लिये वे प्रयास कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काल की गति कुछ अर्थ रखती है, कुछ आदेशात्मक अर्थ रखती है, यह धारणा पूरब की विचारधारा का अंग नहीं थी। परन्तु यह धारणा यूरोप की परम्परागत अध्यात्मिकता का एक अंग अवश्य है। मध्ययुगीन ईसाई धर्म जिन जिन बातों में पूरब की धार्मिक और रहस्यवादी विचारधारा से भिन्न था उन में एक यह बात भी थी कि इसने इतिहास को धर्म विद्या बनाने का प्रयास किया, और आज कल भी आधुनिक भौतिक दर्शनों की ईसाई मत में यह प्रतिक्रिया हुई है कि उसने फिर एक बार उसी परम्परा को जिलाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण अब फिर लोग चिर उपेक्षित अन्तिम गतिवाद की ओर मुड़े हैं, जो कार्ल के नव्य-कैलविनवाद में और सम्प्रदाय की धर्म विद्या और उपासना विधि तक में फिर उभरता हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिये देखिये पवित्र शनिवार की 'प्रतीक्षक' उपासना विधि जिसको फिर से ग्रहण कर लिया गया है। संसार को क़यामत के दिन की दृष्टि से देखा जाता है और इस प्रकार काल की समस्त प्रक्रिया, और उसमें हम सब किस प्रकार फँसे हुये हैं, यह सब अपने उचित रूप में देखे जाते हैं (पेगुई और क्लाउडेल जैसे विचारकों की कृतियों का अधिक विशेष रूप से यही महत्व है)। इस दृष्टिकोण से ही ईसाई विचार-धारा में नई प्रणालियाँ निकली हैं। यह प्रणालियाँ समकालीन इतिहास पर बड़ा ध्यान देती हैं, और उनका यह मत है कि सृष्ट जीव अपनी मुक्ति केवल अपने ही प्रयास से नहीं, अपितु समाज में रह कर और उसका एक सदस्य बनकर ही पा सकता है।

काल के अन्तर्गत जीवन का एक अध्यात्मिक पृष्ठभूमि से सबंध जोड़ने का आधुनिक काल में यह सब से बड़ा प्रयास है, और हो सकता है कि यह उस सश्लेषण की ओर पहला कदम हो, जिसे पूरब, अपनी अध्यात्मिकता की प्रमुखता के आधार पर ग्रहण कर सके, और जिसे अज्ञेयवादी पश्चिम भी इस प्रारंभिक मान्यता के

द्वारा समझ सके कि मनुष्य में एक स्वाभाविक भाईचारा होता है, और समाज व्यक्ति से कुछ मागे कर सकता है। यदि इस उपकल्पना को स्वीकार कर लिया जाये तो नि सदेह सभ्यताओ की आयु के, और विविध राष्ट्रो की प्रतिभा तथा आज की सकटस्थिति का हल खोजने में उनके अवदान के विभिन्न मूल्याकनो को बडा महत्व दिया जायेगा। परन्तु शर्त यह है कि जिस काल प्रक्रिया को हम एक स्थिर एकरेखीय श्रेणी मानते हैं उसके स्थान पर हम काल प्रगति की अनेक परस्पर साथ रहने वाली नियत धाराओ की कल्पना को अपनायें। ये नियत धारायें हैं—बौद्धिक और वैज्ञानिक ज्ञान पर लागू होने वाली धारा जो सर्वाधिक एकरेखीय है, अज्ञेयता के अधकार में लिपटी हुई ऐतिहासिक घटनाओ की धारा, हर प्रकार के अत्याचार पर विजय की प्रक्रिया से सबध रखने वाली धारा जिसमें प्रगति के विस्फोट होते रहते है और प्रत्येक विस्फोट के बाद अवनति होती है, और फिर एक नवीन प्रारभ होता है, और आध्यात्मिक विकास की धारा जो कि शायद समय-लोप की धारा ही है, जिसमें पूरब के अनुसार कोई प्रगति परम्परा के साथ बधी नही रहती, और पश्चिम के अनुसार जो व्यक्ति के उद्धार के साथ जुडी हुई है।

काल की नियत धाराओ की सकल्पना, राष्ट्रीय प्रतिभा के प्रकारो की अनेकता की ही पूरक है, और जो सकट इतिहास की बुतपरस्ती (जैसे मार्क्सवाद) में है उससे हमें बचा लेती है।

सामाजिक सकट स्थितिया

कम से कम एक लिहाज से पूरब और पश्चिम की स्थिति बहुत समान है। ससार के इन दोनो ही भागो में सभ्यता के परम्परागत रूपो के पुन परीक्षण की आवश्यकता है, और वह इस कारण कि ससार की मौजूदा आबादी का आधे से काफी बडा भाग भौतिक, बौद्धिक और नैतिक दरिद्रता का जीवन बिता रहा है। मानव जाति में सदा से ही बडे विस्तृत पैमाने पर दरिद्रता फैली रही है (मध्य युग, चीन के इतिहास में सकट स्थितिया इत्यादि), परन्तु ससार की आबादी बढने के कारण, और इसके साथ साथ आधुनिक विचारो द्वारा परोपकार के नये प्रकारो का विकास होने से, जीवन के स्तरो की विषमता और भी अधिक निन्दा का विषय हो गई है। यूरोप में अन्याय और अत्याचार का प्रचलन एक तथ्य है जिससे कोई भी इनकार करने का साहस नही करेगा। अमरीका की समृद्धि खुले घावो पर परदा डाले हुये है। एशिया के अनेक विशाल प्रदेशों में लोग अधोमानवी जीवन बिता रहे हैं जिसका विचार भी एक अन्त करण रखने वाले मनुष्य के

उपयोगी साधन चाहियें जिनसे अत्यधिक धर्म-हीन अध्यात्मिकता का प्रतिकार किया जा सकता है।

मेरे विचार में तो यही दृष्टिकोण ऐसा है जिस से पूरब और पच्छिम के बीच मेल और आदान प्रदान के प्रयास का औचित्य सिद्ध हो सकता है।

इतिहास का अर्थ

पच्छिमी विचार की एक प्रमुख अवाप्ति है इतिहास का दर्शन। हेगल के समय से, उदारतावादी और मार्क्सवादी दोना प्रकार के विचारकों ने मानव जीवन का मूल्यांकन एक एतिहासिक प्रक्रिया की दृष्टि से किया है, जिसके नियमों का निर्णय करने के लिये वे प्रयास कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काल की गति कुछ अर्थ रखती है, कुछ आदेशात्मक अर्थ रखती है, यह धारणा पूरब की विचारधारा का अंग नहीं थी। परन्तु यह धारणा यूरोप की परम्परागत अध्यात्मिकता का एक अंग अवश्य है। मध्ययुगीन ईसाई धर्म जिन-जिन बातों में पूरब की धार्मिक और रहस्यवादी विचारधारा से भिन्न था उन में एक यह बात भी थी कि इसने इतिहास को धर्म विद्या बनाने का प्रयास किया, और आज कल भी आधुनिक भौतिक दर्शनो की ईसाई मत में यह प्रतिक्रिया हुई है कि उसने फिर एक बार उसी परम्परा को जिलाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण अब फिर लोग चिर उपेक्षित अन्तिम गतिवाद की ओर मुडे हैं, जो बार्थ के नव्य-कैलविनवाद में और सप्रदाय की धर्म विधा और उपासना विधि तक में फिर उभरता हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिये देखिये पवित्र शनिवार की 'प्रतीक्षक' उपासना विधि जिसको फिर से ग्रहण कर लिया गया है। ससार को क़यामत के दिन की दृष्टि से देखा जाता है और इस प्रकार काल की समस्त प्रक्रिया, और उसमें हम सब किस प्रकार फसे हुये हैं, यह सब अपने उचित रूप में देखे जाते हैं (पेगुई और क्लाउडेल जैसे विचारकों की कृतियों का अधिक विशेष रूप से यही महत्व है)। इस दृष्टिकोण से ही ईसाई विचार-धारा में नई प्रणालियाँ निकली हैं। यह प्रणालियाँ समकालीन इतिहास पर बडा ध्यान देती हैं, और उनका यह मत है कि सृष्ट जीव अपनी मुक्ति केवल अपने ही प्रयास से नहीं, अपितु समाज में रह कर और उसका एक सदस्य बनकर ही पा सकता है।

काल के अन्तर्गत जीवन का एक अध्यात्मिक पृष्ठभूमि से संबंध जोडने का आधुनिक काल में यह सब से बडा प्रयत्न है, और हो सकता है कि यह उस सरलपण की ओर पहला कदम हो, जिसे पूरब, अपनी अध्यात्मिकता की प्रमुखता के आधार पर ग्रहण कर सके, और जिसे अज्ञेयवादी पच्छिम भी इस प्रारंभिक मान्यता के

द्वारा समझ सके कि मनुष्य में एक स्वाभाविक भाईचारा होता है, और समाज व्यक्ति से कुछ मांगें कर सकता है। यदि इस उपकल्पना को स्वीकार कर लिया जाये तो निःसंदेह सभ्यताओं की आयु के, और विविध राष्ट्रों की प्रतिमा तथा आज की सकटस्थिति का हल खोजने में उनके अवदान के विभिन्न मूल्यांकनों को बड़ा महत्व दिया जायेगा। परन्तु शर्त यह है कि जिस काल प्रक्रिया को हम एक स्थिर एकरेखीय श्रेणी मानते हैं उसके स्थान पर हम काल प्रगति की अनेक परस्पर साथ रहने वाली नियत धाराओं की कल्पना को अपनायें। ये नियत धारायें हैं—बौद्धिक और वैज्ञानिक ज्ञान पर लागू होने वाली धारा जो सर्वाधिक एकरेखीय है, अनेयता के अधकार में लिपटी हुई ऐतिहासिक घटनाओं की धारा, हर प्रकार के अत्याचार पर विजय की प्रक्रिया से सबध रखने वाली धारा जिसमें प्रगति के विस्फोट होते रहते हैं और प्रत्येक विस्फोट के बाद अवनति होती है, और फिर एक नवीन प्रारभ होता है, और आध्यात्मिक विकास की धारा जो कि शायद समय-लोप की धारा ही है, जिसमें पूरब के अनुसार कोई प्रगति परम्परा के साथ बधी नहीं रहती, और पश्चिम के अनुसार जो व्यक्ति के उद्धार के साथ जुड़ी हुई है।

काल की नियत धाराओं की सकल्पना, राष्ट्रीय प्रतिभा के प्रकारों की अनेकता की ही पूरक है, और जो सकट इतिहास की बुतपरस्ती (जैसे मार्क्सवाद) में है उससे हमें बचा लेनी है।

रह जाना, काम में से सृजनात्मक तत्व का निकल जाना, और मनुष्य का अपनी स्वाधीनता खो बैठना। इसके अतिरिक्त इससे अधिक काला पहलू यह है जिसमें आधुनिक साधनों का युद्ध और विनाश के लिये उपयोग किया गया, और यह डर पैदा हो गया कि सारी शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के पास आ जायेगी और अन्त में अमानुषिक और गैर जिम्मेदार सत्वो के हाथों में चली जायेगी जैसे (राष्ट्र, आर्थिक गुट्ट, तानाशाह)।

कुछ लोग जो एशिया की शिक्षा का अनुसरण करने का दावा करते हैं, परन्तु जो शायद उसको अत्यधिक सरल कर देते हैं, स्वयं टेक्नोलोजी को एक बुराई घोषित करना चाहेंगे, जो मानव दर्प की, और प्रभुत्व की एक ऐसी भावना की उपज है, जो प्रकृति को अपने दूषित मतलबो की पूर्ति में लगाना चाहती है। उनके सामने इस बुराई को दूर करने का एक ही उपाय है कि अतीत की शरण ली जाये, सारी मशीनो को नष्ट कर दिया जाये, और मनुष्य फिर एकान्तवास और चिन्तन शुरू कर दे। परन्तु यह सब व्यर्थ पुरानी बातो को याद करना है। इतिहास कभी लौटता नही है, और जिन मनुष्यो का हमें परित्राण करना है वे कल के नही बल्कि आज के लोग हैं, जो कुछ उनके पास है और जो कुछ नही है वह सब आज का है। उनके विश्वास और उनकी लालसायें सब वर्तमान की है। टेक्नालोजी और विज्ञान तो साधन मात्र हैं, और इस प्रकार न वे अच्छे हैं न बुरे। उनको नष्ट न करके हमें उनको अपने वस में करना चाहिये और उन्हें उनके उचित पद पर रखना चाहिये। वे सभी खतरनाक होते हैं जब हम उनकी उपासना करने लगते हैं। परन्तु जब उनको उनके उचित स्थान पर केवल साधन समझ कर रखा जाता है तो सब खतरा दूर हो जाता है। अतः इनको अपने सच्चे रूप में देखने के लिये हमें एक महान अध्यात्मिक पुनर्जागरण की आवश्यकता पड़ेगी। हमारा प्रारंभिक प्रयास काम की एक अध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि के निर्माण पर केन्द्रित होना चाहिये, जिसका आज लगभग पूर्ण अभाव है। शिक्षा की दृष्टि से ऐसे प्रयास के बहुत बड़े मतलब निकलेंगे। परम्परागत ईसाई पृष्ठ-भूमि को हम अभी तक इसी रूप में कल्पना करते हैं कि वहा मानव-श्रम के दकियानूसी रूप पाये जाते हैं, जबकि इसके मार्क्सवादी रूप का लक्षण है उन्नीसवी शती का भौतिकवाद और क्रान्ति की एक मसी ही भावना, जो अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के समय में तो अत्यन्त शक्तिशाली होती है, परन्तु एक नये समाज के लिये कोई वैद्य नैतिक ढाचा तैयार नही कर सकती।

यहा फिर पूरब अपनी इस धारणा से कि मनुष्य का शेष सृष्टि से भाईचारा है, काम का एक नैतिक ढाचे का निर्माण करने में बहुमूल्य योग दे सकता है।

लिये असह्य है। इस प्रकार के भीषण प्रमाणों से सामने यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों की जिन रूपरेखाओं पर हमारे विभिन्न समाज चिरकाल से आधारित हैं, वह अब हमारी समस्याओं के व्यवहार-योग्य हल निकालने के लिये काफी नहीं है। हमें उनका आमूल पुनः परीक्षण करना है।

विशेष रूप से दो तथ्यों का ध्यान रखते हुये हमें शिक्षा को एक बिलकुल नये साँचे में ढालना है। एक तो मानवजाति की मौजूदा जनसंख्या, और दूसरे इस जनसंख्या में से बहुतों के लिये, जिसे हम परम्परागत अर्थ में संस्कृति कहते हैं, उस तक पहुँचने की आशा तक न होना। अब न तो एशिया में और न पश्चिम में मनुष्य की किसी विशेष संकल्पना के, अथवा शिक्षा के किसी विशेष आदर्श के मूल्य का भावात्मक रूप से निर्णय करने का कोई प्रश्न है। हमें अपने सजातीयों में से अधिकांश की परिस्थितियों को देखते हुए इन दोनों के बारे में फिर से विचार करना है। मार्क्सवाद ने अपने दृष्टिकोण से इसका एक प्रयास किया है। हमें अब यह देखना है कि जो उत्तर मार्क्सवादी देता है, क्या उससे कोई भिन्न उत्तर हम दे सकते हैं। यदि नहीं तो हमारा अन्त हो गया समझना चाहिये।

काम

यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने अपने देशों और सभ्यताओं का ध्यान रखते हुए, और एक स्थायी संकट स्थिति के पैदा हो जाने के डर से, मानव श्रम का क्या अर्थ होना चाहिये इस पर विचार करें। यह समस्या सदा से हमारे सामने रही है। धर्मविद्या और दर्शन ने इसको सुलझाने का प्रयास किया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उत्तर हमेशा एक विशेष सामाजिक और आर्थिक स्थिति के आधार पर किये गये हैं (प्राचीन युग प्रथा, अधिक अर्वाचीन काल में हाथ से काम करने वाले हबशियों की निकृष्ट स्थिति, और कुछ उत्कृष्ट समझे जाने वाले कामों का समुत्कर्ष इत्यादि)।

जब टेक्नोलोजी ने तेजी से बढ़ना शुरू किया तो उसकी प्रारंभिक प्रवृत्ति मनुष्य के दैनिक जीवन को आसान बनाने की ओर थी। और असल में उसने इस शिक्षा में निर्विवाद रूप से प्रगति कराई। काम हलका हुआ, सफाई सुथराई बढ़ी, और शरीर की मेहनत मशीनों ने करनी शुरू करदी। इस तसवीर के दूसरे रुख को तफसील से बयान करने की कोई आवश्यकता नहीं है, जिसमें हम देखते हैं कि तकनीकी प्रगति अनेक भयंकर बुराइयों का स्रोत बनी, जैसे मनुष्य का चेतना का ही आकड़ों के अधीन हो जाना, उसका एक बेनाम इकाई बन कर

रह जाना, काम में से सृजनात्मक तत्व का निकल जाना, और मनुष्य का अपनी स्वाधीनता खो बैठना। इसके अतिरिक्त इससे अधिक काला पहलू वह है जिसमें आधुनिक साधनों का युद्ध और विनाश के लिये उपयोग किया गया, और यह डर पैदा हो गया कि सारी शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के पास आ जायेगी और अन्त में अमानुषिक और गैर जिम्मेदार सत्वों के हाथों में चली जायेगी जैसे (राष्ट्र, आर्थिक गुट्ट, तानाशाह)।

कुछ लोग जो एशिया की शिक्षा का अनुसरण करने का दावा करते हैं, परन्तु जो शायद उसको अत्यधिक सरल कर देते हैं, स्वयं टेक्नोलोजी को एक बुराई घोषित करना चाहेंगे, जो मानव दर्प की, और प्रभुत्व की एक ऐसी भावना की उपज है, जो प्रकृति को अपने दूषित मतलबों की पूर्ति में लगाना चाहती है। उनके सामने इस बुराई को दूर करने का एक ही उपाय है कि अतीत की शरण ली जाये, सारी मशीनों को नष्ट कर दिया जाये, और मनुष्य फिर एकान्तवास और चिन्तन शुरू कर दे। परन्तु यह सब व्यर्थ पुरानी बातों को याद करना है। इतिहास कभी लौटता नहीं है और जिन मनुष्यों का हमें परित्राण करना है वे कल के नहीं बल्कि आज के लोग हैं, जो कुछ उनके पास है और जो कुछ नहीं है वह सब आज का है। उनके विश्वास और उनकी लालसायें सब वर्तमान की है। टेक्नालोजी और विज्ञान तो साधन मात्र हैं, और इस प्रकार न वे अच्छे हैं न बुरे। उनका नष्ट न करके हमें उनको अपने वश में करना चाहिये और उन्हें उनके उचित पद पर रखना चाहिये। वे तभी खतरनाक होते हैं जब हम उनकी उपासना करने लगते हैं। परन्तु जब उनको उनके उचित स्थान पर केवल साधन समझ कर रखा जाता है तो सब खतरा दूर हो जाता है। अतः इनको अपने सच्चे रूप में देखने के लिये हमें *एक महान आध्यात्मिक पुनर्जागरण* की आवश्यकता पड़ेगी। हमारा प्रारंभिक प्रयास काम की एक आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि के निर्माण पर केन्द्रित होना चाहिये, जिसका आज लगभग पूर्ण अभाव है। शिक्षा की दृष्टि से ऐसे प्रयास के बहुत बड़े मतलब निकलेंगे। परम्परागत ईसाई पृष्ठ भूमि का हम अभी तक इसी रूप में कल्पना करते हैं कि वहां मानव-श्रम के दकियानूसी रूप पाये जाते हैं, जबकि इसके मार्क्सवादी रूप का लक्षण है उन्नीसवीं शती का भौतिकवाद और क्रान्ति की एक मसीही भावना, जो अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के समय में तो अत्यन्त शक्तिशाली होती है, परन्तु एक नये समाज के लिये कोई वैध नैतिक ढांचा तैयार नहीं कर सकती।

यहां फिर पूरब अपनी इस धारणा से कि मनुष्य का शेष सृष्टि से भाईचारा है, काम का एक नैतिक ढांचे का निर्माण करने में बहुमूल्य योग दे सकता है।

ताजन को एशिया की कोई विशेष जानकारी नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि पूरबी लोगों में से अधिकांश अभी उस अवस्था तक नहीं पहुंचे हैं जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। उनके बीच शिक्षा की जो समस्या उठ रही है वह सब से अधिक प्रारंभिक प्रकार की है, जिसको यूरोप में बहुत पहले सुलझाया जा चुका है, अर्थात् निरक्षरता को मिटाने की। इस समय बड़ा खतरा इस बात का है कि पूरब के आम लोग सहसा अपने आपको एक ऐसे संसार में पा रहे हैं जहाँ टेक्नालोजी का बोलबाला है, परन्तु वे उस बीच की अवस्था में से नहीं गुजरे हैं जहां उन्हें व्यावहारिक रूप में और थोड़े में वह ज्ञान मिल सका होता जिससे स्वयं निर्णय करने में समर्थ होते, और कुछ हद तक अपने विवेक को टेक्नालोजी द्वारा पराभूत होने से बचा सकते। परन्तु हम उतने ही न्याय के साथ यह भी सोच सकते हैं कि शायद इस प्रकार कुछ जातियों का विशुद्ध श्रद्धा के युग से निकलकर सीधे टेक्नालोजी की सभ्यता की मान्यताओं से टक्कर लेने से कुछ विस्मयकारी फल भी निकलें। कम से कम हमें एक अध्यात्मिकता जो अभी तक जीवित है, और जो अभी तक कोरे विज्ञान के स्तर तक नहीं गिरी है, उस पर इस टक्कर का क्या प्रभाव पड़ता है, इस को ध्यान से देखने से चूकना नहीं चाहिए।

इस प्रकार पूरब और पश्चिम दोनों में सम्पूर्णरूप से विषम और, लगभग विरोधी परिस्थितियों ने समान रूप से वही एक खतरा पैदा कर दिया है कि वही मनुष्य आंकड़ा, टेक्नालोजी और भौतिक सफलता के व्यक्तिनिरपेक्ष अत्याचार के वस में न हो जायें। जिन वस्तुओं की आज हम तमाम सभ्यताओं में और मानव जाति की समस्त परम्परा में खोज करनी चाहिये वे हैं अध्यात्मिकता की संचित निधियां, मानव के व्यक्तित्व का आदर, और पवित्रता की भावना, जिससे कि एक नये मानव की सृष्टि हो सके—एक ऐसा मानव जो अपने आविष्कृत साधनों से पूरा लाभ उठा सके परन्तु उसके साथ-साथ जिसे यह पुनर्बोध हो कि उसमें केवल प्रकृति को अपने वस में करने से भी अधिक बड़े काम करने की क्षमता है।

कोई भी शिक्षा-पद्धति जो मनुष्य को इस प्रकार का पुनर्बोध कराने में सहायक नहीं होती, वह अवश्य ही मनुष्य का मनुष्य के ऊपर अत्याचार कराने का साधन बन जायेगी। शिक्षा की कोई भी प्रणाली, चाहे वह कितनी भी पाण्डित्यपूर्ण क्यों न हो, और चाहे वह कितनी भी पक्की तरह परीक्षणों और आंकड़ों पर क्यों न आधारित हो, स्वतः लाभकारी नहीं होती। इसमें कोई शक नहीं कि मनुष्य के विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करने से शिक्षा और चिकित्सा दोनों में प्रगति हुई है।

पच्छिम के देशों में मानवतावादी शिक्षा

जान टी० क्रिस्टो

मुझसे आगामी समेलन के विषय में अपना दृष्टिकोण रखने के लिये कहा गया है। परन्तु कोई भी दृष्टिकोण, विशेषकर शिक्षा समस्याओं पर, मनुष्य की अपने शिक्षा विषयक पृष्ठ-भूमि और परिसीमाओं से अतिरंजित होता है। मैं इस समय एक ऐसे व्यक्ति की हैसियत से बोल रहा हूँ जिसने स्कूल और कालिज में पुराने शास्त्रीय ढग से सीखा पढा है। बीस वर्ष स्कूल का मुख्याध्यापक रहकर मैं अब आक्सफर्ड के एक कालिज का अध्यक्ष बना हूँ। मुझे इस बात का खूब अभास है कि, अन्य कम प्राचीन विश्वविद्यालयों की तरह आक्सफर्ड का भी दृष्टिकोण अब बदल गया है। अब यहाँ शिक्षा को एक अधिक विस्तृत और अधिक लोकतन्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाता है, और दूसरे विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र और उसका महत्व अब बहुत बढ गया है।

फिर भी, शास्त्रीय शिक्षा यदि मनुष्य को १९५१ की तात्कालिक समस्याओं का सामना करने के लिये उपयुक्त बनाने का श्रेष्ठ माध्यम न भी समझी जाये, तो भी सस्कृति और शिक्षा के इतिहास को समझने में तो यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक सहायक हो सकती है। वास्तव में, पुनर्जागरण के युग के बाद की यूरोप की समस्त मानवतावादी शिक्षा पर, विशेष कर उन्नीसवी शती में शास्त्रीय दृष्टिकोण का बडा प्रबल प्रभाव था। बहुधा यहाँ तक दावा भी किया जाता है कि यह पच्छिमी सभ्यता का आधार है, और मैंने बहुत बार 'पच्छिमी या ईसाई सभ्यता' यह वाक्य पढा है। हम देखेंगे कि इन दोनों उपाधियों के बिलकुल अलग-अलग मतलब हैं। पूरबी विचारधारा का मेरा ज्ञान बहुत थोडा और ऊपरी है, यह मेरी रुचि का जो प्रशसा की ओर झुकती है, और मेरे अज्ञान का जो अचरज की सीमा तक जाता है, एक योग है। मेरी ही जैसी पृष्ठभूमि रखनेवाला एक साधारण अग्रेज समझता है कि पूरबी आदर्श विचार-प्रधान है और उसकी प्रवृत्ति मनुष्य के अपनेपन की ओर से इनकार करने की है, जब कि पच्छिमी दृष्टिकोण अधिक व्यवहारिक है और उसमें अधिक आत्मचेतना है। पहले पहल तो यह आशा होती है कि इन दोनों के बीच मानवतावादी शास्त्रों की जानकारी और मानवतावादी शिक्षा एक आदर्श सेतु का काम दे सकती है। और

यह विषय विचारणीय है कि यह धारणा कहाँ तक ठीक है। यदि यह ठीक हो, तो इसमें हमें इस सम्मेलन में जिस प्रश्न पर चर्चा होती है, उस का उत्तर देने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

आज के ब्रिटेन-निवासियों को स्कूल में मानवतावादी शिक्षा और कालिज में वैज्ञानिक शिक्षा दी जाती है, और स्पष्ट है कि मानवतावादी शिक्षा वैज्ञानिक शिक्षा की अपेक्षा पूरबी दर्शन के अधिक निकट है। फिर भी शुरू से ही, पश्चिम में साहित्य, कला और धर्मचर्चा के प्रशिक्षण से जिन मानवतावादी आदर्श का अन्तर्निवेश किया गया है, वे पश्चिमी विचारधारा के व्यवहारिक झुकाव और सचेत विवेक तथा रूप की भावना द्वारा अतिरंजित है। इस सब का प्रादुर्भाव प्राचीन यूनान में ही हुआ है, और यूनानियों की कृतियों में विचार-प्रधान आदर्श का पुट बहुत ही कम है यद्यपि प्लेटो में इस का कुछ लेश पाया जाता है। परन्तु अन्य स्थलों की तरह यहाँ भी प्लेटो की महानता उसे केवल अपने राष्ट्र अथवा अपने युग का प्रतिनिधि मात्र नहीं रहने देती। वह भी कवियों का गुरु और गद्य-लेखकों को अनुनयकारी मानवी था, उस की प्रधान सकल्पना सक्रिय विवेक की है न कि निष्क्रिय चिन्तन की। आजकल यह दिखाई दे रहा है कि प्राचीन यूनानी दृष्टिकोण का अध्ययन करनेवाले हाल के वाम-पक्षी विद्यार्थी यूनान की और यूनानी दृष्टिकोण पर आधारित शास्त्रीय शिक्षा की, इस बिना पर आलोचना करते हैं कि वह पर्याप्त मात्रा में व्यवहारिक नहीं है, और उसने समष्टि रूप से समाज के हितों का ध्यान रखते हुए विज्ञान का विकास नहीं किया। हालांकि अनेक लेखकों ने यूनानी साहित्य के रहस्यात्मक और धार्मिक तत्वों पर आक्षेप किया है और ऐसा करने में इन तत्वों को बढ़ा-चढ़ा कर बयान किया है।

हमारी पश्चिमी सभ्यता के दूसरे तन्तु ईसाईमत में विचारात्मकता का काफी प्रबल पुट था और अब भी है। परन्तु यूनानी विवेक ने उसको फौरन ही यूरोपी वेश पहना दिया जिससे कि वह गैर-ईसाई जगत से संघर्ष करने के लिये उपयुक्त हो जाये। यूनानी भाषा के प्रयोग से ही इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला, और शीघ्र ही रोमन साम्राज्य का स्वीकृत धर्म बन जाने पर ईसाईमत और भी अच्छी तरह संगठित हो गया और इसका दृष्टिकोण अधिक व्यवहारिक हो गया। पुन-र्जागरण की प्रक्रिया ने एक बार फिर यूरोप के ऊपर शास्त्रीय दृष्टिकोण के ग्रहण पर जोर दिया, और शास्त्रीय शिक्षा की अभिजात वर्गीय परम्परा को बल दिया, जिससे वह एक साथ ही सीमित भी हो गई और पुष्ट भी। शासक वर्गों के दृष्टिकोण का आधार प्राचीन गौरव ग्रन्थ ही थे, विशेष कर ब्रिटेन में और आज भी हम यह देख सकते हैं जिन राजनीतिज्ञों की शिक्षा दीक्षा इस परम्परा में हुई

है वे विदेशी और साम्राज्य मामलों में अधिक सुगमता के साथ निपट लेते हैं। परन्तु घरेलू और आर्थिक समस्याओं के साथ उन्हें कठिनाइयां होती हैं, क्योंकि जो इतिहास उन्होंने पढ़ा है उसमें ऐसी समस्याओं की तरह का कोई उदाहरण नहीं मिलता। अपने मामूली अर्थ में पश्चिमी संस्कृति कुछ थोड़े से लोगों की संस्कृति के सिवा और कुछ नहीं थी। पिछली दो शतियों में ब्रिटेन में हमारे जो विचारक और लेखक हुए हैं उनमें से कुछ थोड़े से ऐसे भी थे जिनकी रुचि पूरब की ओर थी, और यह रुचि बहुधा पूरब से हमारे राजनीतिक और आर्थिक संबंधों से प्रारंभ होती थी। परन्तु मैं समझता हूँ कि ऐसे लोग हमेशा कुछ अलग अलग और विजातीय से होते थे। इस प्रकार की रुचि और इस प्रकार का दृष्टिकोण आम लोगों को तभी भाते थे जब उनको कोई कवि या कोई स्त्री उपन्यास-कार एक वाहियात ढंग से रूमानी और विकृत बना देता था। उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध हमारी अधिकतम भौतिक समृद्धि का युग था, और साहसिकता और व्यक्तिगत रूप से पहले करने के पश्चिमी गुण इस युग के विशेष लक्षण थे। परन्तु उसी युग में उस युग के आलोचक भी पैदा हो गये, और मैथ्यू आर्नल्ड ने अपनी एक कविता में, पूरबी चरित्र का स्मरणीय यद्यपि, कुछ कुछ आदर्शवादी चित्र खींचा है। कविता यहाँ उद्धृत करने योग्य है :

> क्या हम अंग्रेज लोगों को यही करना है
> कि हम अपने नगरों में पड़े रहें
> जहाँ नित नया शोर उठता रहता है
> और मनुष्यों का अविरल प्रवाह
> निरन्तर चलता चला जाता है ?
>
> क्या हमारा यही काम है
> कि हम
> अपनी चाल मन्द किये बिना
> परन्तु हृदय में चिन्ता लिये
> दल और टोलियाँ और काफिले बनाये, और
> भूमध्य सागर के मृदु तट पर,
> और नील नदी के किनारे,
> और पूरब में,
> एक छोर से दूसरे छोर तक घूमते फिरें,
> और एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक के सब दृश्य देखें
> उन पर एक नजर डालें, सिर हिलायें और आगे चल दें ?
>
> परन्तु,
> कभी एक बार भी,

यहाँ तक कि हम मर भी जायें,
अपनी आत्मा में हमारी निष्ठा न हो ।

*   *   *

कोई मुनि,
जिसके लिये दुनिया मर चुकी है,
और मनुष्य एक कण के समान है
और जीवन मात्र एक खेल है ;
जो कुश मूला पर शयन करता है
और दिन में केवल एक बार
अपना दण्ड कमण्डलु लिये
गाँवों में, मनुष्यों के घरों में,
केवल उतना भोजन पाने के लिये जाता है
जिससे वह अपनी जीवन यात्रा पूरी कर सके,
और अपने अस्तित्व के पवित्र ध्येय को पा सके ।
जटाधारी, झुर्रियाँ पड़ा हुआ, श्वेत वस्त्र,
एकाकी, मौन,
दिन रात वह ईश्वर के अनन्त रहस्यों पर चिन्तन करता है,
और हिमानी की बरफ के समान शान्त,
भारत के उन पर्वतों की गोदी में विश्राम करता है ।

मेथ्यू आर्नल्ड के समय से अब तक हमारी शिक्षा बहुत बदल गई है, और निश्चय ही यह परिवर्तन पूरबी दर्शन की दिशा में नहीं हुआ है । विज्ञान रूप और अमली नतीजों पर एक समान जोर देता है, और इसके अतिरिक्त उन वस्तुओं को भी प्रमुखता देता है, जो तोली जा सकें, गिनी जा सकें और जिनके आंकड़े तैयार किये जा सकें । इन सब बातों में यह मानवतावादी शास्त्रों से बिलकुल भिन्न है । इस प्रकार विज्ञान पूरबी दृष्टिकोण से तो बहुत ही दूर जा पड़ा प्रतीत होता है । परन्तु यह याद रखना चाहिये कि इस पर भी यह अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में एक बड़ी शक्ति है । (१९४६ में लन्दन में जो यूनेस्को सम्मेलन हुआ था और जिसमें प्रोफेसर गिल्बर्ट मर्रे, डा० जूलियन हक्सले, और रायल सोसाइटी के अध्यक्ष भी उपस्थित थे, उसकी मुझे अच्छी तरह याद है । हमने एक राजनीतिज्ञ का भाषण सुना जिसमें उन्होंने इस बात का बड़े प्रभावी शब्दों में अनुग्रह किया था कि पूरब और पश्चिम के बीच अधिक विचारविनिमय होना चाहिये, और यूनेस्को को प्रोत्साहन मिलना चाहिये । इस पर अनेक प्रमुख वक्ताओं ने उसी समय यह बताया कि उनके अपने अपने क्षेत्रों में तो, विज्ञान, गणित और दर्शन पहले से ही इस प्रकार के दृढ़ संबंध मौजूद थे, और यह स्पष्ट ही था, कि वैज्ञानिकों ने, अपने विषय में एक महान सामान्य परम्परा, सर्व के रूप में पाई

है, जिसको हम सतरहवी शती मे लोकतन्त्र के आदर्श का आधुनिक पर्याय मान सकते है।'

फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि न तो विज्ञान और न मानवतावादी शास्त्र, अपने आप से ही पूरब और पश्चिम के बीच एक सेतु का आधार बन सकते है। यदि इस नाजुक वर्तमान शती में हमें ससार की एकता की रक्षा करनी है तो हमें, इस खाई को पटाने की यथाशक्ति कोशिश करनी चाहिये। मुझे सन्देह है कि हमारी अपनी ओर यदि हम अपनी शिक्षा में कुछ पूरबी पुट मिला भी दें, तो केवल उसीसे यह कार्य हो जायेगा। स्कूल जाने वाले बच्चो के स्तर पर तो मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ, कि उन की अपक्व बुद्धि के योग्य लिखी हुई पुस्तको में यदि पूरबी दृष्टिकोण का समावेश किया जाये तो उसका समझना कठिन होगा। मैंने अनेक बार १७ से १८ वर्ष आयु के चतुर विद्यार्थियो की कक्षा में पूरबी धर्मों पर कोई पुस्तक पढाने का प्रयास किया है। उस पुस्तक में जो कुछ लिखा रहता है उसे तो वे समझ जाते थे, परन्तु वे उसका किसी ऐसे तत्व से सबध जोडने में असमर्थ थे, जिससे उन्हें स्वाभाविक सहानुभूति हो। उदाहरण के लिये उन्हे बताया जाता है कि पूरब में ससार को जिस दृष्टि से देखा जाता है उसमें 'व्यक्तित्व' जैसी कोई वस्तु नही है 'जिस प्रकार समुद्र की तरगो का तरगो के रूप में समुद्र से अलग कोई अस्तित्व नही होता। मेरे से पूछा गया कि इसका क्या मतलब हुआ, और मैं स्वय उनको कुछ न बता सका। शायद इस सम्मेलन में हमें उन तरीको की बाबत कुछ सुनने को मिले, जिनके द्वारा अपरिपक्व पश्चिमी बुद्धि पूरबी दृष्टिकोण को स्वीकार कर करने के योग्य बन सके।

लेकिन फिर भी मुझे यकीन है कि पूरबी विचारधारा में ऐसे तत्व हैं जिनको यदि पश्चिम के साँचे में ढाला जाये तो वे हमें वह चीजें दे सकते है जिसकी हमारी ओर हमें बडी आवश्यकता है। मानवतावाद के और विज्ञान के अध्यापको ने भी पिछले बीस वर्षो में जो अनेक पुस्तकें लिखी हैं, उनमें इस बात पर जोर दिया गया है कि, बिना यह पुछे कि 'मुझे इसमें से मिलता क्या है' और इससे भी बढ कर बिना परीक्षण की दृष्टि से, इन पर 'चिन्तन' करने का मार्मिक महत्व है। सर रिचर्ड लिविंगस्टन ने जिसे 'महानता का स्वप्न' कहा है उसी के लिये यह एक अनुरोध है। डा० लिविंगस्टन एक मानवतावादी है, परन्तु उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिको को अमान्य नही है। मुझे स्वय इसका आज की यूनिवर्सिटी में एहसास होता है, जहाँ अब अधिक परिसीमित और कम सस्कृत घरो से इतने विद्यार्थी आते हैं जितने तीस बरस पहल नही आते थे। उनके सामने महान विचारको की कृतिया रखी जाती है, परन्तु इन कृतियो को उन्हें केवल परीक्षणो की दृष्टि से पढना सिखाया

जाता है, और वे वास्तव में समझते हैं कि यदि एक बार वे किसी पुस्तक को किसी सम्पादक और नोटों की सहायता से पूरा कर लें तो उन्होंने मानों उसका सार निचोड़ लिया है। मैं तो कहूँगा कि जब तक कि आप शान्तिपूर्वक बैठ न जायें, और उस महान प्रज्ञा को अपना काम न करने दें, तबतक आपकी समझ में यह आना शुरू ही न होगा कि एक महान प्रज्ञा होती क्या है।

निःसन्देह इस प्रकार का चिन्तन उस चिन्तन से बहुत भिन्न है जिसकी कल्पना पूरबी विचारकों ने की थी। परन्तु सभ्यता के लिये यह अत्यन्त महत्व की बात है कि हमारा बौद्धिक दृष्टिकोण क्या है? विशेषकर ऐसे समय में जब हम सबको तुच्छ कार्यकलापों में ही फंसे रहने का डर है, और जब, मैथ्यू आर्नल्ड के शब्दों में 'कभी एक बार भी अपनी आत्मा में हमारी निष्ठा नहीं हुई, यहाँ तक कि हम मर भी जायेंगे।' अपने विशुद्ध रूप में विचारात्मक आदर्श अकेला ही एक उच्च शिक्षित व्यक्ति के लिये भी जीवन की मांगों को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होगा। और निःसन्देह यह बात सदा से है। आदि काल का ईसाई, जो चिन्तन को एक गंभीर विषय मानता था, एक तपस्वी के रूप में अपने आपको संसार से अलग कर के एक मठ में बन्द हो जाता था। परन्तु ईसाई परम्परा में पली अंग्रेज जाति की व्यवहारिक बुद्धि ने हमेशा यह पाया है कि इस परम्परा को जीवन का धर्म बनाने के लिये एक प्रकार के संयमवाद के समान किसी न किसी 'दृढ़ मिश्र धातु' की आवश्यकता है। मैं दो स्कूलों का मुख्याध्यापक रह चुका हूँ। इन दोनों स्कूलों की स्थापना एक प्रबल और प्राचीन ईसाई परम्परा के अधीन हुई है, और मैंने अक्सर देखा है कि चित्त से पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थियों को ईसाई धर्म के पवित्र तथा असंसारी आदर्शों और स्थूल जीवन की व्यवहारिक माँगों के बीच जो अंतर होता था उससे बड़ी व्याकुलता होती थी, हमारे स्कूलों में ईसाई धर्म के नाम से जो वस्तु जाती थी वह ईसाई धर्म का कुछ रंग लिये एक संयमवाद के अधिक निकट थी। और सच तो यह है कि उन्नीसवीं शती का एक औसत अंग्रेज, विशेष कर वह जो भारत में आता था, एक शरीफ आदमी के आदर्श को अपना पथ प्रदर्शक बनाता था, और उसका ईसाईपना इसी आदर्श पर निर्भर रहता था। आप लोगों ने शायद यह कथा सुनी होगी कि एक ब्रिटिश अफसर को मुसलमानों ने पकड़ लिया और उसकी जान बख्शी के लिये यह शर्त रखी कि वह अपना धर्म छोड़ दे। उस अफसर को कभी किसी ने ईसाई धर्म का कोई खास आचरण करते नहीं देखा था, फिर भी उसने नाम के धर्म को भी छोड़ने से इनकार कर दिया क्योंकि 'यह बिलकुल एक शरीफ' आदमी का काम नहीं है। (क्या यह सत्य है कि चीन में जाकर बौद्ध धर्म में भी यह तबदीली आ गई? मैंने लोगों को यह

कहते सुना है कि बौद्ध धर्म के चीन में पहुँच जाने के उपरान्त उसको कनफ्यूशस के आदर्शों के द्वारा उसी प्रकार दृढ़ बनाया गया, जिस प्रकार ईसाई धर्म को रायमवाद के द्वारा) इसमें सन्देह नहीं कि इस विचार-प्रधान आदर्श को यदि आधुनिक जीवन की मांगो को पूरा करने में समर्थ होना है तो इसको अधिक व्यवहारी बनाना होगा, अथवा इसे व्यवहारिक जीवन से जोड़ना होगा। परन्तु इसमें यह खतरा रहता है कि ऐसा करने से कहीं यह भौतिक दृष्टिकोण जो विशेष रूप से पश्चिमी है, इस आदर्श को बहा कर ही न ले जाये। पश्चिम में हमलोग अनेक पूरबी आदर्शों की शक्ति और उनकी बुद्धिमत्ता का आदर करते हैं, और हमें अपने स्कूलो और अपने घरो दोनो ही में इन मार्गों का सन्निवेश करना चाहिये। परन्तु जो कुछ मैंने भारतीय शिक्षा की बाबत सुना है उससे मुझे यकीन नहीं है कि शिक्षा के इस पहलू पर यहाँ भारत में, हमलोगो की अपेक्षा कुछ अधिक जोर दिया जाता है। हो सकता है कि वास्तव में यहाँ इस पर हमसे भी कम जोर दिया जाता हो। (मैं इस विषय पर कुछ जानना चाहूँगा)। क्या यह सच है कि भारतीय यूनिवर्सिटियाँ हमारी यूनिवर्सिटियो से भी अधिक परीक्षाओ की दया पर रहती हैं, और ज्ञान को केवल ज्ञान के लिये उपार्जन करने के आदर्श को नहीं अपनाती। मैं यह पक्की तरह जानता हूँ कि इग्लैंड में हम लोग यूनिवर्सिटियो को केवल एक उद्देश्य की पूर्ति का साधन, केवल 'डिगरी लेने की मशीनें' मानने के प्रलोभन में पड़ गये हैं। मुझे यहाँ केवल सर वाल्टर मोबर्ले की पुस्तक 'यूनिवर्सिटियो में सकटस्थिति' की चर्चा भर कर देनी काफी है। यदि पूरब ने पश्चिमी शिक्षा के इस पक्ष की नकल की है तो मुझे डर है कि उसने उसके सबसे बुरे पक्ष की नकल की है।

हमारी अपनी यूनिवर्सिटी सबन्धी समस्यायें हैं, जिनमें से कुछ इस युग की ही उपज हैं। मुझे मालूम नहीं कि कहाँ तक भारत की यूनिवर्सिटियो की भी यह समस्यायें हैं। मेरे विद्यार्थी काल के बाद से यूनिवर्सिटियो के द्वार आबादी के एक बहुत अधिक भाग के लिये खुले गये हैं। आक्सफर्ड और केम्ब्रिज, जिनका अन्य यूनिवर्सिटियो की अपेक्षा, शायद अनुचित रूप से, अभीतक अधिक नाम है, इनके बारे में यह बात विशेष रूप से सत्य है। आक्सफर्ड में शायद बीस कालिज हैं और एक कालिज में दर्जन भर खाली स्थानो के लिये सौ-सौ अर्जियां आना कोई असाधारण बात नहीं है। यह एक स्वस्थ प्रवृत्ति है और आजकल आक्सफर्ड में सामाजिक महत्वाकाक्षायें रखने वाला आलसी युवक नहीं पाया जाता। परन्तु इस प्रवृत्ति के अपने खतरे हैं। तमाम अर्जी देने वालो से मुलाकात करना मेरा काम है,और इसके बाद बरबस मेरे मन में अचरज होता है कि कहाँ तक एक प्राचीन

रिहाइशी यूनिवर्सिटी इन सब नवयुवकों (और मैं समझता हूँ नव-युवतियों) के लिये शिक्षा का श्रेष्ठ माध्यम हो सकती है। मुझे लगता है कि इनमें कुछ तो अपनी बुद्धि या अपने स्वभाव के कारण यूनिवर्सिटी में शिक्षा पाने के योग्य ही नहीं हैं, और इस बीस वर्ष की आयु में वे किसी अमली काम में अधिक अच्छे रह सकते हैं। शिक्षा के सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम और जीविकोपार्जन के बीच की एक अवस्था एक तकनीकी कालिज होता है, और हम में से अधिकतर इस बात से सहमत हैं कि तकनीकी शिक्षा में इंग्लैंड बहुत पिछड़ा हुआ है। अमरीका की अपेक्षा तो वह निश्चय ही बहुत पीछे है। और फिर वे विद्यार्थी जो २२ साल या उससे अधिक आयु तक आगे पढ़ने के योग्य भी हैं, अपने लड़कपन में, सैनिक सेवा के कारण, इतना कठिन परिश्रम कर चुके हैं, कि जब तक वे यहाँ पहुँचते हैं, तबतक उनका जीव-बल क्षीण हो चुका होता है, और वे इतने निर्लोच हो जाते हैं कि जो कुछ उनको यहाँ मिलता है उस से वे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। आजकल सरकार की ओर से उदार मात्रा में जो सहायता मिलती है उसका एक बहुत अच्छा फल यह हुआ है कि अब एक निर्धन लड़के के लिये भी अक्सफर्ड या कैम्ब्रिज तक पहुँचने की अच्छी सम्भावना रहती है, और उसे उस कठिन प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता जो कालिज द्वारा दी जाने वाली छात्रवृत्तियों के लिए होती है। पिछले दो वर्षों में इंग्लैंड और अमरीका की और भी अनेक यूनिवर्सिटियों को देखकर मैं रिहाइशी यूनिवर्सिटी के विशिष्ट लाभों को अच्छी तरह से समझ सका हूँ। शिक्षा में जो कुछ सबसे अधिक मूल्य का होता है वह यहाँ, कक्षाओं के बाहर पुस्तकालयों में सीखा जाता है, या फिर यह छात्रों के कमरों में हासिल होता है जहाँ अनौपचारिक गोष्ठियाँ होती हैं और चर्चायें चलती हैं, जिनमें अक्सर जोश और अज्ञान की मात्रा तो काफी रहती है, परन्तु जिनका फल यह होता है कि उनमें भाग लेने वालों में उदारवृत्ति का संसार हो जाता है। रिहाइशी युनिवर्सिटी की आर्थिक समस्यायें बहुत बड़ी होती हैं, परन्तु जहाँ रिहाइश सम्भव न भी हो वहाँ भी अनौपचारिक चर्चाओं और वादविवादों के अवसर एक अच्छी यूनिवर्सिटी का सार हैं।

अब एक दूसरा प्रश्न शेष रहता है जो किसी भी यूनिवर्सिटी के मूल तक पहुँचता है। देश के जीवन और उस की शिक्षा में इस यूनिवर्सिटी का क्या कार्य है? इसमें कोई संदेह नहीं कि आज कल पहले की अपेक्षा शिक्षण बहुत अधिक सुसगठित है, और इस पर किसी को भी खेद नहीं हो सकता। परन्तु इससे यह खतरा जरूर बढ़ जाता है कि युनिवर्सिटी को एक बढ़िया प्रकार का हाई स्कूल न समझा जाने लगे। यहाँ मैं समझता हूँ कि यूनिवर्सिटी के इतिहास और उद्गम के कुछ ज्ञान का बड़ा महत्व है। परन्तु मैं देखता हूँ कि विशेष रूप से विज्ञान

के विद्यार्थियों को यूनिवर्सिटी के उद्गम में कोई रुचि नहीं होती। यूनिवर्सिटी का उद्गम इस प्रकार हुआ था कि विद्यार्थियों का एक दल ज्ञान को केवल ज्ञान के लिये उपार्जन करने के उद्देश्य से एक जगह इकट्ठा हो गया और किसी प्रख्यात व्यक्ति को अपना गुरु बना लिया। उदाहरण के लिये पेरिस और पडुआ की यूनिवर्सिटीयों का प्रादुर्भाव इसी प्रकार हुआ था। एक प्रकार से यूनिवर्सिटियां अब भी अपने उद्गम और अपने कार्य के प्रति सच्ची रह सकती हैं, यदि उनमें अवर विद्यार्थी न हों। इस समय मैं इस पर और अधिक कुछ कहना नहीं चाहता पर मैंने सुना है कि पूरब के विद्यार्थी किसी भी वस्तु के इतिहास में रुचि नहीं रखते। जीवन के प्रति एक भावात्मक और असंसारी दृष्टिकोण, और प्रगति की ओर से मौलिक निराशावाद, इतिहास में रुचि को कम करते हैं। परन्तु पच्छिम में हमने इस बात में विश्वास करना सीखा है कि जबतक आप यह नहीं जानते कि किसी वस्तु का विकास किस प्रकार हुआ है, तब तक आप उस वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। मैं मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि प्रगति के संबंध में हमारा अपना पहला विश्वास पिछले पचास वर्षों में बुरी तरह हिल गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम वस्तुओं के इतिहास और उद्गम में एक सच्ची रुचि न रखें। क्या यह सच है कि प्राचीन भारत के इतिहास के लिये किसी प्रकार के कोई अभिलेख नहीं हैं, और हमें तारीखों की सहायता के बिना ही घटनावलियों का आविष्कार करना पड़ता है। पच्छिम में हम ने कम से कम दो स्रोतों से ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखना सीखा है, एक तो यूनानियों और रोमनों से, जिनको अपनी परम्परा पर गर्व था, और घटनाओं के प्रति जिन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण था, और दूसरे यहूदियों से जो अपने ईश्वर को एक ऐसा ईश्वर मानते थे, जो अपना कार्य इतिहास के द्वारा ही करता है, जिसका आदि भी है और अन्त भी। मैं बड़ी विनय से पूछता हूँ कि क्या यह ऐतिहासिक चेतना एक ऐसी वस्तु है जो पूरब लाभदायक ढंग से पच्छिम से ले सकता है। हमें लगता है कि इनसान स्वाभाविक रूप से ही अतीत में कुछ रुचि रखते हैं, जिसने उन्हें उनका आधुनिक रूप दिया है, और यदि उन्हें कोई अभिलिखित अतीत नहीं मिलता तो वे एक ऐसा अतीत गढ़ लेंगे, जिससे उनकी साख बढ़े।

दूसरी ओर दार्शनिक और धार्मिक ज्ञान के अर्थ में, ज्ञान के लिये ज्ञान उपार्जन की परम्परा पच्छिम की अपेक्षा पूरब में अधिक पुष्ट हुई है, और इस क्षेत्र में पच्छिम के विचारक पूरब के ऋषियों की 'शागिर्दी' कर सकते हैं। परन्तु ज्ञान और दर्शन पर इस प्रकार ज़ोर देना शिक्षा के किसी पाठ्यक्रम की एक मद नहीं हो सकती। यह तो अध्ययन के समस्त कार्य की ओर एक दृष्टिकोण है जिसका

विकास यूनिवर्सिटी की अवस्था से और यू कहिये कि स्कूल की अवस्था, से भी पहले होना है।

मैं स्वयं अपने शिक्षा के अनुभव में यह कभी नहीं भूलता कि जो लड़के और नवयुवक स्कूलों में आते हैं वे बहुत करके वैसे ही होते हैं, जैसा उन्हें उनके घरों में बनाया जाता है। लोगों का कहना है कि शिक्षा की सबसे पहली अधिकारी संस्था घर ही होती है। इंग्लैंड में सदियों तक बच्चे की प्रारंभिक पढ़ाई घर में ही होती थी, और स्कूलों को इस बात का भरोसा होता था कि घरों में ही बच्चों के लिये कथाओं और प्रार्थनाओं के रूप में एक सरल और परम्परागत ज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार हो जायेगी यह कथा हर भला आदमी अपने बेटे को सिखायेगा इत्यादि। स्कूलों का उनके छात्रों पर विविध प्रकार का प्रभाव पड़ता है, और जिस स्कूल का अपना एक दृढ़ स्वरूप और चरित्र होता है, उसकी छाप उसके तमाम सदस्यों पर पड़ती है।

परन्तु जबतक स्कूलों और बच्चों के अपने घरों के बीच कुछ सन्नेपण न हो तबतक उनके बीच संघर्ष रहेगा। छोटे बालक के सामने दो स्तर होंगे। सोलह वर्ष की आयु में तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है और इस प्रकार के खिंचाव का बच्चा के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। परन्तु छब्बीस वर्ष की आयु पर भी दो स्तर होना गलत है, और इस एक सकलित चरित्र के निर्माण में बाधा पड़ती है। यूनिवर्सिटियों के अनेक अवर विद्यार्थियों को मैं जानता हूँ जिनके व्यक्तिगत जीवन में यह प्रश्न बड़ा विकट हो गया है। आक्सफर्ड के दरवाजे अब विद्यार्थियों के बहुत अधिक विस्तृत वर्ग के लिये खुल गये हैं, और अनेक सरलजीवी, अपरिष्कृत और बहुधा अदक्ष घरों के लड़के सहसा एक ऐसी दुनिया में आ जाते हैं जिसकी संस्कृति अधिक पुरानी है। इनमें बहुत से नवयुवक तो, ऐसा प्रतीत होता है कि बड़े प्रशसनीय ढग से इस नये वातावरण के अनुकूल अपने आपको ढाल लेते है उनके माता पिता को उन पर गर्व होता है और वे भी अपने माता-पिता को कोई लज्जा का कारण नही समझते। परन्तु हर दशा में ऐसा नही होता, और फिर जो संघर्ष पैदा होता है उससे माता पिता के मनमें ऐसी शिक्षा के प्रति दावा, और नव-युवक के मनमें अपने सीधे-सादे घरेलू जीवन के प्रति तिरस्कार की भावना पैदा हो जाने की संभावना रहती है। हमारी ओर से इस समस्या का हल यही हो सकता है कि हम अपने किसी भी बौद्धिक मान को गिराये बिना, अनेक और बड़े विभिन्न वातावरणों में पले हुये लड़को के प्रति मैत्री भाव और सहानुभूति बनाये रहें। इग्लैंड में लोकतन्त्र का विस्तार होने से यह समस्या बड़ी विकट हो गई है। क्या भारत में और दूसरे पूरबी देशों में भी, जहाँ पश्चिमी शिक्षा

और पच्छिमी भौतिकवाद के सहसा समाधान ने इसी प्रकार का एक संघर्ष पैदा कर दिया है, एक तुल्य समस्या है ? क्या यह संभव है कि जो विद्यार्थी सर्वथा दोष रहित अंग्रेजी बोल सकते हैं, और जिन को मिलटन और मैथ्यू आर्नाल्ड जबानी याद है, वे शिक्षा समाप्त करके एक ऐसे जीवन मार्ग पर लौट आयेंगे जिसे मिलटन और मैं काले शायद ही पसन्द करते ? अगर ऐसा है तो यह विद्यार्थी भले ही संस्कृति के सुन्दर पुष्प हों, परन्तु मानो कटे पुष्पों के समान हैं, ऐसे पुष्पों के जो फूलदान में रखे हुये हैं, परन्तु जिनकी कोई जड़ें नहीं है, जिनके द्वारा वे अपने अपने परिवारों में जो शिक्षा उन्होंने पाई है, और जो दृष्टिकोण बनाया है उसे स्थायी रूप दे सकें। यह खतरा तब तक अनिवार्य रूप से बना रहेगा जब तक कि संस्कृति अपने विस्तृत अर्थ में, युनिवर्सिटियों से होकर अगली पीढ़ी के घरों तक नहीं पहुँच जाती।

इन सब विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि पूरब और पच्छिम के बीच किसी न किसी प्रकार का सेतु होना ही चाहिये। परन्तु फिलहाल तो वह इन दोनों के बीच अनिवार्य रूप से जो चौड़ी खाई हो गयी है, उन्हीं को पाटने वाला एक सेतु मात्र रहेगा। क्योंकि इस खाई के दोनों ओर की सभ्यतायें अपनी अपनी ओर इतनी दूर तक पीछे फैली हुई हैं कि इनका वास्तविक समिश्रण नहीं हो सकता। इस प्रकार का सेतु बनाने में अथवा जो सेतु अब है उनको दृढ़ करने में शिक्षा एक प्रमुख साधन होगी। इस शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं होगा कि एक ओर की भावनाओं को दूसरी ओर इस प्रकार फैलाया जाय कि उन्हें अपनी परम्पराओं के प्रति निष्ठा न रहे, बल्कि इसका उद्देश्य यह होगा कि हम एक ऐसे दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति रख सकें जो पहले पहल हमें अवश्य ही बड़ा अजीब और कई बातों में अनाकर्षक सा लगेगा। इस शिक्षा को केवल ऊपरी स्तर पर नकल करना ही नहीं सिखाना चाहिये। हमारी और हमारी शिक्षा का संगठित रूप कोई ऐसी चीज नहीं है जिस पर हम गर्व कर सकें। यह याद रखना चाहिये कि हमारी शिक्षा व्यवस्था ने तो अभी उन समस्याओं से भिड़ना शुरू ही किया है, जो इंग्लैंड की पिछले तीस वर्षों की सामाजिक क्रान्ति से पैदा हुई हैं। हम अभी तक आज़माइश और गलतियाँ कर कर ही आगे बढ़ रहे हैं। परन्तु हमारे संगठन के पीछे एक सच्चा आदर्श है, पच्छिम को एक ऐसी संस्कृति का आदर्श जो शास्त्रसम्मत ईसाई मत की नीवों पर आधारित हो, और जिसका दृष्टिकोण ऐतिहासिक हो। हमारा विश्वास है कि यह आदर्श दूसरों के नकल करने के लिये तो नहीं परन्तु हाँ सहानुभूति से अध्ययन करने लायक अवश्य है। इसी प्रकार इसकी विपरीत प्रक्रिया से भी हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। इसका

यह अर्थ है कि निरे छात्रों के स्तर पर अथवा स्कूलों के स्तर पर ही नहीं, परन्तु समुदाय के नैसर्गिक अविश्लेषित दृष्टिकोण के स्तर पर भी सम्पर्क स्थापित होने चाहियें।

पूरब और पच्छिम के देशों में मनुष्यों की संकल्पना और शिक्षा-दर्शन

रासबिहारी दास

यहाँ मेरा उद्देश्य बुनियादी दस्तावेज की आलोचना करना नही है। परन्तु शायद मैं अपने दृष्टिकोण का विस्तार अधिक अच्छी तरह से कर सकूगा यदि मैं यह बता दू कि इस दस्तावेज की किन-किन प्रत्यक्ष मान्यताओ से मेरा मतभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस दस्तावेज में यह मान लिया गया है कि पूरब में एक प्रकार की सभ्यता है और पच्छिम में एक बिलकुल ही अलग दूसरी सभ्यता है, जिसका फल यह हुआ है कि दोनो प्रदेशो के लोगों के बीच सघर्ष का अकुर पैदा हो गया है, और अब परस्पर सद्भावना के द्वारा ही इस सघर्ष की सभावना को मिटाया अथवा न्यूनतम किया जा सकता है। परन्तु स्वय इस दस्तावेज में ही यह भी माना गया है कि पूरब में केवल एक ही सभ्यता नही है। वहा अनेक सभ्यतायें हैं और हो सकता है कि हम उन में कोई एकता न पा सकें। इसलिये मानव सभ्यता में पूरब और पच्छिम का भेद करना कोई अर्थ नही रखता। मेरा दूसरा मतभेद यह है कि मैं इस मान्यता पर गहरी आपत्ति करता हूँ कि दो देशों के लोगो के बीच सघर्ष कभी भी उनकी अपनी अपनी सभ्यताओं के परस्पर विरोधी दृष्टि-कोणो के कारण पैदा होता है। इग्लैंड और फ्रास अथवा फ्रास और जर्मनी की सभ्यता को हम एक कह सकते हैं, फिर भी उनके बीच बहुधा सघर्ष होते रहे हैं। मेरा यह निश्चित मत है कि राष्ट्रो और व्यक्तियो में जो सघर्ष पैदा होते है वे उनकी सभ्यता के दृष्टिकोणो के कारण नही होते अपितु उनके चरित्र में जो असभ्य-तत्व हैं उनके कारण होते हैं।

मैंने विभिन्न सभ्यताओं की चर्चा प्रचलित परिपाटी के अनुसार की है। परन्तु यह सवाल उठाया जा सकता है कि सभ्यताओ को विभिन्न कहना कुछ मानी भी रखता है या नही। सभ्यता तो आखिर मनुष्यो की होती है न कि जड पदार्थों की, और मनुष्य अपने हृदय और अन्तरात्मा के कुछ विशेष लक्षणो के कारण ही सभ्य या असभ्य होते हैं। अत अपने विशिष्ट अर्थ में कुछ बौद्धिक और आध्या-त्मिक श्रेष्ठता को ही सभ्यता कहा जाता है, जैसे एक प्रकार की भौतिक अथवा शारीरिक श्रेष्ठता को स्वास्थ्य कहते हैं। स्वास्थ्य का अर्थ एक अमरीकन और एक जर्मन के लिये अलग-अलग नहीं होता (वरना चिकित्सा शास्त्र का जो

यह अर्थ है कि निरे छात्रों के स्तर पर अथवा स्कूलों के स्तर पर ही नहीं, परन्तु समुदाय के नैसर्गिक अविश्लेषित दृष्टिकोण के स्तर पर भी सम्पर्क स्थापित होने चाहिये।

का अनुसरण करता है वही उसके आदर्शों के द्योतक होते है। यदि आदर्श मनुष्य के जीवन को रूप देते है तो हम यह भी कह सकते है कि संस्कृति ही मनुष्य को बनाती है।

मैंने यहाँ संस्कृति की आदर्शात्मक सकल्पना को लिया है, जो कि मानवविज्ञानी की उस तथ्यात्मक सकल्पना से बहुत भिन्न है, जिसकी स्थानीय और कालिक सीमायें होती है। संस्कृति से मेरा आशय एक ऐसी चीज से है जिसे एक विवेकात्मक जीव को अपने जीवन में प्राप्त करना चाहिये, और जो एक ऐसा हित है जिसका स्वयं उसके लिये ही अनुसरण करना चाहिये। मनुष्य के जीवन के लिये यह स्पष्ट ही बडी बुराई की बात है कि उसमे संस्कृति का अभाव है। इसके विपरीत जब हम कहते हैं कि कोई मनुष्य बहुत संस्कृति सम्पन्न है तो यह उसकी बहुत अधिक बडाई समझी जाती है।

इसके अतिरिक्त जैसा, मैंने पहले भी कहा है, मैं संस्कृति के अखिल मानवीय स्वरूप पर भी ज़ोर देना चाहूँगा। यदि संस्कृति मानवजीवन के आदर्श को दर्शाती है तो वह अलग-अलग लोगो के लिये अलग अलग नही हो सकती। यदि सत्य, शिव और सुन्दर अलग-अलग लोगो के लिये अलग अलग नही है तो आदर्श संस्कृति जिसमें इन तीनो का समावेश होना चाहिये देश और काल के साथ बदल नही सकती। अलग अलग लोग अपने अपने ढग से मानवता के एक परम आदर्श के अनुसार अपने आप को ढालने का प्रयत्न करते हैं। अपने-अपने मन्दिरो, मस्जिदो, गिरजो और इबादतखानो में हम सब एक ही ईश्वर की उपासना करते हैं।

परन्तु वास्तव में सभी मनुष्यो में जीवन के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण करने की योग्यता नही होती। मनुष्य के स्वभाव की रचना बडी जटिल होती है। यदि इसका एक पहलू उसके दूसरे पहलुओ पर प्रभावी हो जाये तो उसके अनुसार ही वह जीवन का एक विशेष ढग अपना लेता है, जो उसके स्वभाव के अनुकूल उसे सतोष देता है।

जिसको मैं मनुष्य का वास्तविक स्वभाव समझता हूँ उसका मैं कोई आलोचनात्मक विस्तार यहाँ नही कर सकता। मैं यहाँ अपने विचार किंचित साग्रह रूप से आप के सामने रखकर सतोष करूँगा।

मनुष्य का प्रत्यक्ष रूप से अपने शरीर के साथ ऐक्य है, और कोई मनुष्य भी अपने भौतिक कलेवर से अलग नही पाया जाता। परन्तु उसके समस्त अस्तित्व को हम निरे भौतिक मानो के द्वारा ही नही समझ सकते। परम्परागत भाषा में हम कह सकते हैं कि उसमें मन, आत्मा अथवा विवेक के तत्व भी हैं।

अस्तित्व ही न रह सकेगा)। इसी प्रकार सभ्यता के सार और आदर्श की दृष्टि से, उसका अर्थ भी सबके लिये एक ही होना चाहिये। जिनको हम विभिन्न सभ्यतायें कहते हैं, वे या तो सभ्यता के आदर्श की प्राप्ति की ओर हमारी प्रगति की अलग अलग अवस्थायें हैं या फिर विभिन्न परिस्थितियों में सभ्यता की विभिन्न अभिव्यक्तियां अथवा बाह्य प्रकार हैं।

जब हम किसी देश की सभ्यता की चर्चा करते हैं तो बहुत करके हमारी धारणा यह होती है कि उस देश के सब लोगों की कमोबेश एक ही प्रकार की सभ्यता है। परन्तु *असल में एक ही देश के विभिन्न व्यक्ति एक ही प्रकार से या एक ही* अवस्था तक सभ्य नहीं होते। एक सभ्य भारतीय और एक सभ्य अंग्रेज में सार रूप से कोई अंतर नहीं होता, चाहे उनकी वेशभूषा और उनकी बोली अलग हों। परन्तु भीतर से वे अपने ही देशवासियों से, जो उनके मुकाबले में कम सभ्य हैं, परन्तु जिनकी वेशभूषा और बोली उनके समान ही है, बहुत अधिक भिन्न होंगे।

अगर यह सच है कि तमाम संघर्ष हमारे अपने स्वभाव के असभ्य तत्वों से पैदा होते हैं तो संसार में सामंजस्य और शान्ति के लिये जिस बात की आवश्यकता है वह तथाकथित विभिन्न सभ्यताओं के बीच केवल सद्भावना ही नहीं बल्कि अपने मन और अपनी नीयत को अनुशासित करके हमें अपने आपको सभ्य बनाने का एक सच्चा प्रयास करना है। हम जब कोई बुराई करते हैं तो इसलिये नहीं कि हमें सूझता ठीक नहीं, बल्कि इसलिये कि हमारी नीयत बुरी है। फिर भी मनुष्य की मौजूदा दुखमय अवस्था को सुधारने या बदलने के लिये जो सद्विचार प्रयास हम करते हैं, उसमें इस बात से बहुत अधिक सहायता मिलेगी कि हम मनुष्य की ऐतिहासिक वास्तविकता को ही लेकर नहीं, बल्कि विशेष रूप से उसके अनैतिहासिक अध्यात्मिक आदर्शस्वरूप को लेकर भी, उसकी प्रकृति को समझें।

यदि हम यह जानना चाहते हैं कि मनुष्य है क्या तो हमें यह जानना चाहिये कि वह करता क्या है। एक मनुष्य की हैसियत से जो कुछ वह अपने विवेक से करता है उसके पीछे सदा एक आदर्श होता जिसे वह अपने कामों से पाना चाहता है। यदि किसी मनुष्य के जीवन को उसके कामों से अलग न किया जा सके तो हमें मानना पड़ेगा कि उसके आदर्श उसके स्वभाव का अंतरंग भाग बन गये हैं। मनुष्य के जीवन का आदर्श ही वह ईश्वर होता है जिसकी वह वास्तव में उपासना करता है। यही वह ईश्वर है जो उसे अपने रूप में ढालता है। कोई दूसरा ईश्वर जिसका मनुष्य के आदर्श से संबंध नहीं है, केवल एक बुत है, एक कल्पना है। कुछ भी हो यह तो आसानी से देखा जा सकता है कि आदर्श ही संस्कृति के सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। एक मनुष्य या समुदाय जिन आदर्शों

का अनुसरण करता है वही उसके आदर्शों के द्योतक होते है। यदि आदर्श मनुष्य के जीवन को रूप देते हैं तो हम यह भी कह सकते है कि संस्कृति ही मनुष्य को बनाती है।

मैंने यहाँ संस्कृति की आदर्शात्मक सकल्पना को लिया है, जो कि मानवविज्ञानी की उस तथ्यात्मक संकल्पना से बहुत भिन्न है, जिसकी स्थानीय और कालिक सीमायें होती हैं। संस्कृति से मेरा आशय एक ऐसी चीज से है जिसे एक विवेकात्मक जीव को अपने जीवन में प्राप्त करना चाहिये, और जो एक ऐसा हित है जिसका स्वयं उसके लिये ही अनुसरण करना चाहिये। मनुष्य के जीवन के लिये यह स्पष्ट ही बडी बुराई की बात है कि उसमें संस्कृति का अभाव है। इसके विपरीत जब हम कहते हैं कि कोई मनुष्य बहुत संस्कृति सम्पन्न है तो यह उसकी बहुत अधिक बडाई समझी जाती है।

इसके अतिरिक्त जैसा, मैंने पहले भी कहा है, मैं संस्कृति के अखिल मानवीय स्वरूप पर भी जोर देना चाहूँगा। यदि संस्कृति मानवजीवन के आदर्श को दर्शाती है तो वह अलग-अलग लोगो के लिये अलग अलग नही हो सकती। यदि सत्य, शिव और सुन्दर अलग-अलग लोगो के लिये अलग-अलग नही है तो आदर्श संस्कृति जिसमें इन तीनो का समावेश होना चाहिये देश और काल के साथ बदल नही सकती। अलग अलग लोग अपने अपने ढग से मानवता के एक परम आदर्श के अनुसार अपने आप को ढालने का प्रयत्न करते है। अपने-अपने मन्दिरो, मस्जिदो, गिरजों और इबादतखानो में हम सब एक ही ईश्वर की उपासना करते है।

परन्तु वास्तव में सभी मनुष्यो में जीवन के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण करने की योग्यता नही होती। मनुष्य के स्वभाव की रचना बडी जटिल होती है। यदि इसका एक पहलू उसके दूसरे पहलुओ पर प्रभावी हो जाये तो उसके अनुसार ही वह जीवन का एक विशेष ढग अपना लेता है जो उसके स्वभाव के अनुकूल उसे सतोष देता है।

जिसको मै मनुष्य का वास्तविक स्वभाव समझता हूँ उसका मै कोई आलोचनात्मक विस्तार यहाँ नही कर सकता। मैं यहाँ अपने विचार किंचित साग्रह रूप से आप के सामने रखकर सतोष करूँगा।

मनुष्य का प्रत्यक्ष रूप से अपने शरीर के साथ ऐक्य है, और कोई मनुष्य भी अपने भौतिक कलेवर से अलग नही पाया जाता। परन्तु उसके समस्त अस्तित्व को हम निरे भौतिक मानो के द्वारा ही नही समझ सकते। परम्परागत भाषा में हम कह सकते हैं कि उसमें मन, आत्मा अथवा विवेक के तत्व भी है।

हम उसे शरीर, बुद्धि और आत्मा की इकाई मान सकते हैं। यदि हम इनमें से किसी एक तत्व की उपेक्षा करें, चाहे बुद्धि की चाहे आत्मा की, तो हम मानव स्वभाव की यथार्थता को झुठलाते हैं। तब हमारे सामने या तो एक पशु रह जाता है या फिर ईश्वर, परन्तु मनुष्य नहीं रहता।

शरीर हमारे अस्तित्व का संवेदनाशील द्रव्यात्मक अंश है। मन से हमारे अन्दर चेतना और प्रज्ञा, और दूसरे भौतिक लक्षण पैदा होते हैं जिनका हमारे और अन्य उच्च जीवों के बीच सामान्य है। और परम आदर्शों (अथवा परम मूल्यों) की जो शुद्ध कल्पना हम कर सकते हैं और उनके प्रति निष्ठा की जो भावना हमारे अन्दर होती है वह सब आत्मा अथवा विवेक के कारण है। अभी तक हमें इन विभिन्न तत्वों के परस्पर संबंधों के विषय में कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। पर इतना हम अवश्य जानते हैं कि आत्मा प्रज्ञा के बिना अपना कार्य नहीं कर सकती, और प्रज्ञा और मन शारीरिक कार्यों से अलग रहकर अपना काम नहीं कर सकते।

यह सारे तत्व प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान तो होते हैं, परन्तु उनका महत्व एक सा नहीं होता। हमें शरीर की अपेक्षा मन को, और मन की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्व देना चाहिये। वास्तव में एक मनुष्य दूसरे से उसी मात्रा में अच्छा होता है जितनी मात्रा में वह अपने स्वभाव के श्रेष्ठ अंशों को अधिक महत्व देता है।

प्रतीक रूप से हम मनुष्य की इस प्रकार से कल्पना कर सकते हैं कि वह शरीर से बंधी हुई आत्मा है। उसकी संस्कृति या सभ्यता (हम यह कह सकते हैं कि उसका सच्चा धर्म) इसीमें है कि वह अपने आपको अपने शरीर के प्रभुत्व से मुक्त कर या अपने मन को अपनी शारीरिक कामनाओं को पूरा करने की अपेक्षा अध्यात्मिक आदर्शों को पूरा करने में अधिक लगाये (यद्यपि हमारे स्वभाव के किसी अंश की भी वास्तव में उपेक्षा नहीं की जा सकती)। हम देखते हैं कि जब हम अध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा भौतिक पदार्थों की अधिकाधिक प्राप्ति का प्रयास करते हैं तो हम अपने आपको गिरा देते हैं और अनेक प्रकार के निन्द्य कलहों और संघर्षों में फंस जाते हैं।

अध्यात्मिक मूल्य क्या होते हैं? हमारे मतलब के लिये हम चेतना या विचार, अनुभूति और इच्छा में जो विभाजन आम तौर पर किया जाता है, उसी को स्वीकार कर सकते हैं। विचार, अनुभूति और इच्छा मन के कार्य हैं, जब उनका संबंध निरे तथ्यों अथवा साधारण विषयों से होता है। जब उनको आदर्शों की ओर लगा दिया जाता है तब सच्चे अर्थ में उनको अध्यात्मिक कार्य कहा जा सकता है

और परम्परा में इन अध्यात्मिक कार्यों के जो आदर्श माने जाते हैं वे हैं, सत्य, शिव और सुन्दरम्।

इन आदर्शों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार से की जा सकती है और अलग-अलग ढग से इन्हें रूप दिया जा सकता है, परन्तु मुझे पक्का विश्वास है जो आदर्श मनुष्य के योग्य हैं उनकी विशुद्ध भौतिक मानो के द्वारा कल्पना नही की जा सकती। एक अर्थ में ये असंसारी हैं और वे हमारे मानव स्वभाव को गौरव और मूल्य प्रदान करते हैं। असल संस्कृति इसीमें है कि इन आदर्शों को अधिकाधिक सम्यक् रूप से समझा जाये।

जैसा कि मैं समझता हूँ, शिक्षा के दर्शन का सबसे बडा महत्व का काम यह है कि उन आदर्शों को जिनके लिये मनुष्यो को जीना चाहिये, स्पष्ट रूप से अपनी चेतना के सामने लाये, और तब ऐसे उचित साधन ढूढे जिनके द्वारा उन आदर्शों को युवक विद्यार्थियो के मनमें प्रभावी रूप से बिठाया जा सके।

शिक्षा का केवल यही अर्थ नही हो सकता कि वह हमारी विभावताओ का विकास करें, क्योकि हमारे अन्दर अच्छाई और बुराई दोनो की विभवतायें हैं। और न इसका अर्थ केवल जीवन के लिये तैयारी करना हो सकता है, क्योकि जीवन तो प्रशसनीय और निन्द्य दोनो प्रकार का हो सकता है। हमारे शिक्षादाताओ को यह साफ समझ लेना चाहियें कि वे हमारे अन्दर किस प्रकार की विभवताओ का विकास करना चाहते हैं, किस प्रकार के जीवन के लिये वह हमें शिक्षित करना चाहते हैं। अर्थात् पहले हमे उन आदर्शों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये और उनका आदर करना चाहिये, जो संस्कृति के सारभूत तत्व हैं।

परन्तु सब मनुष्य उच्चतम आदर्शों का अनुसरण करने के योग्य नही होते। जैसा हमने ऊपर कहा है, अलग-अलग लोगो के, चाहे वे एक ही देश में रहते हो और यहाँ तक कि एक ही परिवार के भी हो, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के स्तर बहुधा भिन्न होते हैं, और इस कारण वे सब उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नही कर सकते। कई लोगों के लिये केवल शारीरिक स्वास्थ्य ही एक अच्छा आदर्श होता है, उनसे कुछ कम गिनती के लोग ऐसे हैं जिनका ध्येय नैतिक और बौद्धिक श्रेष्ठता होता है, उनसे भी कम गिनती के लोग वे हैं जो उच्चतर आध्यात्मिकता की आकांक्षा कर सकते हैं। एक सुसगठित समाज में विभिन्न आदर्श रखने वाले लोगो के लिये स्थान होना चाहिये, और उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रबध होना चाहिये।

हमारे अदर बडा वर्ण भेद भले ही न हो, और होना भी नही चाहिये, परन्तु हम तमाम भेदो को मिटा नहीं सकते। सत और सिपाही, विद्वान और कसरती,

दार्शनिक और सौदागर, इन सब को एक समरूप पुंज में अदर विलीन नहीं किया जा सकता। यदि हमें घोर अव्यवस्था और गड़बड़ से बचना है तो हमें वर्गों का एक ऐसा क्रम बनाना चाहिये जिसे सब लोग अच्छी तरह समझ लें और जो उनके विभिन्न आदर्शों पर आधारित हो। परन्तु इनमें सर्वोच्च पद उन्हीं का होना चाहिये जो श्रेष्ठ आध्यात्मिक आदर्शों की ओर निर्देश कर सकें, उनका प्रचार कर सकें और उन पर स्वयं चल सकें। इन लोगों को जन साधारण का मार्ग-प्रदर्शन करना चाहिये और उनके मामलों को अपने हाथ में रखना चाहिये, परन्तु इससे वे किसी प्रकार का भौतिक लाभ प्राप्त न कर सकें ऐसा प्रबन्ध भी होना चाहिये। प्लेटो का दार्शनिक राजनीतिज्ञ, जिसके न कोई परिवार के बंधन होते थे, और न जिस के पास कोई धन दौलत थी, अथवा प्राचीन हिन्दू ऋषि, जो राजाओं पर शासन करते थे परन्तु कोई भौतिक संपदा जिनके पास न होती थी, इस प्रकार के यदि कोई लोग हों तो संभव है कि वे आज के विक्षुब्ध जगत को एक अधिक अच्छी स्थिति में ला सकें।

हमें लोकतंत्र की जड़पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। आखिरकार यह भी हुकूमत अथवा राजनीतिक प्रशासन का एक रूप ही है, जिसका काम हमारे दुनियावी मामलों और बाह्य जन सम्पर्कों को विनियमित करना है। यह हमारे अस्तित्व के सब पक्षों को नहीं छूता और हमारी आत्मा के सर्वोत्कृष्ट कार्यकलाप का हेतु नहीं बन सकता। और फिर यह भी है कि आज जिस प्रकार लोकतंत्र का संगठन किया जा रहा है, उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसार को अर्ध शिक्षित पत्रकारों और बेईमान पैसे वालों की दया पर छोड़ दिया गया है। यह कोई आदर्श स्थिति नहीं है। समाज में बहुसंख्यकों का नहीं बल्कि विवेक का राज्य होना चाहिये। सब लोगों में विवेक समानरूप से शक्तिमान अथवा प्रबुद्ध नहीं होता। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जिनका विवेक ठीक प्रकार का होता है और जो लोभ और द्वेष के प्रभाव में न आकर इस विवेक के अनुसार ही अपने सारे काम करते हैं। इसलिये जब हम किसी प्रश्न का हल निरे बहुमत से करते हैं तो इस बात का कोई भरोसा नहीं कि हमारा निर्णय न्याय्य या विवेकपूर्ण ही हो। किसी भी प्रश्न पर हम एक विशेषज्ञ की राय का बहुत आदर करते हैं, इससे भी यही सिद्ध होता है।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि मैंने लोकतंत्र के प्रति न्याय नहीं किया है, क्योंकि वह केवल हुकूमत का एक प्रकार ही नहीं है बल्कि जीवन का एक मार्ग है, और इसके ऐसे पहलू हैं जो स्वयं अपने में बहुत मूल्यवान हैं। उदाहरण के लिये यह व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखता है, और आज़ादी और समता

का समर्थन करता है, तथा मानव के व्यक्तित्व के अनुपम मूल्य को मानता है। निश्चय ही आधुनिक संसार को लोकतंत्र की यह एक बड़ी कीमती देन है।

मेरी यह बिलकुल इच्छा नहीं है कि लोकतंत्र ने मानवता का जो हित किया है, उसकी मैं निन्दा करूँ। मेरी कठिनाई केवल यह है कि जिन मूल्यों का अनुसेवन लोकतंत्र करता है, अथवा जिनको विशेष मान्यता देता है, उन्हें मैं श्रेष्ठ प्रकार के अथवा परम मूल्य मानने में असमर्थ हूँ।

मेरे विचार में हमारे कर्तव्यों का हमारे अधिकारों से अधिक महत्व है, और अधिकारों पर अनुचित रूप से ज़ोर देने से बुरे नतीजे भी निकल सकते हैं। हमें अपने अधिकार मांगने की अपेक्षा अपने कर्तव्यों के प्रति अधिक सजग होना चाहिये। अगर सब लोग अपना कर्तव्य निभायें तो हो सकता है कि किसी को अपने अधिकारों की ओर ध्यान खींचने का अवसर ही न आये।

जहाँ तक समता का संबंध है, मैं न तो स्पष्ट रूप से यह देख पाता हूँ कि वह एक तथ्य है न यह कि वह अपने आप में कोई अभीष्ट वस्तु है। किसी न किसी रूप में कोई भी किसी के बराबर हो सकता है। एक परिवर्तनशील पदार्थ होने के नाते मैं क्षुद्रतम मिट्टी के लौंदे के बराबर हूँ। बड़ा सवाल तो यह है कि किस रूप में किसी को किसी दूसरे के बराबर कहा जाता है या उसे होना चाहिये। और मैं यह नहीं देख पाता कि किसी भी महत्वपूर्ण रूप में सब मनुष्यों के बीच समता है अथवा हो सकती है। केवल एक बहुत ऊपरी प्रकार से हम कह सकते हैं कि एक जज और जल्लाद बराबर हैं। यदि हम उन की समझ के विस्तार को, अथवा उनकी आध्यात्मिक गहराइयों को देखें, या फिर उन आदर्शों को देखें जो उनके समस्त जीवन को प्रेरणा देते हैं, तो उन दोनों के बीच जो भारी भेद हैं, वे आसानी से दिखाई दे जायेंगे।

इसमें कोई शक नहीं कि आजादी एक महत्वपूर्ण आदर्श है। धार्मिक क्षेत्र में और राजनीतिक क्षेत्र में भी लोग इसको लेकर अक्सर बड़ी कट्टरता दिखाते हैं। परन्तु क्या हमारे पास निरपेक्ष आजादी की कोई कल्पना है? अर्थात् ऐसी आजादी जिसको और किसी वस्तु की कोई अपेक्षा न हो। निरपेक्ष रूप से आजादी की हमारी कल्पना बिलकुल नकारात्मक प्रतीत होती है, अर्थात् केवल बंधन अथवा नियंत्रणात्मकता का अभाव। परन्तु साधारण रूप से हम किसी न किसी कार्य के संबंध में ही आजादी की कल्पना करते हैं, जैसे मुझे बोलने की आजादी है, तुम्हें आने जाने की आजादी है इत्यादि। यहाँ आजादी का मूल्य उस कार्य के मूल्य पर निर्भर है, जिसके बारे में किसी को आजादी है। किसी को

हत्या करने की अथवा भूखो मरने की आजादी को हम आसानी से इतना मूल्यवान न समझेंगे।

आजादी के इस प्रश्न के संबंध में यह अच्छा है कि हम इस बात को समझ लें कि मनुष्य एक मनोभौतिक जीव होने के नाते अथवा एक सामाजिक या राजनीतिक इकाई का अंग होने के कारण कभी भी निरपेक्ष रूप से आजाद नहीं हो सकता। अनेक बातों से उसका क्रियाकलाप निर्धारित होता है। अपने भौतिक रूप में वह प्रकृति के नियमों से सर्वथा जकड़ा हुआ है। और उसके मन की चेष्टायें भी उसकी भौतिक दशा से निर्धारित होती हैं।

सच्ची आजादी आत्मा की आजादी होती है। इसको हम धीरे धीरे ही और आंशिक रूप में ही प्राप्त कर सकते हैं। एक अर्थ में अब भी हम आजाद हैं। हमें इच्छा करने और सोचने की आजादी है। यह आजादी बड़े मूल्य की है—स्वयं अपने लिये इतना नहीं, जितना इस कारण कि अनेक उच्चतर मूल्यों के लिये इसका पहले होना आवश्यक है। जबतक हम आजाद नहीं हैं तबतक हम अच्छाई या नैतिकता प्राप्त नहीं कर सकते। हम सच्चाई अथवा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जबतक हम आजादी से सोच न सकें। अच्छाई और सच्चाई उच्चतर मूल्य प्रतीत होते हैं, और आजादी इन्हें प्राप्त करने का साधन है।

मैं इस अर्थ में मानवतावादी हूँ कि मुझे विश्वास है कि तमाम मूल्य मनुष्य के अंदर हैं और वह ही उन्हें समझ भी सकता है। आखिरकार कहीं दूसरी जगह तो मूल्यों का अस्तित्व होता ही नहीं। परन्तु यदि मानव-व्यक्तित्व का अर्थ हम इससे अधिक कुछ और नहीं समझते कि वह एक चेतना का केन्द्र है जो शरीर से जुड़ा हुआ है, तो मैं नहीं समझता कि इस मानव व्यक्तित्व का स्वतः अपने में कोई अनुपम मूल्य है। निःसंदेह मैं मानव व्यक्तित्व को बहुत मूल्यवान समझता हूँ, परन्तु केवल स्वतः अपने में नहीं बल्कि, इसलिये कि तमाम आध्यात्मिक मूल्यों को समझने का केवल वही एक धाम है। क्योंकि मानव व्यक्तित्व में ही तमाम आध्यात्मिक मूल्यों को समझने की विभवता है, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि वह स्वतः अपने में मूल्यवान है। परन्तु हमको यह भी नहीं भूलना चाहिये कि इसी मानव व्यक्तित्व में इस पृथ्वी पर साक्षात् शैतान की तसवीर बन जाने की भी विभवता है, जो मानवता और ईश्वर दोनों का अपमान करेगी। इसलिये मनुष्य में अच्छाई और बुराई दोनों की क्षमता का ध्यान रखते हुए, मैं मनुष्य को उसी सूरत में मूल्यवान समझना चाहूँगा जब और जिस हद तक वह अपने आपको अच्छाई करने में लगा दे।

मैंने जो मानव व्यक्तित्व को कोई परम मूल्य देने से इनकार किया है उसे आप लोग कोई बहुत बेहूदा बात न समझें, क्योंकि बौद्धमत और अद्वैतवाद जैसी कुछ प्रतिष्ठित विचार पद्धतियों में भी व्यक्तित्व का अत्यधिक भान करने को बुराई मानकर उसकी निन्दा की गई है।

इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि जब कोई आदमी किसी घोर व्यसन के कारण अपने आपके लिये और दूसरों के लिये भी एक श्राप सिद्ध होता है तो उसके प्राण ले लेने में भी हमें कोई सकोच नही होता। लोग देश के लिये, आजादी के लिये और सच्चाई के लिये अपनी जान दे देते हैं। यदि मानव व्यक्तित्व इतना ही मूल्यवान होता तो शायद उसका इस प्रकार बलिदान न किया जाता। हर रोज और शायद हर क्षण हजारो पैदा होते हैं और हजारो गुजर जाते हैं। अनुपम मूल्यो का इतनी प्रचुर मात्रा में पैदा होना और फिर इस निर्मम ढग से उसका विनाश किया जाना वास्तव में हृदय को कपा देने वाली बात होगी। और यह तर्क करना भी युक्तियुक्त न होगा कि मानव व्यक्तित्व, जबतक वह मानवी है, जन्म और मरण के परे भी जाता है।

लोकतत्र के विषय में, और जिन मूल्यों का वह अनुसेवन करता है उनके सबध में मेरा मत बिलकुल गलत हो सकता है। परन्तु मुख्य रूप से मुझे यह पूछना है कि क्या लोकतत्र के ढग सर्वथा विवेकात्मक होते हैं? यदि जीवन के एक मार्ग के रूप में लोकतत्र को विवेक से प्रेरणा मिलती है, और उसके द्वारा उसका पथप्रदर्शन और नियत्रण किया जाता है तो मुझे उसके विरुद्ध कुछ भी कहने को नही हो सकता।

विवेक की हमें एक विस्तृत प्रकार से कल्पना करनी चाहिये। वह केवल तर्क करने की क्षमता तक ही सीमित नही है अपितु वह बौद्धिक जागृति और नैतिक प्रेरणा का सिद्धान्त है। वह सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी। सबसे बड़ी बात यह है कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में और समुदाय के जीवन में भी विवेक का राज स्थापित किया जाये। यदि हम अपने जीवन में विवेक को प्रभावी बना सकते हैं, तब न तो धर्म के क्षेत्र में न राजनीति में, हम अप्रमाणित और निराधार विश्वासों से प्रभावित होंगे, और न कभी निकृष्ट मूल्यों के लिये उत्कृष्ट मूल्यों का त्याग नहीं करेंगे। ऐसे आप्रहात्मक धर्म, जिनके बधे हुए और परस्पर विरोधी मत हैं, और जिनके कारण पूर्वकाल में युद्ध हुए हैं, बराबर अपना महत्व खाते चले जायेंगे।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मैं उच्च सास्कृतिक जीवन में से हर प्रकार के धर्म को निकाल देना चाहता हूँ। यदि धर्म का हम यह अर्थ लें कि वह आध्या-

तिम्न आदर्शों का एक तीव्र बोध है, और इन आदर्शों को जीवन में घटाने का एक प्रयत्न है, तो मैं संस्कृति के इससे ऊँचे स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकता। मनुष्य के लिये श्रेष्ठ जीवन मार्ग के रूप में धर्म अस्तित्व तो, कम से कम एक आदर्श की तरह, तबतक अवश्य ही बना रहेगा जबतक मनुष्य में विवेक का एक कण मात्र भी रहता है। परन्तु संगठित धर्म को, जिसमें ऐसे विश्वास हों जो विवेक के प्रकाश में खड़े न रह सकें, अब विवेक को अपने जीवन का नियम बनाने वाले मनुष्य स्वीकार नहीं कर सकते। धर्म का आमतौर पर जो अर्थ लिया जाता है, उसमें हमेशा ऐसे सिद्धान्त रहते हैं जिन पर कठिनाई से ही विश्वास टिक सकता है, और वह ऐसे आचारों का आदेश करता है, जिनका कोई नैतिक अर्थ नहीं होता। अगर सारी दुनिया में एक ही प्रकार के मत और आचार प्रचलित होते तो शायद उनसे कोई बहुत बड़ा खतरा न होता। परन्तु असलियत यह है कि संसार में विभिन्न प्रकार के मत और आचार प्रचलित हैं, जिनका अनेक धर्मों ने समोदन किया है। और जब कोई मनुष्य इनमें से एक प्रकार के मतो और आचारों को अपना धर्म स्वीकार कर लेता है तो लाजमी तौर पर वह उन्ही को सब से अच्छा और बाकी सबसे बढ़कर समझता है। इससे घृणा और संघर्ष पैदा होते हैं, विशेषकर जब धर्मनिष्ठा के साथ धर्म-परिवर्तन का उत्साह मिल जाता है। इस प्रकार इतिहास में बहुधा धर्म, एक भेदकारी शक्ति बन गया है और संस्कृति और मानवता का विरोधी रहा है।

परन्तु पूर्वकाल में धर्म ने संस्कृति की जो सेवा की है उसे भी मैं भूलता नहीं हूँ। संगीत और कविता, चित्रकारी और वस्तुकला धर्म के आधार पर ही पनपे थे। दर्शन का अनुशीलन भी धार्मिक वृत्ति के लोग ही करते थे, और मध्य-युग के स्कूल अध्यापक, अपने धार्मिक जोश के साथ, हमारे आज के वैज्ञानिकों के आध्यात्मिक पूर्वज थे। भारत में भी चिरकाल तक धर्म, दर्शन और विज्ञान का संयुक्त रूप से अध्ययन होता था। सब जगह नैतिकता ने धर्म से ही प्रेरणा ली थी, और कई बर्बर लोगो ने केवल धर्म के द्वारा ही मानवता का गुण पाया। परन्तु मानव विवेक के परिपक्व होने पर यह सारी सांस्कृतिक शक्तियाँ, अर्थात् विज्ञान और दर्शन, कला और नैतिकता, धर्म से अपना नाता तोड चुकी हैं, और अपने अपने स्वतंत्र मार्गों पर चल रही हैं, और अपने अपने ढंग से उन सांस्कृतिक कार्यों को कर रही हैं जो एक समय धर्म के द्वारा सम्पन्न होते थे। इस प्रकार स्वतंत्र रूप से धर्म का सांस्कृतिक मूल्य अब घटते घटते न्यूनतम हो गया है। यदि कोई मनुष्य कला और नैतिकता का, विज्ञान और दर्शन का धार्मिक भावना से, अर्थात् सच्ची लगन और सच्चाई से अनुसरण

करे तो उसे किसी अलग धर्म को मानने की बिलकुल कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ विज्ञान के संबंध में भी दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। इसमें कोई शक नहीं कि विज्ञान के द्वारा निःस्वार्थ भाव से जब सत्य का स्वतः अपने लिये अनुसरण किया जाता है तो वह उच्चतम मूल्य की वस्तु होता है, और उसके महत्व को कभी भी कम नहीं करना चाहिये। परन्तु हमारे समकालीन जगह में विज्ञान की साख इसी से बनी प्रतीत होती है कि इस ने युद्ध शास्त्रियों की और उद्योगपतियों की खूब सेवा की है। इस कारण जो लोग ठीक रास्ते पर सोचते हैं उन्हें विज्ञान पर शंका होती है। इसके अतिरिक्त जब हम जरा गहराई से खोज करते हैं, तो हम देखते हैं कि ज्ञान के जिस आदर्श का विज्ञान अनुसरण करता है, वह शुद्ध अथवा केवल ज्ञान नहीं है, बल्कि ऐसा ज्ञान है जो शक्ति देता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि शक्ति का मनुष्य पर दूषक प्रभाव पड़ता है। जब आप ज्ञान का अनुसरण, स्वतः उसके लिये नहीं बल्कि वह शक्ति प्राप्त करने के लिये करते हैं जो प्रकृति (और मनुष्यों) पर आपका प्रभुत्व स्थापित कर दे, तो आप एक विकृत मनोवृत्ति लेकर एक गलत मार्ग पर रवाना हो चुके हैं। इसलिये हमें यह देखकर अचंभा नहीं होना चाहिये कि जब से विज्ञान दुष्ट शक्तियों का सहायक बना है, विनाश का एक यंत्र बना है, और शोषण और मुनाफाखोरी का साधन बन गया है, तब से उसने मनुष्य की आत्मा को बड़ी हानि पहुँचाई है और पहुँचा रहा है।

यह ठीक है कि विज्ञान ने जो अद्भुत कार्य किये हैं, अथवा विज्ञान से मनुष्य ने जो स्पष्ट लाभ उठाये हैं, उनकी ओर से हम आँखें बन्द नहीं कर सकते। परन्तु चिन्तनशील यह देखे बिना नहीं रह सकता कि विज्ञान ने मनुष्य की उच्चतर और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति में कितना कम योग दिया है। विज्ञान की तमाम विजय भौतिक स्तर पर हुई है। आध्यात्मिक रूप से विज्ञान ने मनुष्य को अपने पूर्वजों से कोई अधिक अच्छा नहीं बनाया है। विज्ञान के इस युग में शान्ति और चैन, उदारता और न्यायप्रियता, और इसी प्रकार मन और आत्मा के अन्य गुण इतनी मात्रा में दिखाई नहीं देते जितना हम चाहते हैं।

विज्ञान के पीछे जो भावना है उसके साथ एक अन्य प्रकार की अनाध्यात्मिकता भी जुड़ी है। यह भावना इस बात को मान लेती है कि संसार में प्रत्येक वस्तु ज्ञेय है और सिद्धान्त रूप से इन्द्रियगम्य है, और यह कि सत् के तमाम पक्षों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल बुद्धि ही पर्याप्त है। मैं तमाम समझदार लोगों का यह एक नैतिक कर्तव्य समझता हूँ कि वह बौद्धिक विश्लेषण और समझ के काम

को जहाँ तक भी संभव हो सके आगे बढ़ायें, और इसके लिए हम अपनी इच्छानुसार कोई सीमा पहले से नियत नहीं कर सकते। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम यह मान लें, जैसा कि विज्ञान करता प्रतीत होता है, कि मन के अन्दर कोई ऐसे रहस्य हो ही नहीं सकते, जिनका उद्घाटन हम न कर सकें, ऐसी मान्यता में बौद्धिक दर्प और सच्चे विनय के अभाव के पैदा होने की संभावना है।

परन्तु आधुनिक जगत् में विज्ञान की प्रगति को अब नहीं रोका जा सकता। विज्ञान हमारे वर्तमान जीवन मार्ग के साथ बहुत अधिक गुथ गया है। जो हम कर सकते हैं वह यह है कि इसे इसके उचित स्थान पर ही रखें। निश्चय ही हमारे हाथों में यह एक बड़ा उपयोगी औजार है, जिसकी पूर्ति हम कर सकते हैं। जब तक हम अपने शारीरिक सत्व से इनकार नहीं करते तब तक हमें इस औजार को बराबर सुरक्षित रखना चाहिये। परन्तु जिस प्रकार शरीर का स्थान मन और आत्मा से उतर कर है उसी प्रकार विज्ञान का स्थान भी हमारे जीवन से उन अन्य सबधों की अपेक्षा गौण है, या होना चाहिये, जिनका सबध हमारी मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं के साथ है। उदाहरण के लिये, कला और नैतिकता, धर्म (अपने श्रेष्ठ अर्थ में) और दर्शन।

इनके साथ ही, मैं यह भी स्वीकार करूँगा कि जब विज्ञान का अर्थ हम ज्ञान को स्वत अपने लिये नि स्वार्थ भाव से अनुसरण करना लेते हैं, तब वह धर्म (अपने श्रेष्ठ अर्थ म) और दर्शन के साथ, कला और नैतिकता के साथ, संस्कृति का एक परमावश्यक रूप बन जाता है, और हमेशा इसकी गणना उच्चतम श्रेणी में की जायेगी। इन सब क्षेत्रों में हमारी परम निष्ठा विवेक के आदर्श के प्रति है जो मनुष्य की आत्मा के साथ, सत्य, शिव, सुन्दर की भाषा में, किसी बाह्य आप्तवचन की सहायता के बिना सीधे ही वार्तालाप करता है। इसको हम कोई भी नाम दे सकते हैं, चाहे हम इसे 'माधुर्य और प्रकाश' कहें, या फिर इसे ईश्वर का प्रेम तक भी कह दें, परन्तु इसका नाम कुछ भी हो, यह सदा ही और खुद ब खुद हमारी अच्छी भावनाओं (अथवा विवेक) को भाता है, क्योंकि केवल यही इस योग्य है और यह स्वय इसकी माँग भी करता है कि, हम इसे निरपेक्ष रूप से, केवल इसीके लिये, प्राप्त करें।

संस्कृति, जीवन और विचारों का एक मार्ग है, जिसे विवेकात्मक आदर्शों से प्रेरणा मिलती है। शिक्षा मनुष्य को संस्कृतिपूर्ण जीवन की दीक्षा देती है। और जैसा कि मैं इसकी कल्पना करता हूँ, इसका उद्देश्य मनुष्य के मन में योग्य आदर्शों की चेतना को, चाहे वे विवेकात्मक हो चाहे आध्यात्मिक, और उनकी अधिकाधिक प्राप्ति में एक सक्रिय रुचि को लगाना है। प्लेटो के शब्दों में,

शिक्षा मन की आंखो को प्रकाश की ओर लगाने का प्रयास करती है, जिससे अज्ञ
और दुर्भावना का वह अंधकार मिट जाता है जहाँ हमारे जीवन की विविध प्रक
की तमाम बुराइयाँ पैदा होती है।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में शिक्षा का सिद्धान्त और आचार

क्लेरेंस एच० फाउस्ट

सयुक्त राष्ट्र अमरीका में शिक्षा मनुष्य और समाज के स्वभाव के बारे में किन्ही एक प्रकार के परस्पर सगत विश्वासो की अभिव्यक्ति नहीं करती। शिक्षा के विभिन्न स्तरो पर सरकारी और निजी दोनो प्रकार की सस्थाओ में, शिक्षा के आचारो में बहुत भेद होता है। और आचारो का यह भेद इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के स्वरूप और उद्देश्य को लेकर शिक्षा-दाताओ और इस विषय में रुचि रखने वाले साधारण व्यक्तियो के विचारो और मतो में बहुत विविधता है। व्यावसायिक सिखलाई सामाजिक अनुभव, और धर्म शिक्षा मुहय्या करने में स्कूलो की जिम्मेदारी के सबध में जो परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं उनके कारण विभिन्न स्कूलो के क्रियाकलापो में बहुत भेद पड जाता है। शिक्षा में विवेक और भावना के स्थान को, और पढने तथा प्रत्यक्ष अनुभव के सापेक्ष महत्व को लेकर परस्पर विरोधी सिद्धान्त, शिक्षण की पद्धतियो में बडे भेद पैदा कर देते हैं।

देश में जो अनेक प्रकार की शिक्षा की तहरीकें चल रही हैं और जो एक दूसरे का कडा विरोध करती है, उनके पीछे परस्पर विरोधी दार्शनिक सिद्धान्त रहते हैं जो अक्सर बुनियादी दार्शनिक भेदो के सरल किये हुए और अधूरे रूप होते हैं। एक तहरीक स्कूलो को 'विषय केन्द्रित' होने की अपेक्षा 'छात्र केन्द्रित' चाहती है और वह इस तरह कि शिक्षा के आचार को छात्रो के अपने अपने भेदा के अनुसार ढाला जाये, न कि स्कूलो के पाठयक्रमो को ज्ञान के ऐतिहासिक विभागो के अनुसार तरतीब दी जायें। एक दूसरी तहरीक यह चाहती है स्कूलो के पाठयक्रमो को इस प्रकार सुधारा जाये कि छात्रो की विशेष 'जीवन की आवश्य-ताओ' का विश्लेषण करके परम्परागत पाठ्यपुस्तका को एक नया रूप दिया जावे अथवा उन्हें बदल दिया जाये, जिससे वे उन विशिष्ट कामो के लिये उपयोगी बन सकें जो छात्रो को स्कूली शिक्षा पा लेने के बाद करने होगे। एक तीसरी तहरीक यह करना चाहती है कि छात्रो के लिये एक सामान्य ज्ञान का भण्डार मुहय्या किया जाये और उनमें विवेकात्मक ढग से विचार विमर्श करने की क्षमता पैदा की जाये, जिससे हमारे समय की बुनियादी सामान्य समस्याओ पर विचार करने के लिये एक बौद्धिक समुदाय का आधार तैयार किया जा सके।

शिक्षा के क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्यो के सबध में इस प्रकार अलग-अलग राय और विचार होने के कारण, सयुक्त राष्ट्र अमरीका मे एक ही आयु के छात्रो को बडी विविध प्रकार की शिक्षा मिलती है। यदि कुछ को शायद बहुत अधिक धार्मिक शिक्षा मिलती है, तो कुछ को बिलकुल ही नही मिलती। कुछ को एक बड़े सुनिश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार पढना पडता है तो कुछ को यह छूट होती है कि वह इस बात का खुद ही निर्णय करे कि वे क्या पढेगे और कैसे पढेंगे। कुछ की शिक्षा प्रधान रूप से व्यवसायिक होती है तो कुछ को व्यवसायिक शिक्षा दी ही नही जाती। कही पुस्तको और पढने, लिखने और हिसाब पर बहुत समय लगाया जाता है तो कही इन चीजो को केवल मौलिक और शैक्षिक बता कर उन को निम्न ठहराया जाता है, और उनका स्थान सगठित सामाजिक और भौतिक अनुभव को दिया जाता है।

शिक्षाचारो की यह विविधता सिद्धान्तो के जिस सघर्ष के कारण पैदा होती है, उससे भी अधिक मूलभूत है 'परमतत्वो' का विवाद, अर्थात् विचार और कर्म के जो सिद्धान्त समस्त ससार के लिये एक से है और जो समय के साथ बदलते नही, उनकी वैधता और उपयोगिता पर बहस। इस विवाद से अमरीकी जीवन और विचारधारा में जो मौलिक खिचाव है और जो नीति, राजनीति, और सौन्दर्यशास्त्र मे तथा शिक्षा में भी दिखाई देते है, उनका सकेत मिलता है। सयुक्तराष्ट्र अमरीका मे विचार और क्रिया कलाप के विकास में दो प्रकार की चिन्ताओ का बहुधा असली या आभासी विरोध रहा है। एक तो ऐसे प्रभावी उपाय ढूंढने की चिन्ता है जिनसे तेजी से बदलती हुई परिस्थितियो के बीच समस्याओ के तुरन्त और स्पष्ट हल मिल सके। जैसे जैसे इस राष्ट्र के लोग इस महाद्वीप के पार तेजी से फैलते गये वैसे उनकी परिस्थितिया भी बदलती गईं, जिनके कारण आगे जानेवाले प्रत्येक दल के सामने नये-नये अवसर और नये खतरे आये। दूसरी चिन्ता इस बात की रही है कि नित नये बदलते हुए सामाजिक और भौतिक अनुभवो के चक्कर में डाल देनेवाली जटिलताओं को समझने और सुलझाने के लिये ऐसे सामान्य सिद्धान्तो और कसौटियो की खोज की जाये, जो समय के साथ बदलते न रहें, और जो इस कार्य में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकें।

देश के दोनो समुद्रतटो पर नई बस्तियो के बसानेवालो में से अनेक के विचार और आचार धर्म पर केन्द्रित थे, जिसमें मनुष्य का सबध एक शाश्वत और विकार-रहित अस्तित्व के साथ जोडने की, और श्रेष्ठता की निरपेक्ष कसौटियो की खोजने की चिन्ता रहती है। और अब तक इस धर्म का लौकिक रूपो के द्वारा और लौकिक विचारधारा में जो धर्म-दर्शन सबधी विश्वास अभी तक विद्यमान है, उनके

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में शिक्षा का सिद्धान्त और आचार

क्लेरेंस एच० फाउस्ट

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में शिक्षा मनुष्य और समाज के स्वभाव के बारे में किन्ही एक प्रकार के परस्पर सगत विश्वासों की अभिव्यक्ति नहीं करती। शिक्षा के विभिन्न स्तरो पर सरकारी और निजी दोनो प्रकार की सस्थाओ में, शिक्षा के आचारो में बहुत भेद होता है। और आचारो का यह भेद इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के स्वरूप और उद्देश्य को लेकर शिक्षा-दाताओ और इस विषय में रुचि रखने वाले साधारण व्यक्तियो के विचारो और मतो में बहुत विविधता है। व्यावसायिक सिखलाई सामाजिक अनुभव, और धर्म शिक्षा मुहय्या करने में स्कूलो की जिम्मेदारी के सबध में जो परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं उनके कारण विभिन्न स्कूलो के क्रियाकलापो में बहुत भेद पड जाता है। शिक्षा में विवेक और भावना के स्थान को, और पढने तथा प्रत्यक्ष अनुभव के सापेक्ष महत्व को लेकर परस्पर विरोधी सिद्धान्त, शिक्षण की पद्धतियो में बडे भेद पैदा कर देते हैं।

देश में जो अनेक प्रकार की शिक्षा की तहरीकें चल रही हैं और जो एक दूसरे का कडा विरोध करती हैं, उनके पीछे परस्पर विरोधी दार्शनिक सिद्धान्त रहते हैं जो अक्सर बुनियादी दार्शनिक भेदो के सरल किये हुए और अधूरे रूप होते हैं। एक तहरीक स्कूलो को 'विषय केन्द्रित' होने की अपेक्षा 'छात्र केन्द्रित' चाहती है और वह इस तरह कि शिक्षा के आचार को छात्रो के अपने अपने भेदो के अनुसार ढाला जाये, न कि स्कूलो के पाठ्यक्रमो को ज्ञान के ऐतिहासिक विभागो के अनुसार तरतीब दी जाये। एक दूसरी तहरीक यह चाहती है स्कूलो के पाठ्यक्रमो को इस प्रकार सुधारा जाये कि छात्रो की विशेष 'जीवन की आवश्यकताओं' का विश्लेषण करके परम्परागत पाठ्यपुस्तको को एक नया रूप दिया जावे अथवा उन्हें बदल दिया जाये, जिससे वे उन विशिष्ट कामो के लिये उपयोगी बन सकें जो छात्रो को स्कूली शिक्षा पा लेने के बाद करने होंगे। एक तीसरी तहरीक यह करना चाहती है कि छात्रो के लिये एक सामान्य ज्ञान का भण्डार मुहय्या किया जाये और उनमें विवेकात्मक ढग से विचार विमर्श करने की क्षमता पैदा की जाये, जिससे हमारे समय की बुनियादी सामान्य समस्याओं पर विचार करने के लिये एक बौद्धिक समुदाय का आधार तैयार किया जा सके।

शिक्षा के क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्यों के संबंध में इस प्रकार अलग-अलग राय और विचार होने के कारण, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में एक ही आयु के छात्रों को बड़ी विविध प्रकार की शिक्षा मिलती है। यदि कुछ को शायद बहुत अधिक धार्मिक शिक्षा मिलती है, तो कुछ को बिलकुल ही नहीं मिलती। कुछ को एक बड़े सुनिश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ना पड़ता है तो कुछ को यह छूट होती है कि वह इस बात का खुद ही निर्णय करे कि वे क्या पढ़ेंगे और कैसे पढ़ेंगे। कुछ की शिक्षा प्रधान रूप से व्यवसायिक होती है तो कुछ को व्यवसायिक शिक्षा दी ही नहीं जाती। कहीं पुस्तकों और पढ़ने, लिखने और हिसाब पर बहुत समय लगाया जाता है तो कहीं इन चीजों को केवल मौलिक और शैक्षिक बता कर उन को निम्न ठहराया जाता है, और उनका स्थान संगठित सामाजिक और भौतिक अनुभव को दिया जाता है।

शिक्षाचारों की यह विविधता सिद्धान्तों के जिस संघर्ष के कारण पैदा होती है उससे भी अधिक मूलभूत है 'परमतत्वों' का विवाद, अर्थात् विचार और कर्म के जो सिद्धान्त समस्त संसार के लिये एक से हैं और जो समय के साथ बदलते नहीं, उनकी वैधता और उपयोगिता पर बहस। इस विवाद से अमरीकी जीवन और विचारधारा में जो मौलिक खिंचाव है और जो नीति, राजनीति, और सौन्दर्यशास्त्र में तथा शिक्षा में भी दिखाई देते हैं, उनका संकेत मिलता है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका में विचार और क्रिया कलाप के विकास में दो प्रकार की चिन्ताओं का बहुधा असली या आभासी विरोध रहा है। एक तो ऐसे प्रभावी उपाय ढूंढने की चिन्ता है जिनसे तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों के बीच समस्याओं के तुरन्त और स्पष्ट हल मिल सकें। जैसे जैसे इस राष्ट्र के लोग इस महाद्वीप के पार तेजी से फैलते गये वैसे उनकी परिस्थितियां भी बदलती गईं, जिनके कारण आगे जानेवाले प्रत्येक दल के सामने नये-नये अवसर और नये खतरे आये। दूसरी चिन्ता इस बात की रही है कि नित नये बदलते हुए सामाजिक और भौतिक अनुभवों के चक्कर में डाल देनेवाली जटिलताओं को समझने और सुलझाने के लिये ऐसे सामान्य सिद्धान्तों और कसौटियों की खोज की जाये, जो समय के साथ बदलते न रहें, और जो इस कार्य में हमारा पथ प्रदर्शन कर सकें।

देश के दोनों समुद्रतटों पर नई बस्तियों के बसानेवालों में से अनेक के विचार और आचार धर्म पर केन्द्रित थे, जिसमें मनुष्य का संबंध एक शाश्वत और विकार-रहित अस्तित्व के साथ जोड़ने की, और श्रेष्ठता की निरपेक्ष कसौटियां को खोजने की चिन्ता रहती है। और अब तक इस धर्म का लौकिक रूपों के द्वारा और लौकिक विचारधारा में जो धर्म-दर्शन संबंधी विश्वास अभी तक विद्यमान हैं, उनमें

खण्डहरों के द्वारा, काफी महत्वपूर्ण प्रभाव है। दूसरी ओर इन में से पहली परम्परा के अन्दर जो एक नये देश में जीवन की नई ... के बीच बने रहने और सफलता पाने की जो चिन्ता प्रकट होती है, उसकी इस ... के विचारों और इसकी संस्थाओं पर गहरी छाप है।

इसमें कोई शक नहीं कि इन दो परम्पराओं के बीच संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लोग दूसरी परम्परा पर ही अधिकाधिक ध्यान देते रहे हैं—अर्थात् उन प्रक्रियाओं पर और उन उपायों पर, जिनसे घटनाओं का क्रम समझा जा सके, और उस ज्ञान को फिर विशेष परिस्थितियों में तुरन्त साध्यों के विशेष साधनों पर ... किया जा सके। और अमरीकन दर्शन की उन प्रक्रियाओं में रुचि बढ़ती गई जिनके द्वारा कोई बात होती है अथवा कोई बात कराई जा सके। इसकी प्रवृत्ति इस ओर भी बढ़ती गई है कि श्रेष्ठता की कसौटियों का रूप उनके ठोस और लौकिक नतीजों के द्वारा निश्चित किया जाये। इसके अतिरिक्त उनकी प्रवृत्ति इस ओर भी बढ़ती गई है कि मतों और सिद्धान्तों की सच्चाई को उन्हें ... करने के फलों से जांचा जाये, या कम से कम जिन प्रस्थापनाओं की सच्चाई इस प्रकार साबित हो गई हो, उनको किसी दूसरे प्रकार से स्थापित प्रस्थापनाओं की अपेक्षा अधिक सार का और मूल्यवान समझा जाये।

इसके अतिरिक्त प्रक्रिया में ही व्यग्र रहने की स्थिति उस अध्ययन और शोधकार्य में भी दिखाई पड़ती है, जो मानवतावादी शास्त्रों में, सामाजिक विज्ञानों और कुछ कम मात्रा में उन भौतिक विज्ञानों में किया जा रहा है, जिनको अमरीका के कालिजों और यूनिवर्सिटियों में सबसे अधिक मूल्य दिया जाता है। ... के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों को जो बात सबसे अधिक महत्व की ... है वह है किसी लेखक के अनुभव या विचारों में, अथवा उसके समय के जीवन और विशेष मतों में, विशेष परिस्थितियां जो उसके कार्य के विशिष्ट लक्षणों की कार... त्मक व्याख्या समझी जा सकती है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका में साहित्यिक विद्वता के सबसे आम समस्यायें इस प्रकार के विषय हैं जैसे किसी कवि के जीवन का स्रोत क्या है, एक विशेष समय में रंगमंच की विशेष व्यवहारी बातें और रूढ़ि क्या थी, अमरीका के कथा साहित्य के किन्हीं खास रूपों में लोक रुचि का विकास किस प्रकार हुआ, न कि ऐसे विषय जैसे साहित्य में श्रेष्ठता की कसौटियां, और व्यक्तिगत कृतियों को उनकी सहायता से परखना। साहित्य के इतिहास ... विशेष प्रभावों के संबंध में विशेष कारणों के सुलझाने और स्पष्ट करने में यह रुचि प्रक्रिया में व्यग्र रहने का ही एक रूप है। इसी प्रकार की व्यग्रता सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में भी पाई जाती है, जब मानव-वैज्ञानिक खास-खास समाजों

की आदतो का विस्तार से वर्णन करते हैं, जब समाजशास्त्री, 'प्रयोगात्मक ढग से' समाज के वर्गीय ढाचे का, जनमत के निर्माण का, बडे पैमाने पर सचारण के माध्यम किस प्रकार काम करते हैं इसका, अथवा विवाह असफल क्यो होते हैं इसका अन्वेषण करते, जब राजनीतिज्ञ प्रशासन के ढाचो और उसकी क्रिया विधियो का विश्लेषण करते हैं और जब अर्थशास्त्री, कीमत, उत्पादन, श्रम प्रबन्ध और मुद्रा सबधी नीतियो से वास्ता रखते हैं । स्वय शिक्षा जब खोज का विषय होती है तो प्रधान रूप से खोज के विषय होते हैं—प्रयोजन सबधी समस्याएँ, सीखने की प्रक्रिया की अवस्थायें, पढाने की युक्तिया, और प्रशासन सबधी क्रियाविधि ।

जब हम प्रक्रिया में व्यग्र रहते हैं, अर्थात् उन विशेष प्रकारो से अधिकतर वास्ता रखते हैं, जिनसे कोई बात होती है या कराई जा सकती है, तो खोज कार्य में भी और पढाने में भी हमारा ध्यान सामान्य और कालातीत तत्वो की अपेक्षा विशेष और लौकिक तत्वो पर ही अधिक रहता है । खोज कार्य में जो वस्तु ढूँढी जाती है, और कक्षाओ में जो कुछ छात्रो के सामने रखा जाता है वह कालातीत महत्व के सामान्य सिद्धान्त न हो कर घटनाओ के विशेष क्रमो के बीच कारणात्मक सम्बन्धो का स्पष्टीकरण होता है । एक बहुत बडे और प्रभाव रखनेवाले वर्ग के लिये ऐसे क्रमो का ढूँढ निकालना केवल वास्तविक ज्ञान ही नही, बल्कि एकमात्र वास्तविक ज्ञान होता । कालातीत सिद्धान्तो के अनुसरण करने को व्यर्थ भी माना जाता है और अव्यवहारिक भी । यह कहा जाता है ऐसे सिद्धान्त हैं ही नही, और यदि वे हो भी, तो भी वे उन तात्कालिक और ठोस समस्याओ से बहुत दूर होंगे, जिनका हल हमें चाहिये, और इसीलिये उनका कोई व्यवहारिक मूल्य नही होगा । उनको ढूंढने से हमारा ध्यान हमारे निकट की अत्यावश्यक समस्याओं से हट जायेगा ।

इस मत के अनुसार दूसरी संस्कृतियो वाले राष्ट्रो और लोगो के साथ सन्तोष-जनक सम्बन्ध स्थापित करने की तात्कालिक समस्या का हल, मानव मात्र से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विश्वव्यापी सिद्धान्तो का अथवा मानव जाति के सदस्य होने के नाते मनुष्यो की विभवताओ का, अथवा इनसानी मामलो में न्याय के सामान्य सिद्धान्तो का उल्लेख करने से नही होगा । यह मानना कि मनुष्य के कार्यों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये विश्वव्यापी सिद्धान्तो की स्थापना करना व्यर्थ ही नही बल्कि स्पष्ट रूप से एक खतरा है, इतनी प्रबल और सर्वमान्य है कि किसी विचारक पर यह आरोप लगाना ही कि वह अपने विचारो में 'परम-सत्यों' को स्थान देता है, कई लोगों में उसके विचारो को संदिग्ध ठहराने के लिये काफी

प्रायिकत्व के विपरीत प्रत्यक्ष प्रदर्शन केवल गणित जैसे यथार्थ विषयो में ही सभव हो सकता है। भावात्मक तर्क, अर्थात् ऐसा तर्क जो निरीक्षत तथ्यो पर आधारित नही होता, एक रुचिकर बौद्धिक मनोरजन हो सकता है, परन्तु निरपेक्ष सिद्धान्तो की तरह उसका कोई व्यवहारिक मूल्य नही है, सिवाय गणित के क्षेत्र मे जहाँ विचारो का निर्माण भौतिक घटनाओ की यथार्थ पूर्वानुमेयता के लिये मुहय्या करने में मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। यह बात कि खोज कार्य में जिस ज्ञान को ढूँढा जाता है और जिसे छात्रो को दिया जाता है वह सफलता की सभावना से ऊपर नही उठता, प्रक्रिया मे व्यग्र लोगो के लिये कोई विशेष चिन्ता का कारण नही होता। उनके मतानुसार ज्ञान का उद्देश्य ऐसी विशिष्ट जटिल परिस्थितियो में हमारे कार्यों का पथ प्रदर्शन करना है जिनका प्रत्येक पुज एक हद तक अद्वितीय होता है। ज्ञान का अनुसरण सदा किसी विशिष्ट समस्या को लेकर किया जाता है। समस्या का सुलझाना ही हमारा उद्देश्य रहता है। क्योकि समस्या विशिष्ट होती है और इसका हल एक ऐसे मार्ग को खोज लेने से ही हो सकता है, जिसके द्वारा विशेष परिस्थितियो का मुकाबला किया जा सकता है और उन्हे साथ में लिया जा सकता है, इसलिये इसके हल में अधिक से अधिक हम प्रायिकत्व की ही आशा कर सकते है। और उस परिस्थिति के लिये यह प्रायिकत्व उतना ही पर्याप्त है जितना कि ज्ञान हो सकता है। जिन अनुपम समस्याओ के एक चकरा देनेवाले सिलसिले का व्यक्ति और समाज को सामना करना पडता है, उन पर लागू करने के लिये कालातीत सिद्धान्तो को खोजने से हम यह खतरा मोल ले सकते हैं कि हम ऐसे कार्य प्रारम्भ कर दें जो लौकिक स्थिति की विशेषताओ के लिये अपर्याप्त हो।

इसलिये जो ज्ञान की खोज करता है उसे इस बात का बोध होना चाहिये कि वह स्वय इतिहास की प्रक्रियाओ में फँसा हुआ है। जिन समस्याओ का हल खोजना उसे बहुत महत्व का जान पडता है, या जो हल उसे अपने-आप सूझते हैं, वे देश, काल और सस्कृति में उसकी अपनी स्थिति के परिणाम हैं। उसका दृष्टिकोण, उसकी रुचियाँ, उसकी विचार सज्जा, और समस्याओ को सुलझाने के उसके तरीके, इन सबके निधारण में जो कारण काम करते हैं, वे, जो कुछ भी वह करता है उसे इतिहास में उसके अपने स्थान का सापेक्ष बना देते हैं। अगर वह अपनी इन सीमाओ को लाघना चाहता है, तो यह भी उसकी स्थिति का ही परिणाम है। उसके विवेक में जो कुछ है और जिस प्रकार वह काम करता है, उसे भी यह परिस्थितियाँ अगर निर्धारित नहीं तो सीमित तो अवश्य करती है। इसलिये शिक्षा को इस बात की कमी दिखाने के लिये भी प्रयत्न नहीं करना चाहिये, कि

होता है। इस स्थिति में उदाहरण स्वरूप हम अमरीका में अन्त सास्कृतिक या अन्तर्राष्ट्रीय सबन्धो की समस्याओ पर विचार करने के सबसे अधिक प्रचलित ढग को ले सकते हैं, जो 'क्षेत्र-अध्ययन' के द्वारा निर्धारित किया जाता है। इन अध्ययनो के विषय होते हैं, किसी प्रदेश का विशेष इतिहास, उसके कानून और रिवाज, उसका विशेष सामाजिक और राजनीतिक गठन, उसकी विशेष भाषा, और उसका विशेष दर्शन। इन बातो का ज्ञान प्राप्त करके यह मान लिया जाता है कि उस प्रदेश का विशेषज्ञ पूर्ण रूप से यह जान जायेगा कि उस प्रदेश के बारे में राष्ट्र की नीति निर्धारित करने के लिये क्या चाहिये। इसीसे वह योग्य भी मान लिया जाता है कि वह उस प्रदेश के क्रियाकलाप के कार्यक्रमो का प्रशासक बन कर काम कर सके, और उस देश के लोग जो सहायता चाहते हो या जिनकी उन्हें आवश्यकता हो, वह मुहय्या कर सके।

जब हम प्रक्रिया को ज्ञान का विषय मान कर चलते हैं तो इस का प्रभाव उन तरीको पर भी पड़ता है जिनके द्वारा यह समझा जाता है कि ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है या उसे दूसरे को दिया जा सकता है। यह तरीका इस अर्थ में अनुभवात्मक होना चाहिये, कि वह विशिष्ट दत्तों को प्रचुरमात्रा में हासिल करने पर निर्भर होता है। वह इस रूप में प्रयोगात्मक भी हो सकता है कि एक उपकल्पना बनाई जाय और फिर उन दशाओ का निर्धारण किया जाये जिनके अधीन किसी निरीक्ष्य तथ्य से यह आशा की जा सके, कि वह उस उपकल्पना को मान्य या गलत सिद्ध कर देगा। सच्चाई पर पहुँचने के इस तरीके में मान्यता की कुजी पूर्वानुमेयता में पाई जाती है। जब हम विशिष्ट प्रक्रियाओ का एक क्रम चला कर विश्वास के साथ यह कह सकें कि बाद की अवस्थाओं में इन प्रक्रियाओ में क्या दिखाई देगा, अथवा जहाँ इस प्रकार का क्रम अपनी इच्छा से न चलाया जा सके वहाँ हम विश्वास के साथ यह कह सकें, कि एक बार प्रारंभिक अवस्थाओ का निरीक्षण कर लेने पर उनकी बाद की अवस्थाओ का ठीक-ठीक पूर्वानुमान किया जा सकता है, तब यह समझना चाहिये कि हमने सत्य को पा लिया है। इस प्रयोगात्मक तरीके की पूर्ति ऐतिहासिक तरीके से की जा सकती है, और तब इतिहास की समस्या समाज, राजनीतिक सस्थाओ और कलाओ के विकास में अलग अलग कार्य-कारण सबधो को पहचानने की हो जाती है।

अन्तर्दृष्टि पाने के लिये इन तरीको के अपनाने का एक फल यह होता है कि मानव व्यवहार और मानव सस्थाओ के अध्ययन से जिस अच्छे-से अच्छे परिणाम की आशा की जा सकती है वह उच्च मात्रा में प्रायिकत्व को प्राप्त करना है। निरपेक्ष ज्ञान उतना ही असभव है जितना निरपेक्ष सिद्धान्तो का अस्तित्व।

प्रायिकत्व के विपरीत प्रत्यक्ष प्रदर्शन केवल गणित जैसे यथार्थ विषयों में ही सम्भव हो सकता है। भावात्मक तर्क, अर्थात् ऐसा तर्क जो निरीक्षित तथ्यों पर आधारित नहीं होता, एक रुचिकर बौद्धिक मनोरंजन हो सकता है, परन्तु निरपेक्ष सिद्धान्तों की तरह उसका कोई व्यवहारिक मूल्य नहीं है, सिवाय गणित के क्षेत्र में जहाँ विचारों का निर्माण भौतिक घटनाओं की यथार्थ पूर्वानुमेयता के लिये मुहय्या करने में मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। यह बात कि खोज कार्य में जिस ज्ञान को ढूंढा जाता है और जिसे छात्रों को दिया जाता है वह सफलता की संभावना से ऊपर नहीं उठता, प्रक्रिया में व्यग्र लोगों के लिये कोई विशेष चिन्ता का कारण नहीं होता। उनके मतानुसार ज्ञान का उद्देश्य ऐसी विशिष्ट जटिल परिस्थितियों में हमारे कार्यों का पथ-प्रदर्शन करना है, जिनका प्रत्येक पुंज एक हद तक अद्वितीय होता है। ज्ञान का अनुसरण सदा किसी विशिष्ट समस्या को लेकर किया जाता है। समस्या का सुलझाना ही हमारा उद्देश्य रहता है। क्योंकि समस्या विशिष्ट होती है और इसका हल एक ऐसे मार्ग को खोज लेने से ही हो सकता है, जिसके द्वारा विशेष परिस्थितियों का मुकाबला किया जा सकता है और उन्हें साथ में लिया जा सकता है, इसलिये इसके हल में अधिक से अधिक हम प्रायिकत्व की ही आशा कर सकता है। और उस परिस्थिति के लिये यह प्रायिकत्व उतना ही पर्याप्त है जितना कि ज्ञान हो सकता है। जिन अनुपम समस्याओं के एक चक्कर देनेवाले सिलसिले का व्यक्ति और समाज को सामना करना पड़ता है, उन पर लागू करने के लिये कालातीत सिद्धान्तों की खोजने से हम यह खतरा मोल ले सकते हैं कि हम ऐसे कार्य प्रारंभ कर दें जो लौकिक स्थिति की विशेषताओं के लिये अपर्याप्त हो।

इसलिये जो ज्ञान की खोज करता है उसे इस बात का बोध होना चाहिये कि वह स्वयं इतिहास की प्रक्रियाओं में फँसा हुआ है। जिन समस्याओं का हल खोजना उसे बहुत महत्व का जान पड़ता है, या जो हल उसे अपने आप सूझते हैं, वे देश, काल और संस्कृति में उसकी अपनी स्थिति के परिणाम हैं। उसका दृष्टिकोण, उसकी रुचियाँ, उसकी विचार सज्जा, और समस्याओं को सुलझाने के उसके तरीके, इन सबके निवारण में जो कारण काम करते हैं, वे, जो कुछ भी वह करता है उसे इतिहास में उसके अपने स्थान का सापेक्ष बना देते हैं। अगर वह अपनी इन सीमाओं को लाघना चाहता है, तो यह भी उसकी स्थिति का ही परिणाम है। उसके विवेक में जो कुछ है और जिस प्रकार वह काम करता है, उसे भी यह परिस्थितियाँ अगर निर्धारित नहीं तो सीमित तो अवश्य करती है। इसलिये शिक्षा को इस बात की कमी दिखाने के लिये भी प्रयत्न नहीं करना चाहिये, कि

यह निरपेक्ष सत्य का निर्धारण करने की क्षमता पैदा करे। उसको केवल छात्र में सामाजिक समजन, और उसके मानसिक विकारों को दूर करने से सरोकार रखना चाहिये। उसका प्रारंभ छात्र में जो रुचियाँ प्रगट होती हैं, उनसे होना चाहिये, और फिर उसे दुर्भावना और आग्रहवाद को छोड़ कर अनुभवजन्य प्रमाणों को एहतियात से देखने के पक्ष में अनुशासित करना चाहिये। और फिर उसे यह सिखाना चाहिये कि वह और दूसरों के निष्कर्षों को हद से हद केवल सम्भाव्य समझे, और यह माने कि हर सूरत में यह निष्कर्ष अपने अपने स्वभाव और माहौल के द्वारा निर्धारित होते हैं। शिक्षा को व्यावसायिक सिखलाई की तफ़सीलों पर और सामान्य रूप से किसी छात्र के जीवन की जितनी भी विशेष आवश्यकताएँ हैं, उन पर, अमली तौर से ध्यान देना चाहिये।

परन्तु यह सब अमरीकन विचारधारा का केवल एक तन्तु है, और केवल इसीके द्वारा हम अमरीका में शिक्षा के सिद्धान्तों और आचारों को पूरी तरह नहीं समझ सकते। अमरीकन लोगों के इतिहास में बराबर प्रक्रिया में व्यग्र रहने के साथ-साथ एक बिलकुल दूसरी प्रकार की चिन्ता भी रही है। इस चिन्ता का सबंध विशेष बातों के किसी सिलसिले से नहीं था, बल्कि इस बात से था कि जो लौकिक और विशिष्ट है उसका जो शाश्वत और विश्वव्यापी है, उसके साथ क्या सबंध होना चाहिये। जोनाथन एडवर्ड्ज़ जैसे धर्मविद्या विशारदों ने यह निर्धारित करने की कोशिश की है कि किन रूपों में और कहाँ तक लौकिक अस्तित्व रखने वाला मनुष्य एक परम सत्ता का भागी हो सकता है, और किस रूप में और कहाँ तक देश काल की सीमा के भीतर पैदा होनेवाले मनुष्यों का व्यक्तिगत जीवन, उस सत्ता का भागी हो सकता है जिसका अस्तित्व हमेशा से ही रहा होगा, जो एक पूर्णता है, जिसका कभी जन्म नहीं होता अपितु जो सदा से है। जो लौकिक हस्तियाँ इस सत्ता को देश और काल के भीतर विशिष्ट करती हैं, वे सबसे महत्वपूर्ण ज्ञान उन अन्तर्दृष्टियों में पाती हैं, जो उस सत्ता से इनके सबंध को बताती हों। एमरसन जैसे दार्शनिक इस ज्ञान को अधिक महत्वपूर्ण और वास्तविक मानते हैं, न कि विशेषों की एक झिलमिलाती हुई सवेदना को, अथवा विशेषों के सिलसिलों के सबंध में अनुभवजन्य निर्धारणों को। परन्तु दूसरी ओर, वाल्ट व्हिटमैन की परम्परा के कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि विश्वव्यापी और परम तत्वों को प्रकृति में ही खोजा जाये, न कि किसी ऐसी सत्ता में जिसकी अभिव्यक्ति, निर्गति अथवा नि सृति प्रकृति को माना जाता है।

यह लेखक मानते हैं, और जिस परम्परा के यह प्रतिनिधि हैं उसकी यह एक मूलभूत मान्यता है, कि मनुष्य के एक विश्वव्यापी सत्ता में भागी होने का ज्ञान

सम्भव हो सकता है। यह ठीक है कि ब्योरों के जिस सिलसिले से लौकिक अनुभव बनता है उसमें अधिक से अधिक अन्तर्दृष्टि रखने से भी इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु जैसे मानव जाति में इन्द्रियजन्य अनुभव के विशेषों को समझने की क्षमता है, वैसे ही उसमें परम सत्ता और परम सत्य के ज्ञान को ग्रहण करने की भी क्षमता है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के साधनों की विभिन्न प्रकार से कल्पना की गई है और उनको अलग अलग नाम दिये गये हैं, जैसे विवेक का व्यापक संचार, कवि-कल्पना का क्रियाकलाप, अथवा व्यवहार बुद्धि की अन्तर्दृष्टियां। जिन साधनों से शाश्वत सत्ता का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, अथवा कालातीत सिद्धान्तों को समझा जा सकता है उनका विस्तार भावात्मक चिन्तन के कड़े अभ्यास से लेकर रहस्यात्मक अनुभव करने तक, अथवा व्यवहार बुद्धि के उन विचारों के स्पष्टीकरण तक होता है, जो क्षुद्रतम मानव-क्षमता को भी प्राप्य है।

संयुक्तराष्ट्र अमरीका की बहुत सी धर्मविद्या का और बहुत से आदिकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास इसी परम्परा के अधीन हुआ है। जब तेरह आदिम उपनिवेशों ने ग्रेटब्रिटेन से अपनी स्वतन्त्रता का एलान किया तब उन्होंने सबसे पहले इसी बात की प्रख्यापना की कि कुछ सामान्य सत्य 'स्व सिद्ध' होते हैं। उन्होंने एलान किया कि सब मनुष्य जन्म से आज़ाद और बराबर होते हैं, और उनके कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं, जिनको उनसे कोई छीन नहीं सकता। इनमें हैं, जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की खोज। राष्ट्र को स्थापित करनेवाले हमारे उन पूर्वजों को यह कथन बिलकुल ही नाकाफी, अमान्य और अपर्याप्त लगता यदि उस समय यह कहा जाता कि अमरीका में जीवन की विशेष परिस्थितियों को देखते हुए, और वहाँ के लोगों की इच्छाओं, रुचियों और विचारों का ध्यान रखते हुए, उनका अपने मातृ-देश से अलग हो जाना शायद उस समय उचित था।

अमरीकन विचारधारा के ये दोनों तन्तु अर्थात् प्रक्रिया में व्यग्र रहना, और परम सत्ता में भागी होने की चिन्ता—धार्मिक और लौकिक समस्याओं के सुलझाने में भी काम आये हैं। जब कि प्यूरिटन विचारधारा का एक पक्ष, जिसका सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि जोनाथन एडवर्ड्ज है, 'परम मन' के रूप में ईश्वर के साथ आध्यात्मिक समागम की सम्भावना पर केन्द्रित था, तब एक दूसरा पक्ष, जिसका सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि काटन मेथर है, उन ऐतिहासिक और समकालीन क्रियाकलापों की खोज में व्यग्र था, जिनके द्वारा मनुष्य परमात्मा की बनाई हुई कार्य योजना की पूर्ति के लिये साधन अथवा अभिकर्ता बन जायें। इस दूसरे पक्ष का मत था कि विश्व का चरम स्वरूप मनुष्य की समझ से परे है, उसके कार्य संचालन की

दूसरी ओर, जो लोग प्रक्रिया में व्यग्र हैं उनके सिद्धान्त और आचार सामान्य और विश्वव्यापी उद्देश्यों तक से भी पूरी तरह अलग नहीं है। अक्सर उद्देश्यों और मूल्यों को ध्वन्यात्मक रूप से मान लिया जाता है और उनको अस्पष्ट ही रहने दिया जाता है। न ही उनकी जाँच की जाती है। उदाहरण के लिये जीव विज्ञान और चिकित्साशास्त्र में विशिष्ट ज्ञान और उपयोगी अभ्यास का अनुसरण इस बात को मान कर किया जाता है कि भौतिक जीवन और स्वास्थ्य का सब मनुष्यों के लिये हर देश में और काल में मूल्य है। इन मान्यताओं को गलत बताया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जो आत्म हत्या करता है इनको गलत बताता है। परन्तु हमारी चिकित्सा प्रणालियों में उनकी स्पष्ट रूप से जाँच नहीं होती। शिक्षा को लेकर दावे से जो यह कहा जाता है कि निरपेक्ष मूल्यों और उद्देश्यों पर विचार करना व्यर्थ है, तो उसके साथ ही साथ यह भी एलान किया जाता है कि व्यक्तिगत परिपक्वता और वृद्धि, तथा सामाजिक समजन और बल बड़े महत्व की वस्तुएँ है। व्यक्तिगत वृद्धि और सामाजिक बल के आदर्श उसी विचार परम्परा से महत्व ग्रहण करते है, जो विश्वव्यापी और निरपेक्ष मूल्यों और उद्देश्यों की खोज के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार 'समजन' जैसा बड़ा आम शब्द भी है, जिसका अर्थ केवल कलह और विरोध का अभाव ही नहीं है, बल्कि उसमें एक अपरीक्षित सामान्य ढंग से अभीष्ट संबंधों की संकल्पनायें भी शामिल है, जो उन विचार परम्पराओं से दाय रूप में आई हैं अथवा ले ली गई है, जिनका संबंध विश्वव्यापी उद्देश्यों और मूल्यों का स्पष्ट निरूपण करने से है।

इस स्थिति का एक परिणाम यह हुआ है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका के कई हलकों में उन चरम मूल्यों की चर्चा करना, जिनको उन हलकों को क्रियाकलाप मान्यता देते है, उनको उलझन में डाल देता है। विशिष्ट प्रक्रियाओं में व्यग्र रहने की परम्परा में निरपेक्ष सिद्धान्तों की चर्चा करना व्यर्थ और दम्भपूर्ण समक्ष समझा जाता है। फिर भी धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं के कर्णधारों को, जब वे सार्वजनिक घोषणायें करते है, और जब वास्तव में उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे सामान्य उद्देश्यों और मूल्यों का प्रतिपादन करें, तब उनको इस बारे में कुछ छूट दे दी जाती है। उदाहरण के लिये एक कामकाजी आदमी जो अपने दफ्तर में बैठ कर या अपने साथी संगियों के बीच न्याय के सामान्य सिद्धान्तों पर बहस करने से घबरायेगा, और उनके संबंध में कोई विचार-क्रम बनाने या दूसरों के सामने रखने में जिसे जरा भी सहारा नहीं है, वह जब कोई औपचारिक सार्वजनिक भाषण देता है, तो उसे वह घबराहट

नहीं होगी, और इसके अतिरिक्त वह यह अपनी जिम्मेदारी समझने लगता है कि ऐसे मौको पर वह सामान्य सिद्धान्तों का एलान करे।

इसी प्रकार संयुक्तराष्ट्र अमरीका में भौतिक के विरुद्ध आध्यात्मिक की चिन्ता करना किसी एक विचार-पक्ष तक ही सीमित नहीं है। इस बात की ओर अक्सर निर्देश किया जा चुका है कि इस देश के बसाने वालों में जो नेता अथवा दल थे वे आध्यात्मिक मामलों में भले ही व्यग्र रहे हों, परन्तु इस महाद्वीप को जीतने और अत्यन्त जटिल भौतिक सभ्यता के निर्माण में इन लोगों ने अमली-तौर से भी बहुत बडे-बडे काम किये थे। इसके विपरीत अमरीकनों के सबसे अधिक भौतिक क्रियाकलापों में भी जिन फलों की आकांक्षा की जाती है, वे बहुधा ऐसी तुष्टियाँ होती हैं जो बुनियादी तौर पर अभौतिक होती है।

इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में शिक्षा विषयक आचार में गड़बड़ और संघर्ष का आभास मिले। नवयुवकों को देश के जीवन और संस्कृति में प्रविष्ट कराने के लिये जो संस्थायें हैं उनमें वही संघर्ष झलकता है, जो प्रक्रिया में व्यग्रता और विश्वव्यापी तत्वों में भागी होने की चिन्ता के बीच है। परन्तु इस संघर्ष के बावजूद, एक ओर तो सब दलो की रुचि शिक्षा के तात्कालिक और व्यवहारिक संचालन में है, और दूसरी ओर वे लोग भी जो निरपेक्ष सिद्धान्तों को नहीं मानते, कुछ अस्पष्ट और अपरीक्षित सामान्य मूल्यों से लगाव रखते हैं। यही कारण है कि यद्यपि यहाँ की शिक्षा पद्धति में अमरीकन विचारधारा झलकती है, फिर भी वह इस विचारधारा के खिचावों से टूट कर टुकडे-टुकडे नहीं होती। यहाँ यह भी कह देना चाहिये कि इस देश में विचारों और विचार विनिमय की स्वतन्त्रता की जो परम्परा है, वह भी शिक्षा संबंधी संघर्षों को विवेकपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिये संभावनायें पैदा करने में अमूल्य सिद्ध होगी।

अमरीकन शिक्षा को इस समय सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि वह जिन-जिन दर्शनों को अभिव्यक्त करती है उनके संबंधों को स्पष्ट करे। जो चीज होनी चाहिये वह यह है कि एक ओर तो ऐसे अपरीक्षित सिद्धान्तों और मूल्यों की जाँच की जाये जिनका शिक्षा संबंधी आचारों के निर्माण में हाथ होता है, और दूसरी ओर विश्वव्यापी सिद्धान्तों, मूल्यों और कसौटियों की भी पूर्ण जाँच की जाये, ताकि उनके व्यावहारिक प्रयोग और अधिक तफसील के साथ किये जा सकें। पूरब और पश्चिम के बीच परस्पर सद्भावना को और अधिक बढ़ाने के लिये जिन बुनियादी बातों की जरूरत है, उनमें शायद ये भी हों।

भारतीय और पश्चिमी दर्शन में क्रमिक प्रगति की संकल्पना

हेल्मथ फान ग्लासनैप्प

पृथ्वी और आकाश के बीच, मानव इस ब्रह्माड के मध्य में खड़ा है। भौतिक शरीर द्वारा विशुद्ध ऊचाइयों की ओर बढते हुए, मानव ने चिरकाल से इन तीन समस्याओं का हल ढूढने का प्रयास किया है जिन्हे इमैनुअल काट ने इन प्रश्नो का रूप दिया है 'मै क्या जान सकता हूँ ?' 'मै क्या करूँगा ?' और 'मै किस बात की आशा कर सकता हूँ ?' जब से आदिम मानव ने अपनी स्थिति को समझने का और अच्छाई या बुराई का निर्णय करने का, और मौत के रहस्यो को सुलझाने का प्रयास किया है, तब से इन प्रश्नो के जो उत्तर दिये गये हैं वे बहुत भिन्न रहे हैं और हमेशा ही अस्थायी भी। समय और स्थान, जाति और परम्परा, तथा विचारको की व्यक्तिगत रूचियो और रुझानो के कारण बहुत भिन्न भिन्न प्रकार की धार्मिक शिक्षाए और अध्यात्मिक प्रणालिया पैदा हो गयी है और इन सबका यही दावा है कि उन्होने उस परदे को हटाया है जो सच्चाई पर पडा था।

यदि हम मानव के उन प्रयत्नो को देखें जो उसने सच्चाई को एक विशेष रूप देने के लिये किये हैं तो हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि प्रकृति और ब्रह्माड और उससे परे जो कुछ भी है उसके बारे में विचारको के बीच चाहे कितना भी मतभेद हो परन्तु व्यावहारिक परिणामो के बारे में वे कुछ हद तक एक मत हैं और उन्होने ऐसे जीवन की सिफारिश की है जो असल में समाज की आवश्यकताओ और मानव के अपने विवेक के अनुरूप ही है। इस अन्तर्दृष्टि को 'सुभाषितार्णव' के एक सुन्दर श्लोक में व्यक्त किया गया है जो इस प्रकार है :

'पवित्र स्थानो, ईश्वर, और धार्मिक कर्तव्यो के बारे में बुद्धिमानो में वाद विवाद रहा है। परन्तु आदेश के सबध में सभी प्रणालिया सहमत हैं कि सभी के साथ अच्छा व्यवहार करो और अपने माता पिता का आदर करो।'

यह तो स्पष्ट ही है कि ऊचे नैतिक स्तर पर एकदम नही, बल्कि धीरे-धीरे ही पहुँचा जा सकता है। जिस मानव पर कई विरोधी और भिन्न आवेगों का प्रभाव पड़ता है, उसको नीतिशास्त्र के नियमो को माननेवाले व्यक्ति में बदलने के लिये शिक्षा जरूरी है। धर्म और दर्शन के इतिहास में यह विचार बहुत ही फलप्रद रहा है कि प्रकृति के गर्भ से निकले मानव का पूर्णावस्था तक पहुँचने के

लिये काफी रास्ता तय करना पड़ता है और कई श्रेणियों से गुज़रने पर ही सर्वो- स्तर पर पहुँचा जा सकता है। सम्भावित क्रमिक विकास की धारणा केव सामाजिक और नैतिक शिक्षा का ही पूर्ण नियम नहीं है बल्कि मानव के साकारि बन्धनों की सीमाओं को पार करने और दैवी क्षेत्र की ओर कदम बढ़ाने के प्रयत्न में भी इसका महत्वपूर्ण भाग है। परन्तु इस संसार में और अपने सगी-साथिय में अपनी ठीक स्थिति जाने बगैर मानव इतने ऊंचे लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकत है? जीवन के व्यावहारिक पक्ष को सैद्धान्तिक ज्ञान की हमेशा अपेक्षा रहर है। इसलिये हमें क्रमिक विकास की धारणा के जीवन-सबधी और ऐतिहासिक पक्षों पर भी विचार करना होगा। अन्त में भिन्न कालों और भिन्न देशों के विद्वानों के कई मतों पर विचार करके हमें एक और चीज दर्शानी होगी। हमें यह सोचना होगा कि ससार के बारे में और उसकी व्याख्या के सबध में विशिष्ट विचारकों अथवा किसी विशेष विचारधारा के द्वारा जो विरोधी मत प्रकट किये गये हैं क्या उनको आध्यात्मिक सच्चाई की ओर ले जाने वाले क्रमिक पद समझा जाय।

न तो मैं दार्शनिक हूँ और न धर्म-शास्त्री ही अत न तो मैं किसी नये सिद्धान्त की घोषणा करना चाहता हूँ और न ही किसी को किसी विशेष प्रणाली का अनुयायी ही बनाना चाहता हूँ। इतिहासज्ञ होने के नाते मेरा काम बहुत थोड़ा सा है। मेरी इच्छा तो केवल यही दर्शाने की है कि जहा तक मनुष्य के सामने एक महान आदर्श प्रस्तुत करने और उसको नीति-शास्त्र व ज्ञान के ऊँचे स्तर पर लाने का सबध है वहा तक क्रमिकता और क्रमिक प्रगति का विचार किस प्रकार दर्शन के सभी आवश्यक क्षेत्रों में कार्यान्वित किया गया है।

जब हम आज के ससार पर विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि चार बड़ी सभ्यताओं ने सारे ससार पर अपना प्रभुत्व जमा रखा है। दूर पूरब की सभ्यता भारतीय सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता—हर एक ने एक महान दर्शन को जन्म दिया है। यूरोप मध्य युग से ही मुस्लिम सभ्यता से परिचित था और उस समय अलबर्टस मैगनस और टामस एक्विनास द्वारा इब्न सिना और इब्न रुश्द का अध्ययन किया गया था। चीनी दर्शन का ज्ञान यूरोप को सतरहवीं शती में हुआ, जबकि कैथोलिक पादरियों ने चीन के प्राचीन ग्रन्थो का अनुवाद किया और लाइबनिट्ज और वुल्फ ने इस सभ्यता की बहुत प्रशसा की। आधुनिक यूरोप में भारतीय दर्शन का अध्ययन सन से ... में हुआ, यद्यपि प्राचीन यूनानियों को इसका कुछ ज्ञान था। इनके ... डिल डुपेरा, चार्ल्स विल्किन्स और एच० टी० कोलब्रुक उसके मार्गप्रदर्शक थे तथा शैलिंग और शोपनहावर इसके अग्रदूत।

यह खेद की बात है कि आधुनिक पश्चिमी दार्शनिको ने इतनी अच्छी शुरुआत करके अब पूरब की ओर यथोचित ध्यान देना छोड दिया है क्योकि रे ससार और सारी मानवता की सभ्यता के बारे में सोचना और विचार के रनामो का उल्लेख करना दर्शन का विषय है। यूरोप और अमरीका के ाहर जो काम हुआ है, उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। आज जबकि शिया और पश्चिम हवाई जहाजो से मिले हुए हैं, जिससे इनकी दूरी मिट गई ; आज जबकि हम दुनिया भर के दार्शनिको से सम्पर्क कर सकते हैं तो इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि दार्शनिक एक दूसरे के बारे में जाने और रब की विचार सबधी धारणाओ का कुछ ज्ञान प्राप्त करें। अत मैं इस लेख में पूरब और पश्चिम की शिक्षाओं की तुलना करूगा। अधिकाश भारतीय दर्शन का उल्लेख करने के मेरे व्यक्तिगत कारण हैं। क्योकि यद्यपि मैंने तुर्की, चीन और जापान की यात्रा की है, और इसलामी तथा दूर-पूरबी दार्शनिको की अनुवादित रचनाओं को पढा है, परन्तु मै हिन्दू, जैन और बौद्ध दर्शन के अधिक सम्पर्क में हूँ, क्योकि मैंने इनके अध्ययन में अपना सारा जीवन लगा दिया है। आतिथ्य सत्कार करने वाले देश के बारे में सर्वप्रथम उल्लेख करना उचित ही प्रतीत होता है, जिसके विद्वानो ने उपनिषदो और महावीर और बुद्ध के समय से अथक उत्साह के साथ अपना सारा जीवन, दर्शन और धर्म के लिये अर्पित कर दिया है।

'महान समुद्र धीरे धीरे गहरा होता जाता है, एकदम नही, और न उसमें बहुत ढाल ही होती है। इसी प्रकार एक अच्छी शिक्षा और अनुशासन मे क्रमिक आदेश, क्रमिक व्यावहारिक प्रयोग और क्रमिक विकास होता है।' बुद्ध के ये शब्द, शिक्षा के उन सब सिद्धान्तो का सार हैं जो सारे ससार में, लागू होते हैं। प्राचीन यूनान के स्कूलो में जहा लडके अपनी माता से सात वर्ष की आयु में विदा होकर शारीरिक और साहित्यिक शिक्षा पाते थे, चार्लमैन के शाही स्कूलो और आधुनिक पश्चिमी शिक्षा सस्थाओ में शिशु-पाठशाला से लेकर ग्राम स्कूल तक और विश्वविद्यालयों में, सभी जगह ये व्यवहार में लाये जाते रहे हैं।

यही सिद्धान्त प्राचीन भारत में भी बरते जाते थे, जब प्राथमिक शिक्षा पाठशालाओ या मठो में आरम्भ होती थी जहा विद्यार्थी प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करते थे और फिर ऊची शिक्षा पाते थे। फाहियान, ह्यूनसाग और ई-सिंग आदि चीनी यात्रियों ने नालन्दा विश्वविद्यालय और दूसरे बौद्ध शिक्षा-स्थानो की कार्य-कुशलता का सुन्दर विवरण दिया है। ई सिंग का कथन है, लडको का पाठ्यक्रम तीन साल की व्याकरण की पढ़ाई से आरम्भ होता था, जिसमें

बाद टीकाओं और दूसरे ऊंचे कोटि के ग्रन्थो का अध्ययन किया जाता
विद्यार्थी भी इन मंजिलों की तुलना यनपयूशस के अनुयायी विद्वानों
श्रेणियो से करता है।

पूरब और पश्चिमी शिक्षा का ध्येय हमेशा एक ही रहा है और है
के ज्ञान और संस्कृति का योग्य उत्तराधिकारियों को सोद्देश्य रूप दे देना
और यूरोप में पद्धतिया भी एक जैसी रही है। एक प्रसिद्ध श्लोक में जि
का बतलाया जाता है (Bohtlingk, *Indische Spruche* 2 ed Nr.
कहा गया है कि बच्चे के साथ पाच साल तक लाड प्यार किया जा सकत
साल तक उसकी पिटाई की जा सकती है, परन्तु जब वह सोलह वर्ष का
तो उसे अपना मित्र समझना चाहिये। यह पश्चिमी शिक्षा शास्
सिद्धान्तो के अनुरूप ही है। उनका कथन है कि पहले ६ सालो में ब
प्यार पुचकार कर अच्छी बातो की ओर प्रेरित करना चाहिये, दूसरे
आज्ञापालन करवा कर और यदि आवश्यक हो तो दण्ड देकर भी उसके
का निर्माण किया जाना चाहिये परन्तु तीसरे काल में प्रशंसा ही उसकी शि
का मुख्य साधन है।

शिक्षा का मूलभूत ध्येय केवल ज्ञान का सिखाना ही नहीं है बल्कि नै
चरित्र का विकास करना, तथा व्यक्ति को अपनी योग्यताओं और शक्तियों
पूर्णता को प्राप्त करने में पद-प्रदर्शन करना है। संक्षेप में व्यक्ति को सही
में आत्म-ज्ञान कराने का पूरा अवसर देना है। इस कारण शिक्षा किसी
उमर में जब पाठ्य-क्रम पूरा हो जाय, समाप्त नहीं कर दी जानी चाहिये, ब
यह तो सारी उमर जारी रहनी चाहिये। इसके लिये हर राष्ट्र ने अपने
तरीके और पद्धतिया निकाली है। मेरे विचार में सबसे अधिक मौलिक
उल्लेखनीय भारत की आश्रम प्रणाली है जिसका अस्तित्व उपनिषदों के
में था।

इसके अनुसार युवा आर्य (यानी उच्च जाति का सदस्य) आठ या
साल की उमर में किसी ब्राह्मण के घर भेज दिया जाता था ताकि वह वहा
और वेदों का अध्ययन करे। वह वहां बारह या इससे कुछ अधिक सालो
लिये रहता था और उसका समय पवित्र ग्रन्थो के अध्ययन और घरेलू व धार्मि
कर्तव्यों के पालन करने में बीतता था। जब वह अपना अध्ययन समाप्त क
लेता था तो वह ब्रह्मचर्य आश्रम को छोड़कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता
वह विवाह करता था और अपने परिवार को चलाता था, क्योंकि, जैसा कि
तैत्तिरीय उपनिषद (I, 11) में कहा गया है पुत्र की प्राप्ति करना ए

धार्मिक कर्तव्य है, ताकि उसकी जाति की परम्परा बनी रहे। परन्तु जब उसके मुंह पर झुरियां पड़ जायें और उसके बाल सफेद हो जायें और वह अपने पोते का मुख देख चुका तो उसे सभी सांसारिक धन्धों को छोड़ कर जंगलों की शरण लेनी पड़ती थी। वानप्रस्थ आश्रम में वह अपनी पत्नी के साथ या अकेला, लगभग सभी कर्तव्यों और यज्ञ के दायित्वों से मुक्त, भक्ति का धार्मिक जीवन व्यतीत करता। धर्मनिष्ठ आर्य के जीवन की आखिरी मंजिल सन्यासी की थी—जिसने अपने पर से सभी कुछ झाड़ फेंका होता था। एक साधु के रूप में वह गांव गांव में फिरता था, हालांकि मृत्यु उस आखिरी रुकावट को भी तोड़ देती थी जो उसके लिये ब्रह्म अथवा प्रकृति में लीन होने मे बाधा बन रही थी।

बाद में आश्रमों की प्रणाली प्रचलित न रही, और जहां तक मुझे पता है आज उनका अस्तित्व चिह्न मात्र से अधिक बाकी नहीं है। परन्तु इस प्रणाली ने मानव जीवन को शाश्वतता के लिये एक प्रारंभिक स्कूल बना देने का जो प्रयास किया था वह बहुत ही प्रशंसनीय है, क्योंकि इससे गृहस्थ को जीवन का आनन्द लेने और उसके दुखों का अनुभव करने का तब तक मौका मिलता था जब तक कि वह अपने आप को इस बात के लिये तैयार पाता था कि धीरे-धीरे सब अनुरागों से अपना नाता तोड़ ले। आश्रमों की इस प्रणाली का संसार में, शायद कहीं जोड़ नहीं है। और यद्यपि यह आज पुरानी हो गयी है, फिर भी यह भारतीयों के उन महान् आध्यात्मिक आदर्शों को दर्शाती है जिन्होंने सारे जीवन को इस संकल्पना के आधीन कर दिया था कि मानव के भाग्य में सांसारिक चिन्ताओं में डूब जाना ही नहीं लिखा है, बल्कि उसे अपने को एक ऊँचे स्तर पर ले जाना है।

आदिम जातियों की गुप्त संस्थाओं से ले कर आधुनिक फ्रीमेसन संस्था तक, ऐसी बहुत सी धार्मिक प्रणालियों में सांसारिक से ले कर पूर्ण दीक्षित अवस्था तक पहुँचने की अनेक श्रेणियाँ होती थीं जिनमें से उनके प्रत्येक अनुयायी को गुजरना पड़ता था। इन भिन्न श्रेणियों के सदस्यों से अपनी-अपनी प्रणाली का एक दूसरे से अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत ज्ञान रखने की आशा की जाती है। यह श्रेणियाँ अपनी पोशाक या विशेष चिह्नों से पहचानी जाती हैं।

क्योंकि इन बातों का संबंध कर्म-काण्ड से अधिक है, इसलिये हम यहाँ अधिक विस्तार में नहीं जा सकते। परन्तु हम यहां एक और विषय की चर्चा करते हैं जिसका हर रहस्यवादी दर्शन में बड़ा महत्व है। यह विषय है महान् सच्चाई तक पहुँचने के लिये कौन-कौन सी भिन्न अवस्थाएँ हैं। भारतीय ईश्वरवादी—जैसे कि भागवत, सम्प्रदाय के लोग यह सिखाते हैं कि परमात्मा की ओर ले जाने-वाली पाँच प्रबल भावनाएँ काम करती हैं। इनका यह आरोही क्रम इस

जा सकता है . (१) ससार-त्याग, (२) आज्ञा-पालन, दास्य, सेवा बधन (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) रति। जब मानव ईश्वर के तरफ अधिकाधिक रमने लगता है, तो दास की अवस्था से मित्र की अवस्था को, मित्र की अवस्था से बालक की अवस्था को, और बालक की अवस्था से प्रेमी की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यह विचार ऐंजुघुस सिलेसिअस और दूसरे ईसाई रहस्यवादियो की विचारधारा से मिलता-जुलता है।

भारतीय ग्रन्थो में जहाँ आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता के अद्वैतवादी सिद्धान्त की व्याख्या की गई है, वहाँ अपने परम लक्ष्य तक पहुँचने की मजिलो के बारे में भी सिद्धान्तो का विकास किया गया है। मै यहाँ केवल योग वशिष्ठ रामायण का ही उद्धरण देता हूँ जिसमें कहा गया है कि मुक्ति-पथ की जो भूमिका होती है उनके सात दर्जे हैं। ये हैं (iii, 118 अनुसार) (१) शुभेच्छा-भलाई के लिये प्रयास, (२) विचारना—दार्शनिक सोच-विचार, (३) तनुमनसा—इन्द्रिय-सबधी बातो के प्रति विराग के कारण सासारिक विचारो को कम करना, (४) सत्वपत्ति—सही मानो में आत्म-अस्तित्व को प्राप्त करना, (५) असंसक्ति—परमात्मा के साथ मिलन द्वारा चमत्कार उत्पन्न होने के कारण ससार से सब प्रकार का नाता तोड लेना, (६) पदार्थ-भावना—वह स्थिति, जब पदार्थों की अनेकता की भावना नष्ट हो जाय, (७) तुर्या—बिना किसी कामना के भक्ति करना, जो कि मृत्यु के समय व्यक्तित्व के अन्त को प्राप्त करने का प्रारभिक कदम है।

रहस्यवादी दर्जा और पूर्णताओ की सीढी नवीन प्लेटोवाद, मुस्लिम सूफीवाद और ईसाई रहस्यवादियो में भी पाई जाती है। कठिन और लगातार आत्म-अनुशासन सक्रिय चिन्तन का अग्रदूत होता है। यह आन्तरिक मौन साधना की, इन्द्रियों से पृथक् रहने की, और अलौकिक में तब तक विलीन रहने की प्रक्रिया है जब तक आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाय। इस प्रकार के चिन्तन से सारा व्यक्तित्व एक ऊँचे स्तर पर पहुँच जाता है और 'उसके अस्तित्व की गहराइयों तक पहुँच हो जाती है और जीवात्मा परमात्मा की अनन्तता में परम विश्राम पाती है।'

बौद्ध मत में भी ऐसी ही पद्धतियाँ पाई जाती है। सभी सासारिक इच्छाओ के प्रति विराग और उपेक्षा की दृष्टि रख कर शिष्य को सत्य के चिन्तन का मार्ग तैयार करना होता है सभी कुछ अस्थायी है, सब में आत्मा का अभाव है, अत सभी कुछ दु ख से भरा है। बौद्ध दर्शन का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह न तो अमर आत्मा को तथाकथित अनुभावात्मक व्यक्तित्व का केन्द्र मानता है, न किसी साकार परमात्मा में विश्वास करता है, जो ससार पर राज्य करता हो, और न

केवी व्यक्ति निरपेक्ष परम सत्ता को ही मानता है, जिससे ससार उत्पन्न हुआ हो। इस कारण मुक्ति प्राप्त करने की बौद्ध पद्धति यह नही हो सकती कि उन सब तत्वों को जो आत्मा से सबध नही रखते और व्यक्ति का सार है, उन्हें हटा दिया जाय और न ही यह कि सर्वेश्वरवादियों की तरह आत्मा को परमात्मा से मिला दिया जाय। सच्चाई के मार्ग में यह बात पहले माननी होगी कि इस विश्वव्यापी प्रवाह में कोई ठोस सत्ता नही है। मानव भिन्न धर्मों का जटिल समूह है, जो बदलते हुए तत्वों के नैतिक नियमों के अनुसार उठते है और एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। विचारक का ध्येय धीरे-धीरे इस सच्चाई को पाना है कि अह कुछ नही है। वेदान्तियों के विपरीत बौद्ध दार्शनिको का यह विश्वास है कि निर्वाण प्राप्त करने के लिये अहम् के विचार को निकाल देना परमावश्यक है।

यह एक दिलचस्प बात है, 'अह कुछ नही है' के सिद्धान्त ने बौद्ध-विचार के इतिहास को इसके बिलकुल विपरीत दिशा में प्रभावित किया। प्राचीन बौद्ध मत म अर्हत इसका आदर्श प्रतिनिधि था, जो किसी मठ में साधु की तरह रहता था और केवल आध्यात्म का चिन्तन करता था। बौद्ध मत की महायान-शाखा में अह से इनकार अधिक नैतिक क्रिया के लिये प्रेरित करता है, क्योंकि ऊँचे जीवन के आकाक्षी को, यह जानते हुए कि उसमें और उसके पडोसी में कोई भेद नही है, दूसरो को सदा सुखी बनाने की इच्छा का विकास करना चाहिये। बोधिसत्व के जीवन में, जो कि बुद्ध की पदवी का आकाक्षी होता है, जो अवस्थाएँ आती हैं, उनकी प्रौढ उपपत्तियो के अनुसार वह धीरे-धीरे आठो प्रधान गुणो को प्राप्त कर लेता है, यहाँ तक कि वह सन्त बन जाता है। यह सन्त जिसने अपनी सारी अह भावना को जीत लिया है, फिर दूसरो की अह भावना को छुडवाता है और उनको नैतिक पूर्णता के योग्य बनाता है, ताकि वह भी मुक्ति प्राप्ति कर सके।

'अह के अभाव' के बौद्ध सिद्धान्त के समान पश्चिमी दर्शन में कोई सिद्धान्त नही है, यद्यपि ह्यूम, लिचनवर्ग और मैच के ग्रन्थो में इस कल्पना का उल्लेख है कि अह शरीर की तरह नाशवान है। इसका व्यावहारिक परिणाम यह निकलता है कि अह को कोई विशेष महत्व नही देना चाहिये, अपितु इस दोषपूर्ण विचार को निकाल करके दूसरे जनों की भलाई के लिये प्रयास करना चाहिये।

प्राचीन ईसाई मत हमें सिखाता है कि मानव इस पृथिवी पर रह कर ही पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। जीवन की समाप्ति पर वह अपने नैतिक आचरण के फलो को या तो मृत्यु के फौरन बाद ईश्वर के विशेष फैसले के अनुसार स्वर्ग या नरक में पा लेता है, और या उस समय पाता है जब सब मृतात्माओं को

पुनर्जीवित किया जायेगा। भारत में आवागमन का सिद्धान्त हिन्दू, जन और बौद्ध मतो का आधार है। इस विश्वास के अनुसार हर व्यक्ति मरने के ब फिर जन्म लेता है। इस जीवन में उसे पिछले सुकर्मों का अच्छा फल मिल है और पहले पापो का दण्ड भोगना पडता है।

हमें यहाँ उन दार्शनिक उपपत्तियों की व्याख्या नही करनी है जो इस ब की परिभाषा करने का प्रयास करती है कि वह कौन-सा तत्व है, जो एक जीव से दूसरे जीवन में जाता है या पुनर्जन्म कैसे होता है। एक ओर हिन्दुओ औ जैनो तथा दूसरी ओर बौद्धो में इसका मतभेद है। हिन्दू और जैन अमर आत्मा तथा उसके पुन शरीर धारण करने के सिद्धान्त को मानते हैं। बौद्ध ऐसी अमर आत्माओं के अस्तित्व से इनकार करते है जिनका मृत्यु के उपरान्त भी अस्तित्व रहता है परन्तु उन क्षणिक अस्तित्वों के क्रम अथवा धर्मों को मानते हैं जो मरने वालो में से निकल कर पैदा होनेवालो में चला जाता है। अत जो फिर जन्म लेता है, वह वही नहीं होता जो मर गया था। परन्तु वह उससे सर्वथा भिन्न भी नहीं है, क्योकि वह उसी से जन्मा है। परन्तु इस बात में सभी भारतीय धर्म एकमत हैं कि मनुष्य जैसा करता है, वैसा ही भरता है। ससार में एक नैतिक और प्राकृतिक कानून है जिसका परिणाम यह है कि स्वेच्छा से किये गये हर काम का फल अगले जीवन में मिलता है।

भारतीय दार्शनिको के अनुसार कर्म-सिद्धान्त लोगो की अवस्थाओ और उनके भाग्यो की विभिन्नता की ऐसी व्याख्या करता है, जो सत्य प्रतीत होती है। इसका शिक्षा का बहुत अधिक नैतिक महत्व है, क्योकि यह सारे ससार के विकास की व्याख्या सभी जीवो के कृत्यो के परिणाम के रूप में करती है। और इसमें वह तीन सभावनाएँ भी शामिल हैं जो ससार के नैतिक सार को स्वीकार करने के लिये आवश्यक है, अर्थात्—यह सभावना कि मनुष्य अपने कृत्यो के लिये जिम्मेदार है, क्योकि उसके पास स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है, यह सभावना कि जो कुछ भी वह करता है उसका उचित बदला उसे मिलता है, और यह सभावना कि उसकी अन्तर्दृष्टि और नैतिक आचरण परिपक्व होते जाते हैं और हजारो जन्मो के बाद यह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। यदि कर्म-सिद्धान्त को ठीक तरह से जान लिया जाये तो हर जन्म पूर्णता के रास्ते की एक अवस्था के रूप में दिखाई देगी।

यह प्रसिद्ध है कि आवागमन के सिद्धान्त को माननेवाले कैल्ट, टयूटन, यहूदी और मुस्लिम रहस्यवादियो और प्रचलित-धर्म विरुद्ध ईसाइयो में भी पाये जाते हैं। पाइथागोरास, इम्पेडोक्लीज, प्लेटो और प्लोटिनियुस आदि यूरोपीय

दार्शनिकों ने इसकी व्याख्या की है। आधुनिक काल में अठारहवीं शती के अन्त में लेसिंग और कान्ट, दो जर्मन लेखकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि मानव एक के बाद दूसरी कई जूनों में से गुजरता हुआ क्रमिक विकास करता है। लेसिंग ने अपनी पुस्तक 'मानव जाति की शिक्षा' (१७८०) में लिखा है कि चूंकि मानव एक ही जीवन में पूर्णता के मार्ग के सभी दर्जों को पार नहीं कर सकता, इसलिए उसको जूनों में से गुजरना पड़ता है। कान्ट ने भी अपनी पुस्तक 'व्यावहारिक विवेक' पर आलोचनात्मक निबन्ध' में यही राय प्रकट की है। उसने लिखा है कि 'स्पष्ट परमावश्यक' के लिए पूर्ण नैतिकता और पवित्रता अपेक्षित है। यह एक जीवन में तो हो नहीं सकता, अत इसलिए वह कल्पना करता है कि हमारा व्यक्तित्व अनन्त काल के लिए कायम रहता है और इसलिए हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रगति के अनगिनत चक्रों में से गुजरना पड़ता है। पाल डाइसन ने कहा है कि यह गीता के इस श्लोक के अनुरूप है (vi, 45)

प्रतियत्न से वह योगसेवी सर्व पाप विहीन हो।
बहुजन्म पीछे सिद्ध हो कर परम गति में लीन हो।।

अभी तक मैंने व्यक्ति के क्रमिक प्रगति की अनेक सकल्पनाओं का ही उल्लेख किया है। अब मैं उन उपपत्तियों को लेता हूँ, जो सामूहिक क्रमिक प्रगति की कल्पना करती हैं। इन सब में से डार्विनवाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसे चार्लस डार्विन से सम्बद्ध किया जाता है जिसने १८५९ में 'जातियों की उत्पत्ति' प्रकाशित किया था। इसके अनुसार प्रकृति में अस्तित्व की जद्दोजहद में सफलता पाने के परिणामस्वरूप ही क्रमिक विकास होता है। इस उपपत्ति को आधार मानते हुए वैज्ञानिकों ने मानव-जाति की वंशावली बनाने का प्रयत्न किया है और यह दर्शाना चाहा है कि जीव में क्रमिक विकास होता है, जिसका आरंभ निम्नतम वर्ग के जीवों से होता है और मानव तक पहुँचता है। यह सिद्धात पहले की वैज्ञानिक मान्यताओं और सभी बड़े धर्मों के विश्वासों को झुठलाता है कि जातियाँ अपरिवर्तनशील हैं। इस सिद्धात के अग्रदूत ग्रीक निवासियों, चीनियों, मुस्लिम रहस्यवादियों में भी पाये जाते हैं, जिन्होंने कुछ हद तक इस विचार की कल्पना की थी परन्तु है यह आधुनिक पश्चिम का ही कारनामा। यह पश्चिम के ज्ञान के सभी विभागों में ऐसा परिवर्तन ले आया जो मानव विचार के इतिहास में अद्वितीय है। इसका दार्शनिक महत्व यह है इसने मानव और पशु में जो भेद चला आ रहा था, उसको मिटा दिया। और इसकी बजाय, जातियों के स्वरूप में क्रमिक विकास का सिद्धान्त सामने रखा, जो कि जीवन की

पुनर्जीवित किया जायेगा। भारत में आवागमन का सिद्धान्त हिन्दू, जन बौद्ध मतों का आधार है। इस विश्वास के अनुसार हर व्यक्ति मरने के फिर जन्म लेता है। इस जीवन में उसे पिछले सुकर्मों का अच्छा फल मि है और पहले पापों का दण्ड भोगना पडता है।

हमें यहाँ उन दार्शनिक उपपत्तियों की व्याख्या नहीं करनी है जो इस व की परिभाषा करने का प्रयास करती है कि वह कौन-सा तत्व है, जो एक जी से दूसरे जीवन में जाता है या पुनर्जन्म कैसे होता है। एक ओर हिन्दुओ जैनो तथा दूसरी ओर बौद्धो में इसका मतभेद है। हिन्दू और जैन अमर आ तथा उसके पुन शरीर धारण करने के सिद्धान्त को मानते हैं। बौद्ध ऐसी आत्माओं के अस्तित्व से इनकार करते हैं जिनका मृत्यु के उपरान्त भी अस्ति रहता है परन्तु उन क्षणिक अस्तित्वो के क्रम अथवा धर्मों को मानते हैं जो म वालो में से निकल कर पैदा होनेवालो में चला जाता है। अत जो फिर ज लेता है, वह वही नहीं होता जो मर गया था। परन्तु वह उससे सर्वथा भि भी नही है, क्योकि वह उसी से जन्मा है। परन्तु इस बात में सभी भारती धर्म एकमत हैं कि मनुष्य जैसा करता है, वैसा ही भरता है। ससार में ए नैतिक और प्राकृतिक कानून है जिसका परिणाम यह है कि स्वेच्छा से किये गए हर काम का फल अगले जीवन में मिलता है।

भारतीय दार्शनिको के अनुसार कर्म-सिद्धान्त लोगो की अवस्थाओं और उनके भाग्यो की विभिन्नता की ऐसी व्याख्या करता है, जो सत्य प्रतीत होती है। इसका शिक्षा का बहुत अधिक नैतिक महत्व है, क्योकि यह सारे ससार के विकास की व्याख्या सभी जीवो के कृत्यों के परिणाम के रूप में करती है। और इसमें वह तीन सभावनाएँ भी शामिल हैं जो ससार के नैतिक सार को स्वीकार करने के लिये आवश्यक है, अर्थात्—यह सभावना कि मनुष्य अपने कृत्यो के लिये जिम्मेदार है, क्योकि उसके पास स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है, यह सभावना कि जो कुछ भी वह करता है उसका उचित बदला उसे मिलता है, और यह सभावना कि उसकी अन्तर्दृष्टि और नैतिक आचरण परिपक्व होते जाते हैं और हजारो जन्मो के बाद वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। यदि कर्म सिद्धान्त को ठीक तरह से जान लिया जाये तो हर जन्म पूर्णता के रास्ते की एक अवस्था के रूप में दिखाई देगी।

यह प्रसिद्ध है कि आवागमन के सिद्धान्त को माननेवाले केल्ट, ट्यूटन, यहूदी और मुस्लिम रहस्यवादियो और प्रचलित-धर्म-विरुद्ध ईसाइयो में भी पाये जाते हैं। पाइथागोरास, इम्पेडोक्लीज, प्लेटो और प्लोटिनियुम आदि यूरोपीय

दार्शनिको ने इसकी व्याख्या की है। आधुनिक काल में अठारहवी शती के अन्त में लेसिंग और कान्ट, दो जर्मन लेखको ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि मानव एक के बाद दूसरी कई जूनो में से गुजरता हुआ क्रमिक विकास करता है। लेसिंग ने अपनी पुस्तक 'मानव जाति की शिक्षा' (१७८०) में लिखा है कि चूँकि मानव एक ही जीवन में पूर्णता के मार्ग के सभी दर्जों को पार नही कर सकता, इसलिए उसको जूनो में से गुजरना पडता है। कान्ट ने भी अपनी पुस्तक 'व्यावहारिक विवेक पर आलोचनात्मक निबन्ध' में यही राय प्रकट की है। उसने लिखा है कि 'स्पष्ट परमावश्यक' के लिए पूर्ण नैतिकता और पवित्रता अपेक्षित है। यह एक जीवन में तो हो नही सकता, अत इसलिए वह कल्पना करता है कि हमारा व्यक्तित्व अनन्त काल के लिए कायम रहता है और इसलिए हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रगति के अनगिनत चक्रो में से गुजरना पडता है। पाल डाइसन ने कहा है कि यह गीता के इस श्लोक के अनुरूप है (vi, 45)

प्रतियत्न से वह योगसेवी सर्व पाप विहीन हो।
बहुजन्म पीछे सिद्ध हो कर परम गति में लीन हो।।

अभी तक मैंने व्यक्ति के क्रमिक प्रगति की अनेक सकल्पनाओ का ही उल्लेख किया है। अब मै उन उपपत्तियो को लेता हूँ, जो सामूहिक क्रमिक प्रगति की कल्पना करती है। इन सब में से डार्विनवाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसे चार्लस डार्विन से सम्बद्ध किया जाता है जिसने १८५२ में 'जातियो की उत्पत्ति' प्रकाशित किया था। इसके अनुसार प्रकृति में अस्तित्व की जद्दोजहद में सफलता पाने के परिणामस्वरूप ही क्रमिक विकास होता है। इस उपपत्ति को आधार मानते हुए वैज्ञानिको ने मानव-जाति की वशावली बनाने का प्रयत्न किया है और यह दर्शाना चाहा है कि जीव में क्रमिक विकास होता है, जिसका आरभ निम्नतम वर्ग के जीवो से होता है और मानव तक पहुँचता है। यह सिद्धात पहले की वैज्ञानिक मान्यताओ और सभी बडे धर्मों के विश्वासो को झुठलाता है कि जातियाँ अपरिवर्तनशील है। इस सिद्धात के अग्रदूत ग्रीक निवासियो, चीनियो, मुस्लिम रहस्यवादियो में भी पाये जाते है, जिन्होंने कुछ हद तक इस विचार की कल्पना की थी, परन्तु है यह आधुनिक पश्चिम का ही कारनामा। यह पश्चिम के ज्ञान के सभी विभागो में ऐसा परिवर्तन ले आया जो मानव विचार के इतिहास में अद्वितीय है। इसका दार्शनिक महत्व यह है इसने मानव और पशु में जो भेद चला आ रहा था, उसको मिटा दिया। और इसकी बजाय, जातियो के स्वरूप में क्रमिक विकास का सिद्धान्त सामने रखा, जो कि

आवश्यकताओं की होड के कारण निम्न स्तर के जीवों को ऊपर उठने के लिए बाध्य करता है।

डाविनवाद की यह मुख्य सकल्पना कि समस्त जीवन एक विशाल सत्ता है भारतीय दर्शन के लिए नई नहीं है। उपनिषदो के समय से हिन्दू यह मानते आये हैं कि पशुओ और पौदो में मानव की तरह आत्मा होती है। और जैनियो को इनफ्यूसोरिया और बैक्टीरिया की भाँति अनेक छोटे-छोटे जीवों के सबध में आधुनिक उपपत्तियो का पूर्वाभास था। अत यह अचम्भे की बात नहीं है कि ईसा से तीन शती पहले सम्राट् अशोक ने पशुओ के लिए अस्पताल बनवाये। पश्चिम में जेरोम और फ्रासिस जैसे ईसाई सत यहूदी पशुओ के प्रति भ्रातृ-स्नेह रखते थे परन्तु पशु-निर्दयता निरोधक समितियाँ यूरोप में केवल पिछली शती के शुरू से ही अस्तित्व में आयी है।

हिन्दुकुश के पश्चिम के देशो के धर्म शास्त्रियों और दार्शनिकों ने मानव के इतिहास की प्रक्रिया इस प्रकार बताई है कि यह ससार की उत्पत्ति से ही आरम्भ हो जाती है, और इस ब्रह्माण्ड के नाश के साथ समाप्त होती है, फिर मरे हुओ को जिलाया जायेगा और उसके बाद स्थायी और शाश्वत परमानन्द का राज्य कायम हो जायेगा। जरथुस्त्र और फिर यहूदी पैगम्बर भी ससार के इतिहास की इसी उपपत्ति का मानने थे और ईसाई मत ने इस सिद्धात को अपनी बडी शिक्षाओ में रखा है। सत आगस्टाइन ने अपनी 'ईश्वर का साम्राज्य' नाम की पुस्तक में इतिहास के इस दर्शन की स्थापना की है जो यह मानता है कि मानव-जीवन की छ हजार साल की अवधि में रामराज्य की स्थापना की ओर अधिकाधिक प्रगति हुई है।

उन्नीसवीं शती में इस विचार का क्रमिक विकास की दार्शनिक उपपत्ति का रूप दे दिया गया था। हेगल के अनुसार सारा इतिहास एक उद्देश्यवादी विकास है क्योंकि प्रक्रिया लक्ष्य द्वारा शासित होती है। जैसे कि बीज में वृक्ष की सारी प्रकृति, अर्थात् फलो का रूप और गन्ध, रहती है, इसी प्रकार मन के प्रथम चित्हो में सारा इतिहास निहित रहता है। अत इतिहास अन्तर्व्यापी विचार का आवश्यक क्रमिक विकास है और सभी अवस्थाओ में यह प्रक्रिया नियत रहती है। मानवी रुचि और कार्यों द्वारा इतिहास के मुख्य उद्देश्य का पालन होता है परन्तु स्वय उद्देश्य मानवी दिलचस्पी और कार्यों से परे है।

यह इतिहास के ईसाई दर्शन की दाय का फल है कि हैगल यह नही मानता कि क्रमिक विकास हमेशा होता रहेगा। परन्तु उसका मत है कि एक सर्वोच्च और परम स्थिति पर पहुँचा जा सकता है। अत वह ईसाई मत का निरपेक्ष

धर्म मानता है जैसे उसका अपना दर्शन निरपेक्ष दर्शन है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में से गुजर चुकने पर मानव मन अन्त में मानो एक पठार भूमि पर पहुँचता है, जहाँ वह सदा एक ऊँचे स्तर पर ही विचरता रहेगा। बाद में हेगल के *अनुयायी दो गुटों में बँट गये।* आदर्शवादी, इतिहास को चेतना का आशा-पूर्ण क्रमिक विकास मानते हैं। परन्तु एडवर्ड फान हार्टमैन इतिहास के दर्शन को निराशावादी ढंग से लेता है। ससार एक महान् अचेतन द्वारा शासित है, जो विश्वभर के विधाता के रूप में सभी बातों को पूर्व-निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाता है। इस अचेतन ईश्वर का लक्ष्य मनुष्य का उद्धार करना है, एवं विश्व-व्यापी 'निर्वाण' स्थापित करना है और ससार की इच्छा-शक्ति का सर्वथा लोप करना है। दूसरे दार्शनिको ने हेगल से आरम्भ करके इतिहास का भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाया। कार्लमार्क्स ने हेगल के निरपेक्ष विचार तर्क के स्थान पर आर्थिक दशाओ और विकास का तर्क रखा। मानव की प्रकृति और जीवन के आदर्श तत्व केवल भौतिक अवस्था और आर्थिक तथ्यो के अन्तर्योग का प्रतिबिम्ब होते हैं। इतिहास की यह भौतिकवादी सकल्पना मानव की आध्यात्मिक उत्पत्ति या मानव के भाग्य को मानने वाली उपपत्तियो के विरुद्ध है। परन्तु इस विश्वास से कि भविष्य में ससार में एक नया, न्यायसगत राज्य स्थापित होगा, मार्क्सवादी उपपत्तियो और इस धार्मिक प्रत्याशा में कि ससार पुनर्जीवित होगा और फिर स्थायी रूप में रहेगा, कुछ समानता पाई जाती है।

भारतीय धर्मों और दर्शन-पद्धतियो की यह विशेषता है कि वह इस बात में विश्वास नहीं करते कि एक विश्व प्रक्रिया के अन्तर्गत, जो केवल एक बार होती है, और आनन्द की एक चरम अवस्था के अन्तर्गत, जिसका कभी अन्त नही होता, शून्य से सृष्टि होती है। जैनियो और कुछ मीमासाकारो ने ससार को अनादि और अनन्त कहा है। हिन्दुओ और बौद्धो के अनुसार कई ससारो की उत्पत्ति होती है और फिर उनका नाश हो जाता है, इस प्रकार निर्माण और ध्वस का चक्र अनादि काल से चलता आया है और यह भी कि सम्पूर्ण विश्व हमेशा था और हमेशा रहेगा। हमारी अपनी पृथ्वी पर भी अच्छे और बुरे युगो का चक्र निरन्तर चलता रहता है। अनन्त काल तक रहनेवाला निरपेक्ष सम्पूर्णता का कोई युग न होगा। इस कारण भारतीय दार्शनिको ने कभी भी स्थायी परमानन्द अवस्था की आशा नहीं की। कोई आत्मा कई जन्मों के लाट में से गुजर कर पूर्णता को प्राप्त कर सकती है, परन्तु इससे ससार में कोई परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि अपने कर्मों के अनुसार मरने और जन्म लेनेवाले जीवो की सख्या अनन्त है। युगों, कल्पों, अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों की भारतीय कल्पना हमें

करके संतोष करता है। विभिन्न प्रणालियों की शिक्षाओं को तरतीब देने के प्रयासों से यह पता चलता है कि एक सच्चाई है जो सारे मानव मात्र के लिए सामान्य है। यह सच्चाई पहले ही विदित है, तथा यह आशा की जा सकती है कि कुछ समय में बाद मानव जाति का बहुमत व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से इसे अपना लेगा।

कई भारतीय विचारकों का दूसरा मत है। उनके अनुसार प्रणालियों में श्रेणीबद्धता नहीं है बल्कि हर शिक्षा एक व्यक्ति की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पर्याप्त अभिव्यक्ति है। जैसा कि भिन्न देशों के लोगों की भिन्न रुचियां, वहाँ की जलवायु, उनके वंश, उनकी आयु, और बुद्धि के आधार पर उनके लिये भिन्न प्रकार का खाना और कपड़े अपेक्षित हैं और इन वस्तुओं में कोई भी समानता की आशा नहीं करता, उसी प्रकार लोगों के धार्मिक और दार्शनिक मत कई बातों पर निर्भर होते है, और इस बात की न तो संभावना है, और न आशा ही की जा सकती है कि इस विषय में मनुष्य कभी भी एकमत होंगे।

जब महात्मा गांधी ने मुझ से धार्मिक प्रश्नों के बारे में बातचीत की तो उन्होंने कहा कि धर्मों और दार्शनिक मतों की अनेकता केवल एक सत्य ही नहीं है बल्कि एक वरदान है। क्योंकि अध्यात्म संबंधी हर विचार, इस संसार या इससे परे जो कुछ श्रेष्ठ है, उसकी अपूर्ण व्याख्या ही तो है। एक प्रसिद्ध उपमा द्वारा महात्मा बुद्ध ने इस सच्चाई को दर्शाया है और इसकी तुलना श्रावस्ती के उन पाँच अन्धों के व्यक्तिगत मतों से की है जिन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि हाथी क्या होता है। क्योंकि हर एक ने हाथी के शरीर के एक भाग को ही छुआ था, इसलिए उनके मतों में बहुत भेद था। वास्तविकता को सही रूप से समझने की क्षमता केवल उसी व्यक्ति के लिए संभव हो सकेगी जो अपने जन्मजात अन्वेषण से मुक्त हो गया हो। यह कथा बहुत प्रसिद्ध हुई। यह न केवल भारत में जैनियों और शैवों में, बल्कि अलग-गजाली, सनार और जलालुद्दीन रूमी जैसे मुस्लिम रहस्यवादियों, आधुनिक पाठ्य ग्रन्थों (जैसे ई० एस० राबिनसन की पुस्तक 'सामान्य मनोविज्ञान का अध्ययन') में भी प्रचलित है। अनादि काल से आग्रहवाद की हर पद्धति में झूठ और सच्चाई का मिश्रण रहा है, क्योंकि संसार से परे जो कुछ है मानव में उसकी अभिव्यक्ति करने की क्षमता नहीं है। अतः बाहरी आकार या आध्यात्मिक चोले का इतना महत्व नहीं है, बल्कि महत्व इस बात का है कि मानव अधिक अच्छा और बुद्धिमान बनने के लिए उसका क्या उपयोग करता है।

नागार्जुन और शंकर को भी इस बात का पता था, उन्होंने दो प्रकार के सत्यों में भेद किया। एक तो अस्थायी समवृत्ति-सत्य अथवा व्यवहार-सत्य,

और दूसरा ऊँचा अर्थात् परमार्थ सत्य। पहला उन सभी प्रणालियों को अपना लेता है, जो ससार की समस्त समस्याओं को समझने के लिए अनुमान, परम्परा और इलहाम के क्षेत्र मे तर्क की सहायता लेती है। दूसरी प्रकार का सत्य केवल चिंतन द्वारा ही पाया जा सकता है जिसकी ओर मानव धीरे-धीरे बढ सकता है।

सत्य दो प्रकार के है जो एक इमारत की दो मजिलो की तरह एक दूसरे के ऊपर स्थित है। ऐसी सकल्पना पश्चिमी दर्शन में—कांत के दर्शन में—भी पायी जाती है। क्योकि 'विशुद्ध विवेक के आलोचनात्मक निबन्ध' के अनुसार अन्धविश्वास वे विचार केवल हमारे विवेक को नियमित करने के लिए है, जिनमें साधक को स्वय सब कुछ ढूंढना होता है। वे एक अज्ञात और ऐसे यथार्थ के चिह्न है जिसकी जाँच नहीं हो सकती तथा जिसके बारे मे हम नही जानते कि वह असल में क्या है और जिसके बारे में हम केवल यही जान सकते है कि उनका हमारे लिए क्या महत्व है।

पूरब—और शिक्षा की समस्यायें

हुमायूं कबीर

१

पूरब और पश्चिम में मनुष्य या शिक्षा दर्शन की सकल्पनाओं में मुख्य अन्तर क्या है, हमें इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले यही समझने की चेष्टा करनी चाहिये कि 'पूरब' और 'पश्चिम' क्या है? प्रत्यक्ष ही यह भेद भौगोलिक है, लेकिन भौगोलिक होते हुए भी पूरब और पश्चिम शब्द इस गोल जगत में सापेक्ष है और होने भी चाहियें। ससार का हर भूखण्ड पूरब और पश्चिम दोनों ही है, यह तो इस बात पर निर्भर है कि कहने वाला व्यक्ति कहाँ का है। एशिया को पूरब और यूरोप को पश्चिम कहने की परम्परा मनुष्य की उस धारणा से सबधित है जब वह पृथिवी को चपटी और सीमित समझा करता था। यह जो एशिया में विकसित दर्शनों को पूरबी और यूरोप में विकसित दर्शनों को पश्चिमी कहने की परम्परा है यह भी मनुष्य की उसी चिन्तन प्रणाली की देन है।

यहाँ जो बहुवचन शब्द 'दर्शनों' का प्रयोग किया गया है इसके माध्यम से एशिया में भिन्न भिन्न अनेक दर्शन प्रणालियों की स्थिति स्वीकार की गई है। चीन में विकसित दार्शनिक सकल्पनायें भारत या यूरोप में विकसित सकल्पनाओं से प्राय भिन्न है। हर प्रदेश में ऐसी प्रणालियाँ विकसित हुई हैं जिनमें परस्पर सबध, समानतायें या विरोध है। एशिया जैसे विस्तृत भूखण्ड को तो जाने दीजिए, भारतीय दर्शन में ही ऐसी प्रणालियाँ हैं जिनमें कुछ एक ब्रह्म को ही सत्य मानती हैं और कुछ इन्द्रियों के अनुभव को। भारतीय दर्शन का कोई भी इतिहास हो, उसमें शकर और चार्वाक में दोनों को स्थान मिलता है, यद्यपि इस तथ्य की ओर अधिकाश लोगों का ध्यान नहीं जाता।

अनेक कारणों से, जिनके विश्लेषण की हम यहाँ जरूरत नहीं समझते, बहुत से विद्वान् वेदान्त को ही भारतीय दर्शन की मुख्य धारा मानते है, और वेदान्त मे अनेक भाष्यों में से शकर भाष्य को ही मान्य समझते हैं। इसके फलस्वरूप अनेक भारतीय और विदेशी विद्वान् शकर के मतो को ही सर्वोत्तम रूप से भारतीय मत समझते हैं। साथ ही शकर की स्थिति भी हमेशा सही नही समझी गई है। आज भी विद्वानों में इस बात पर बड़ा मतभेद है कि शकर का वास्तव में माया की सकल्पना से क्या अर्थ था? माया भ्रम है या रहस्य? फिर शकर का बौद्ध

अध्यात्म से क्या संबंध था ? क्या उन्होंने भी, बौद्धों की ही तरह दृश्य जगत की अतीन्द्रिय वास्तविकता को अस्वीकार नहीं किया था ? आज बहुत से लोग ऐसे हैं जो शंकर को बौद्ध धर्म का पक्का विरोधी समझते हैं, किन्तु अपने युग में वे प्रच्छन्न-बौद्ध ही माने जाते थे।

हम अगर शंकर-दर्शन के संबंध में परम्परागत मत को मान भी लें, तो भी ऐसी अन्य रूढ़िनिष्ठ भारतीय विचारधारायें हैं जो सृष्टि और उसके कर्मों की वास्तविकता को ही अधिक मान्यता देती है। छः रूढ़िनिष्ठ दर्शन-शास्त्रों के अतिरिक्त बहुत से भिन्न-भिन्न अन्तर्दृष्टि और प्रभाव वाले अरूढ़िवादी सम्प्रदाय भी हैं। रूढ़िनिष्ठ और अरूढ़िवादी इन सम्प्रदायों में मानवीय चिन्तन की लगभग सभी संभव श्रेणियाँ देखी जा सकती हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी उनमें अन्तर्भेद भी इतना पाया जाता है जितना किसी भारतीय और यूरोपीय प्रणाली में नहीं मिलता।

यही बात हम उस प्रदेश के विभिन्न दार्शनिकों की मनुष्य-संकल्पना में भी पाते हैं, जिसे हम पश्चिम मानते हैं। यूनानी दर्शन के बहुत हद तक सीमित क्षेत्र में भी यथार्थ और मनुष्य के विषय में हेराक्लाइटस और पारमेनाइडीज़ के जो रुख हैं वे भी परस्पर विरोधी हैं। अन्य देशों की भाँति यूरोप में भी मानवीय चिन्तन की दो मुख्य परन्तु परस्पर विरोधी धारायें दिखाई देती हैं। कुछ चिन्तकों ने शाश्वतता पर बल दिया है और जगत प्रवाह को अन्तर्हित सत्य की विकृति की प्रक्रिया मात्र माना है। और कुछ ने परिवर्तन को मौलिक और स्वयं प्रक्रिया को ही सत्य माना है। हमारे ज्ञान-भण्डार को हमारी इन्द्रियों और हमारे विवेक ने जितना पूर्ण किया है उसके महत्व पर भी विचारकों में एक मत नहीं है। कुछ मानते हैं कि मनुष्य का सारभूत-तत्व उसकी विचारशीलता है। कुछ लोगों ने मनुष्य को इन्द्रिय-बोध की एक धारा-मात्र माना है। अवश्य ही उनकी मनुष्य की संकल्पना में अन्तर है। ये अन्तर भौगोलिक सीमाओं को भी पार कर चुके हैं। हमको दोनों सिद्धान्तों के समर्थक एशिया और यूरोप दोनों में मिलते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के विषय में कोई ऐसी संकल्पना नहीं है, जिसे नितान्त एशियाई कहा जा सके उसी प्रकार कोई ऐसी संकल्पना भी नहीं है जिसे निश्चित रूप से विशुद्ध यूरोपीय कहा जा सके।

यूनानियों ने मनुष्यमात्र को हैलेनीज़ और बर्बरों में विभक्त किया था। भारतीयों ने भी उसी तरह का विभाजन आर्य और म्लेच्छों में किया। हिब्रुओं ने यहूदी और जेन्टाइल में भेद किया। अपने को श्रेष्ठ समझनेवाली हर जाति में दूसरों के प्रति इनायत से भरी घृणा का भाव रहता था। परन्तु इसमें सन्देह

है कि अर्वाचीन संसार ने इस विभाजन को पूरब और पच्छिम का विभाजन माना था। यह विभाजन बाद की प्रक्रिया है और इसके मूल में यूरोपीय देशो की सैनिक श्रेष्ठता ही है, जो युद्ध-कला में विज्ञान के प्रयोग द्वारा यूरोप के पुनर्जागरण युग में इन देशो को प्राप्त हुई थी।

इसी सैनिक श्रेष्ठता के बल पर यूरोप को, विशेष कर पच्छिमी यूरोप के राष्ट्रो को, राजनीतिक शासन-सत्ता हाथ लगी और उनमें श्रेष्ठता-भाव जागृत होने लगा जो कभी-कभी गिर कर उद्दतता के रूप में फूट पडा है। यूनानियों में अपनी श्रेष्ठता का भाव तो था, परन्तु उन्होंने मिस्र-वासियो और कुछ अन्य राष्ट्रो की श्रेष्ठता कुछ क्षेत्र में स्वीकार की थी। इसी प्रकार हिन्दुओं ने मूर्ति कला, सैनिक विज्ञान और ज्योतिष में यूनानियो का अनुयोग स्वीकार किया था। पुनर्जागरण के पहिले तक यूरोपीय भी अनेक कलाओं और विज्ञानो के क्षेत्र में अरबों की उत्कृष्टता मानते आये थे। किन्तु उत्तर-पुनर्जागरण काल में पच्छिमी-यूरोप-वासियो में यह भावना पैदा हुई, जो कभी-कभी तो स्पष्ट शब्दो में व्यक्त की जाती थी, परन्तु अधिकतर चुपचाप मान ली जाती थी, कि मानवता के समस्त श्रेष्ठ गुण उन ही के हिस्से में आये हैं।

यूरोप, अफ्रीका और एशिया ने (उस समय ज्ञात विश्व यही था) इतिहास के बिलकुल प्रारभ से ही एक दूसरे को प्रभावित किया था। जिसे आज पच्छिमी कहा जाता है वह यूनानी और हिब्रू तत्वों का सश्लेषण है और जिसे पूरब कहते हैं उसमें हेलेनीज कला के लेश और आधुनिक विज्ञान के समाधान के चिह्न पाये जाते हैं। अगर पूरब और पच्छिम के बीच कोई विभाजन रेखा खीची ही जानी है, तो कदाचित यह कहना गलत न होगा कि पच्छिमी अध्यात्म तो अधिकाश पूरब का और पूरब की बौद्धिकता कुछ अशो में पच्छिमी स्रोतो से ही आई है। जिस ईसाई धर्म ने यूरोप को अत्यधिक प्रभावित किया है उसका जन्म एशिया में हुआ था परन्तु जब वह लौट कर यहाँ आया तो यूरोपीय वश में। इस सब का निष्कर्ष यही है कि मनुष्य की किसी भी सकल्पना को विशुद्ध पूरबी या पच्छिमी नही कहा जा सकता। दूसरे शब्दो में हम दर्शन-जगत को ऐसे सास्कृतिक भागो में नही बाँट सकते जिनका परस्पर कोई सबध ही न हो।

२

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि अगर ऐसा है तो लोगो ने पूरब और पच्छिम को मानव आत्मा की यदि परस्पर विरोधी नही तो कम-से-कम बिलकुल अलग अलग अभिव्यक्तियाँ क्यो माना है। इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि

मनुष्य के चिन्तन पर माहौल का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है और यह माहौल भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न होता है। मनुष्य कभी शून्य में नहीं सोचता। वह जो कुछ सोचता है अपने अनुभव से ही सोचता है और उसका अनुभव उसके प्राकृतिक और मानवीय माहल से ही अपना रूप ग्रहण करता है। एक उदाहरण लीजिए—एक रेगिस्तान है उसके ऊपर एक अनन्त आकाश और नीचे एक भूमि का अविच्छिन्न विस्तार है। इस कारण रेगिस्तान का असर तमाम भेदों को मिटानेवाला होता है, और हमारे मस्तिष्क में वह विश्व के ऐक्य का भाव पैदा कर देता है। इस ऐक्य की भावना पैदा होने के बाद एक ईश्वर और एक नियम का विचार पैदा होना बिलकुल स्वाभाविक है। और इसीसे यह समझने में भी सहायता मिलती है कि सभी शामी धर्मों में अद्वैतवाद ही क्यों इतनी तीव्रता के साथ व्यक्त हुआ है।

उत्पादन के विविध ढंग और उत्पादक शक्तियों और भिन्न-भिन्न कार्यों के बीच संबंध भी समुदाय की प्रचलित विचारधारा को प्रभावित करते हैं हालाँकि इनके परस्पर संबंधों को हम सदा देख नहीं पाते। कोई विशेष सामाजिक व्यवस्था जितने अधिक समय तक चलती है, लोगों की चिन्तन प्रणाली पर उसका उतना ही सबल प्रभाव पड़ता है। यह तो हर एक का अनुभव है कि एक ही व्यवसाय के लोगों की चिन्तन-प्रणाली भी एक जैसी हो जाती है। सारे संसार में खेतिहर समुदायों की प्रवृत्ति कबीलों में बँट जाने और संकुचित दृष्टिकोण रखने की ओर रहती है। ग्राम समुदाय ही जीवन की ईकाई है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की प्रवृत्ति व्यक्ति की स्वतन्त्र-सत्ता की उपेक्षा करने की ओर होती है। दूसरी ओर सामाजिक सहयोग भी ग्राम-समूह के सदस्यों तक ही सीमित रहता है। एक व्यक्ति यह शायद ही सोच पाता है कि उसका संबंध पूरे देश या पूरे राष्ट्र से भी है। वह वास्तव में अपने देश या राष्ट्र की अपेक्षा अपने परिवार और अपनी जाति के प्रति ही अधिक ईमानदार रहता है। भारत में जहाँ चार हजार से भी अधिक वर्षों से देश की आर्थिक स्थिति कृषि प्रधान रहती आई है, इस बात का उदाहरण मिलता है कि यह सिद्धान्त किस प्रकार काम करता है। उसके आर्थिक जीवन के इस रूप ने ही, जिसमें कि ग्राम समुदाय पर अधिक बल दिया गया है, वहाँ व्यक्तिवाद और राष्ट्रीयता दोनों के विकास में रुकावट डाली है।

हम एक दूसरा उदाहरण ले कर देख सकते हैं कि किस प्रकार आर्थिक संगठन जीवन के दृष्टिकोण पर प्रभाव डालता है। किसान लोग, विशेष कर वैज्ञानिकों की खोजों से पहले, अपनी समृद्धि के लिये प्रायः ऐसे ही साधनों का मुँह ताकते थे

जिन पर उनका कोई वश नहीं था। वे न तो सूखे को और न बाढ़ को ही रोक सकते थे। किसानों में इस प्रकार भाग्यवादिता ने जन्म लिया। इसके विपरीत वाणिज्य-प्रधान और उद्योगी वर्गों के व्यक्तियों में आत्मविश्वास और व्यवहारिक और मानुषी दृष्टिकोण का विकास हुआ। हम को इस प्रकार के भेद एशिया और यूरोप के खेतिहर और वाणिज्य प्रधान दोनों वर्गों में मिलते हैं। मध्ययुगीन यूरोप अधिकांश रूप में खेतिहर ही था। वह अपनी प्रवृत्ति में एशिया के तत्कालीन खेतिहर समुदायों के अधिक समान था और आज के उद्योग प्रधान यूरोप के कम। यहाँ हमें इस बात का एक और स्पष्ट संकेत मिलता है कि भिन्न-भिन्न जातियों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है उसका कारण भौगोलिक स्थिति उतना नहीं जितनी वहाँ का सामाजिक और आर्थिक विकास है।

सामाजिक ढाँचे का प्रभाव गूढ़तम मानवीय चिन्तन धाराओं में भी देखा जा सकता है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि मनुष्य विषयक भारतीय सकल्पना की विशेषता उसका कर्मवाद, और आवागमन अथवा पुनर्जन्म पर विश्वास है। ये दो अलग-अलग सिद्धान्त नहीं हैं बल्कि एक ही मौलिक सिद्धान्त के दो सूत्र रूप हैं। यह सिद्धान्त है मानव नियति पर कारणवाद का आरोप। इसके अनुसार मनुष्य पर जो कुछ घटता है वह न आकस्मिक ही होता है न किसी अमानवीय तत्व की इच्छा ही से। हर व्यक्ति अपने भाग्य के लिये उत्तरदायी होता है। जैसा उसने बोया है वैसा वह अब तक काटता आया है और आगे भी काटता रहेगा। उसके कर्म के फल एक ही जीवन में समाप्त नहीं हो जाते और उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। इसलिये कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य ईश्वर या अन्य किसी अतिमानवीय शक्ति के प्रभुत्व से मुक्त है।

हमें इस सिद्धान्त के समान ही सिद्धान्त अन्यत्र भी मिल सकते हैं। सुकरात के दर्शन में भी कुछ इसीसे मिलते-जुलते तत्व हैं। फिर भी जिस रूप में इस सिद्धान्त ने पूर्ण अभिव्यक्ति पाई है वह भारत में ही पाया जाता है। इसके यहाँ पनपने का एक कारण आर्यों के यहाँ आ कर बसने के बाद उनका समाज-सगठन है। आर्य लोग यहाँ थोड़ी-थोड़ी संख्या में आये और उन्हें यहाँ ऐसे लोगों का सामना करना पड़ा जो सैनिक शक्ति में तो जरूर उनसे कम थे, परन्तु और अन्य बातों में कदाचित बराबर ही थे। आर्यों ने उनको हराया और अपने अधीन किया, किन्तु उनको सामाजिक पद सोपान में एक निम्न वर्ग की भाँति जीवित रहने दिया। इसी सामाजिक विषमता ने जात-पाँत को जन्म दिया। इस प्रकार असमानता को एक व्यवस्था का रूप मिल जाने से वह चिरस्थायी हो

गई। हम जात-पाँत की निन्दा मानववादी दृष्टिकोण से अवश्य कर सकते हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह मानना ही पड़ेगा कि इससे पराजितों को कम-से-कम जीवित रहने का मौका अवश्य मिला है, चाहे वह तंगी और अयोग्यताओं की स्थिति में ही क्यों न हो।

इस प्रकार इन दलितों के इन दुखद और अपमानजनक स्थितियों में जीवन बिताने से कई कठिन सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। ऐसे समाज में जहाँ ऊँच-नीच का भेद भाव होता है, प्रायः अधिकार ऊपर वालों को ही मिले होते हैं। दलितों को तो कोई अधिकार मिले नहीं होते। इससे धीरे-धीरे यह भी होता है कि विजेताओं में भी जो कुछ अभागे होते हैं उनके भी अधिकार छिन जाते हैं। इसलिये ऐसे समाजों में यह खतरा हमेशा बना रहता है कि कहीं ये अधिकार-वंचित लोग विद्रोह न कर दें, क्योंकि ऐसे लोग ही बड़ी संख्या में होते हैं। यह खतरा उस हालत में कम हो जाता है, जब बहुसंख्यकों के मन में यह बिठा दिया जाये कि (क) अपनी इस दुखद स्थिति के लिये वे स्वयं जिम्मेदार हैं और (ख) अगर वे कष्ट को धैर्य से सह लेंगे तो अगले जन्म में उनकी दशा सुधर जायेगी। कर्मवाद के सिद्धान्त में यह दोनों बातें पूरी होती हैं। वह लोगों के मन में यह बिठाता है कि उन्होंने पूर्व जन्म में जो पाप किये थे, उन्हीं के कारण उनको इस जन्म में भुगतना पड़ रहा है। साथ ही वह उन्हें यह भी आशा दिलाता है कि बहुसंख्यकों को जो काम सौंपा गया है अगर वे उसे करते जायेंगे तो आगे उनका भविष्य सुधर जायेगा।

यह जरूरी नहीं है कि यह सिद्धान्त जान बूझ कर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को सही बताने के लिये बनाया गया हो और शायद ऐसा है भी नहीं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं है कि समाज में शासक वर्ग की जो आवश्यकतायें थीं यह उनके अनुरूप जरूर था। यह वर्ग अपनी हैसियत की ही वजह से अधिक कुशाग्र बुद्धि और साहसी होता है। उसी के विचारों के अनुसार सारे समाज का ढर्रा निर्धारित होता है। इसलिये जो सिद्धान्त अधिकारी वर्ग को ग्राह्य हो वही अगर धीरे-धीरे समस्त रूप में पूरे समाज के दृष्टिकोण का निर्माण करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

युद्ध में बारूद का प्रयोग इस बात का उदाहरण है कि किस प्रकार वैज्ञानिक खोजें समाज के विकास क्रम पर प्रभाव डालती हैं। यूरोपीय सामंतवाद का एक आधार 'नाइट' की श्रेष्ठ सैन्य शक्ति था। अपने शस्त्रों की सहायता से मामूली पैदल सिपाहियों के हमलों से वह कम से कम तब तक सुरक्षित रहा, जब तक बारूद ने उसके किले को नष्ट नहीं कर दिया। इस प्रकार बारूद ने ही

सामन्तवाद के उखाड़ने में प्रत्यक्ष रूप से योग दिया और सभी योद्धाओं के लिये समान रूप से खतरा पैदा करके परोक्ष रूप में लोकतन्त्रीय प्रवृत्ति की वृद्धि में सहायता की। *सामन्ती व्यवस्था के ह्रास ने ही नयी सामाजिक व्यवस्था के* उपयुक्त, विचारधाराओं के पनपने के लिये भूमि तैयार कर दी।

निष्कर्ष यह निकला कि भिन्न भिन्न देशों या युगों में मनुष्य की सफलता में जो भेद रहे हैं वे आन्तरिक नहीं हैं बल्कि सामाजिक संगठन और विकास के ही अन्तरों के नतीजे हैं। और अगर इन अन्तरों को आन्तरिक या अपरिवर्तन-शील माना जाय तो इसका कारण मनुष्य की यह प्रवृत्ति समझी जा सकती है कि वह हर वस्तु और उसके नाम को एक समझता है। यह नामवाद आज चिन्तन के क्षेत्र में प्रचलित नहीं रह गया है। लेकिन इसके प्रभाव अब भी अप्रत्याशित रूपों में चले ही जाते हैं। बिना संज्ञा के मनुष्य सफलताओं से विहीन हो जायेगा और *बिना सफलताओं के वह अपने अनुभवों का संगठन न कर* पायेगा। मनुष्य की शक्ति तो सीमित होती है परन्तु उसका ध्यान आकर्षित *करने वाली चीजें अनेक होती हैं। इसलिये उसको वर्ग बनाने और नाम रखने* की आवश्यकता पड़ती है ताकि वह एक ही नियम के अन्तर्गत अगणित उदाहरणों को रख सके। और चूंकि *यह केवल नामों के प्रयोग से किया जाता है*, इसलिये उसे यह बोध होता है वह वस्तु का केवल नाम रखने से ही उसे समझ सकता है।

इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है *कि प्रायः नाम को ही सत्य मान* लिया जाता है। दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में, चाहे वे पूरबी हों या पच्छिमी, हमें ऐसे शब्द और वाक्य मिलते हैं जिनमें शब्द-ध्वनि का गुणगान पाया जाता है, इन वाक्यों में शब्द या 'लोगोस' को ही सत्य के साथ तद्रूप कर लिया गया है। कुछ समय बाद लोगों ने अनुभव किया कि यह शब्द की महत्ता मुख्य रूप से साधन मात्र है। लेकिन नाम की शक्ति को इतनी सरलता से हिलाया नहीं जा सकता था। और अगर हम इसका प्रमाण चाहें तो उन 'वादों' को देख सकते हैं जो मानवीय प्रवृत्तियों और कार्यों पर हावी होते चले आये हैं।

प्राचीन समाजों का विकास एक दूसरे से अलग-अलग हुआ है इसी के कारण यह नामरूप का भ्रम चिरस्थायी हो सका। आने जाने की कठिनाइयों के कारण भिन्न भिन्न देशों में अक्सर एक समाज को दूसरे समाज के अस्तित्व का भी ज्ञान न था। इस संसर्ग के अभाव के कारण भिन्न भिन्न अवस्थाओं की सभ्यताओं का एक साथ रहना संभव हुआ। और इसीलिये दुनिया में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण संभव हो सके। इस स्थिति में यह भी स्वाभाविक हो जाता है कि इन दृष्टिकोणों का वर्णन अपने अपने प्रदेशों के अनुसार किया जाये और एक बार किसी दृष्टि-

कोण या प्रवृत्ति को भौगोलिक सत्ता मिल गई तो फिर उसका उस प्रदेश के साथ तादात्म्य हो जाना बहुत आसान था।

३

इस प्रकार सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि मनुष्य के विषय में कोई भी संकल्पना अपने अनोखे रूप में पूरबी या पच्छिमी नहीं है। और अगर हम उन दार्शनिक परम्पराओं को जिन्हें लाक्षणिक रूप से पूरबी या पच्छिमी कहा जाता है, विचार करें तो भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। अक्सर यह कहा जाता है पूरबी दार्शनिक ज्ञान प्राप्ति में सहज ज्ञान को केन्द्रीय नहीं तो महत्वपूर्ण अवश्य मानता है, जब कि पच्छिमी दार्शनिक की प्रवृत्ति यह रहती है कि समस्त अनुभवात्मक दावों को बौद्धिक और व्यवहारिक प्रमाणों से जाचे। इस कथन में सत्य तो है, मगर बहुत सी शर्तों के साथ। क्रमबद्ध दर्शन की कोई भी भारतीय शाखा चाहे वह रूढिवादी हो चाहे अरूढिवादी, कभी कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं अपनाती जो तर्क की कसौटी पर खरा न उतर सके। प्लैटो और कांत जैसे बड़े बड़े पच्छिमी दार्शनिकों ने अपनी अपनी दर्शन प्रणालियों में सहज-ज्ञान को केन्द्रीय स्थान दे रखा है। फिर यह भी कहा जाता है कि पच्छिमी दार्शनिक अधिकतर सत्य का चिन्तन करता है और पूरबी दार्शनिक सत्य का साक्षात्कार। हो सकता है कि यह कुछ सूरतों में ठीक हो। लेकिन ऐसा भी है कि कुछ पूरबी दार्शनिक सत्य को मुख्य रूप से चिंत्य समझते हैं और पच्छिमी दार्शनिक ज्ञान को सत्य की प्राप्ति का केवल एक साधन मानते हैं। इसी तरह अगर कुछ पूरबी दार्शनिक ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि उच्चतम ज्ञान शब्दों द्वारा न तो बताया जा सकता है न किसी को दिया जा सकता है, तो ऐसे ही कुछ पच्छिमी दार्शनिक भी हैं जो यह मानते हैं कि वास्तविक ज्ञान अभिव्यक्ति से परे है।

भिन्न-भिन्न देशों और युगों में प्रकृति की शक्ति पर जितना प्रभुत्व मनुष्य का हुआ है उसने भी मनुष्य के दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। सभी आदिम समाजों में मनुष्य को ऐसी शक्तियों के अधीन होना पड़ा था जिनको न वह समझ सकता था और न जिन पर उसका नियन्त्रण ही था। ऐसे समाजों में मनुष्य को भाग्य का खिलौना समझा जाता था। खेतिहर समाज में ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दी कि मनुष्य ने प्रकृति पर कुछ अधिक नियन्त्रण पा लिया और मनुष्य की महत्ता का भाव बढ़ने लगा। जब तक खेतिहरों के पास सिंचाई के साधन नहीं थे तब तक वह मौसम की अनिश्चितता के शिकार बने हुए थे, और इसीलिये उनकी विचार-पद्धति में भाग्यवाद यथेष्ट मात्रा में विद्यमान रहा। जैसे-

जैसे विज्ञान में प्रगति होती गई मनुष्य प्रकृति पर अधिक प्रभुत्व पाता गया और उसमें आत्म-विश्वास बढ़ता गया। अब स्थिति यह है कि यह भाग्यवादी बन कर नहीं रहना चाहता बल्कि अपने भाग्य का स्वामी बनना चाहता है। उसके दृष्टिकोण में भी वैसा ही परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन सिर्फ उनके ज्ञान की स्थिति बदल जाने से ही होता है, लेकिन धीरे धीरे इसको जिस समाज से उसका संबंध है उसका एक अन्तर्भूत लक्षण मान लिया जाता है।

मनुष्य में अपनी तात्कालीन स्थिति के प्रति असन्तोष होता ही है परन्तु उसे प्रकृति के ऊपर जितना नियन्त्रण प्राप्त होता है उसके अनुसार इस असन्तोष की मात्रा कम या अधिक होती रहती है। उसमें निरन्तर प्रगति करने की प्रेरणा भी होती है और इसी से वह अपने वर्तमान को हमेशा सुधारने की चेष्टा करता रहता है। जिन दिनों उसे प्रकृति पर बहुत थोड़ा अधिकार था, अथवा वह प्रकृति के रहस्यों को नहीं समझता था, तब उसका यह असन्तोष दार्शनिक निराशावाद के रूप में व्यक्त होता था। हिब्रू पैगम्बरों और हिन्दू ऋषियों ने भी जीवन की नश्वरता और भौतिक ठाट-बाट की क्षणिकता पर समान रूप से ज़ोर दिया है। विज्ञान की प्रगति के साथ साथ पुनर्जागरण युग के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में भी इस असन्तोष ने बहुत से रूप धरे थे। वर्तमान जगत से ऊब कर ही उन्होंने प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों को जानने और संसार को अपनी इच्छा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया था।

इस प्रकार प्रकृति पर अधिकार पाने का जो प्रयत्न हुआ उससे एक ऐसी ऊर्जा का विस्फोट हुआ जिसके माध्यम से ही यूरोप के कुछ इने गिने लोग लगभग दो शताब्दियों तक संसार पर अपना प्रभुत्व जमाए रहे। उनकी यह प्रभुता राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं थी बल्कि जिसे हम प्राय आध्यात्मक कहते हैं उसके समस्त क्रियाकलाप पर भी उनका प्रभाव रहा। यूरोप में जो साहसीपन और प्रबल शक्ति है मानवीय प्रज्ञा पर विश्वास है, सत्य के प्रति उत्सुकता है और जहां कहीं भी दुःख हो उसे मिटाने का भाव है, यह सब उसी महत्तम ज्ञान द्वारा दी हुई शक्ति के बल पर है। ये कारनामे मनुष्य मात्र की थाती हैं जिन पर हम गर्व कर सकते हैं। इधर पिछले दिनों यूरोप के नेतृत्व के प्रति जो विद्रोह उठ खड़ा हुआ है उसका कारण इस महत्तम ज्ञान को राजनीतिक प्रभुता अथवा जाति श्रेष्ठता का माध्यम बनाना है। और यह कहा जा सकता है कि इस विद्रोह में भी यूरोप की ही कुछ महानतम आत्माओं का हाथ है।

इस प्रकार पिछली कुछ शताब्दियों में ही यूरोप और अन्य स्थानों के व्यक्तियों में दृष्टिकोण, स्वभाव और शक्ति का भेद पैदा हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकालना

कि पूरब और पच्छिम में कोई आन्तरिक भेद है सही न होगा। अयूरोपीय देश अगर पिछडे तो उसका कारण उनका खेती पर आश्रित होना और तकनीकी और वैज्ञानिक ज्ञान की कमी ही है। जैसे जैसे विज्ञान का प्रसार हो रहा है, ये और इनके साथ ही साथ दूसरी असमानतायें भी मिट रही है। जो प्रदेश अब तक अलग अलग और नितान्त भिन्न रूपो में विकास कर रहे थे उनको देश और काल के लिहाज से एक दूसरे के निकट ले आया गया है। लेकिन इस निकटता से अगर विनाश का नही तो संघर्ष का खतरा जरूर पैदा हो जाता है और यह खतरा तभी दूर हो सकता है जब सामान्य दृष्टिकोण और स्तरो की स्थापना करके व्यक्ति और समाज के बीच की विषमतायें मिटाई जा सकें।

इस प्रकार के विकास की भौतिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी है। अब से पहले मनुष्य का जगत विषयक ज्ञान सीमित था और उसी के अनुसार ऐक्य स्थापना के प्रयत्नो का क्षेत्र और उनका रूप भी सीमित था। ऐक्य प्राय आस-पास के प्रदेशो में ही होता था और थोडे से चुने हुए व्यक्तियों तक, जिनके बौद्धिक और आध्यात्मिक हित समान थे, सीमित रहता था। और इन व्यक्तियो को इस प्रकार सहयोग का एक आधार मिल जाता था। उन्नीसवी शती के मध्य तक ज्ञात-ससार और भौगोलिक ससार दोनो मे कोई भेद न रह गया था। विज्ञान की विजय से दूर दूर के प्रदेशो के निवासी भी एक दूसरे के पडोसी हो गये थे। इस प्रकार जिन लोगो को अपने परस्पर सबधो का आभास भी नही था उनके बीच राजनीतिक और आर्थिक सबध स्थापित हो गये। विज्ञान ने इस प्रकार उनके हाथो में एक ऐसी शक्ति दे दी है जिसको अगर बुद्धिमानी से प्रयोग न किया गया तो वह सारे ससार को नष्ट कर देगी। ससार की एकता बढने के साथ साथ शक्ति की वृद्धि के कारण मनुष्य जो भी काम करता है, अथवा उसका जो भी प्रतिफल होता है, वह सारे ससार पर असर डालता है। इस प्रकार एकता के प्रभावी होने के लिये भी उसको ससार भर में फैलाना चाहिये। आज के ससार को एक इकाई के रूप में ही बनना या बिगड़ना है।

विज्ञान की सफलता के कारण ससार टेक्नॉलोजी, उद्योग और अर्थ की दृष्टि से एक रहा है, परन्तु अभी तक मनोविज्ञान, भावना और राजनीति की दृष्टि से मनुष्य एक नही हो सका है। बौद्धिक रूप से तो वह मानता है कि वह अपनी हानि किये बिना किन्ही दूसरो को हानि नही पहुँचा सकता, और जब वह दूसरो के साथ अच्छाई करता है तो साथ ही अपने साथ भी अच्छाई करता है।

समझना उचित न समझा कि ये पद्धतियां सदा लागू भी हो सकती हैं या नहीं। वैज्ञानिक पद्धति का सार यह है कि वह किसी घटना विशेष के प्रति उत्सुक नहीं होती। व्यक्तित्व का सार यह है कि हर व्यक्ति अपनी चेतना का ही एक विशिष्ट केन्द्र होता है।

इस प्रकार विज्ञान की छत्रछाया में शिक्षा के जिस सिद्धांत का निर्माण हुआ उसने व्यक्ति को किसी नियम का एक उदाहरण, अथवा किसी मान के क्रम की एक इकाई माना है और सारे मानव समाज को ऐसी इकाइयों का एक संघात। सामाजिक संबंधों को भौतिक विज्ञान के सादृश्य पर समझाया गया, और यहां तक कि व्यक्तियों और उनके संविदा-संबंधों को परमाणुओं और उनके गुरुत्वाकर्षण के संबंधों के समरूप समझा जाने लगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि सामाजिक प्रगति के मूल में प्रतिद्वन्द्विता का ही सिद्धान्त रहा है। धारणा कुछ ऐसी थी कि अगर हर व्यक्ति अपने अपने उद्देश्यों का पालन करेगा तो इस समाज के उद्देश्य अपने आप पूरे हो जायेंगे। और व्यक्ति के निजी हित के पालन से ही सामाजिक हित का कार्य सम्पन्न हो जायेगा।

में भी भेद होता रहा है। और शिक्षा मानवीय प्रकृति के किसी न किसी तत्व पर अधिक जोर देती आई है।

पहले जो अन्तर तत्वों पर जोर देने तक ही सीमित रहता है उसी से धीरे-धीरे यह भी होता है कि मानवीय प्रकृति में किसी जीवन तत्व की उपेक्षा भी होने लगती है। एक उदाहरण लीजिए —प्राचीन भारत में शिक्षा के चार प्रयोजन थे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जब तक भारतीय समाज स्वस्थ और जीवित रहा इन चारों प्रयोजनों पर उचित जोर दिया जाता रहा। परन्तु जैसे ही राष्ट्र की जीवन शक्ति घटी इस जोर में परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे सन्यास भावना समाज में बलवती हो उठी, और उसने सासारिक कारनामों की उपेक्षा करके अध्यात्मक को महत्ता देना प्रारम्भ किया। सामाजिक दृष्टिकोण बदलते ही भारतीय शिक्षा की प्रवृत्ति भी बदल गई और एक कर्मप्रधान जीवन की अपेक्षा विचार प्रधान जीवन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। परम्परा पालन, और प्रमाण में निष्ठा इन दोनों को बौद्धिक जिज्ञासा और विचार स्वातन्त्र्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। विनम्रता और सन्तोष आध्यात्मिक मान्यतायें बन गई और इस तथ्य को भुला दिया गया कि इनमें और निष्क्रियता तथा निश्चेष्टता में प्राय कोई अन्तर ही नहीं किया जाता। इस तथाकथित आध्यात्मिकता का एक विचित्र परिणाम यह भी हुआ कि अपने को भीतर ही भीतर समेटते जाने और बाह्य क्रियात्मकता के सारे रूपों से दूर भागने की प्रवृत्ति पैदा हो गई। और इसका फल यह हुआ कि भारतीय शिक्षा में बुद्धि के नहीं बल्कि स्मृति के अभ्यास को अच्छा समझा जाने लगा, और दूसरी मानवीय क्षमताओं की अवहेलना होने लगी। मानसिक कार्यों पर जोर देने का अर्थ यह हुआ कि शारीरिक कार्यों की ओर से अगर घृणा न सही तो उदासीनता अवश्य हो गई।

परन्तु जो कुछ वह बौद्धिक रूप से स्वीकार कर चुका है उसे वह सापेक्ष रूप में अपने व्यवहार में नहीं ला सकता है यह प्रश्न भी मानवीय विवेक और सामाजिक हित के नाम पर जड़ता झगड़ता रहता है।

इस विरोधाभास का कारण यह है वह जो कुछ बाहरी संसार के बारे में सीखता है और जो कुछ अपनी अन्तरात्मा के विषय में ज्ञान होता है उन दोनों में यही मेल नहीं बैठता। उसको ऐसी ऐसी वासनायें दबा लेती है जिनका उसे ज्ञान भी नहीं हो पाता। मित्रों की मण्डली में कभी कभी वह इस प्रकार का व्यवहार करता है जो अकेले में वह कभी सोच भी नहीं सकता। समुदाय के बीच होने पर उस पर एक उन्माद सा छा जाता है जिसके कारण अपनी प्रकृति के जिस दुर्गुण का उसे ज्ञान भी न होगा, उसके प्रति उसमें एक खिचाव पैदा हो जाता है। वास्तव में मनुष्य की प्रकृति में ही ऐसी अज्ञात गहराइयां होती हैं कि *मनुष्य उनकी अवहेलना अपने को सकट में डाल कर ही कर सकता है।* आज इस तथ्य का हमने जितनी तीव्रता के साथ अनुभव किया है उतना पहले कभी भी नहीं किया था।

उन्नीसवीं शती एक साहसिक बौद्धिकता का युग था। विज्ञान की विजया ने मनुष्य को इस बात की आशा दिलायी कि बौद्धिक शिक्षा के द्वारा हृदय का परिवर्तन किया जा सकता है और इस प्रकार सारे मनुष्य बौद्धिकता के सामान्य स्तर पर एक दूसरे से मिल सकते हैं। परन्तु यह आशा पूरी नहीं हो सकी। इससे *कुछ लोगों में एक अजीब असहायपन का भाव और भाग्यवादिता भर गई* है। यह भाग्यवादिता उन्हीं दिनों की याद दिलाती है जब मनुष्य को प्रकृति पर कोई अधिकार नहीं था। प्रकृति के बाह्य रूप का ज्ञान मनुष्य को ज्यों ज्यों होता गया त्यों त्यों उसकी यह भाग्यवादिता मिटती गई। हो सकता है कि आज मनुष्य की अपनी अन्त प्रकृति का बढ़ता हुआ ज्ञान वर्तमान युग की इस भाग्यवादिता को जीतने में सहायक हो सके।

४

शिक्षा व्यक्ति को उसका, उसके साथियों और उसके माहौल का ज्ञान कराती है। इस प्रकार बाह्य जगत और अन्तर्जगत दोनों का ज्ञान कराना शिक्षा का काम है। मनुष्य अकेला तो रह नहीं सकता। इसलिये शिक्षा, चाहे वह पूरबी हो चाहे पच्छिमी, उसकी सारी प्रणालियों का यही उद्देश्य होना चाहिये कि व्यक्तियों को अपने समुदाय के अच्छे सदस्य बनने में सहायता दे सके। इसलिये सामाजिक सगठन में भेद होने के साथ ही साथ शिक्षा की प्रणालियों

मे भी भेद होता रहा है। और शिक्षा मानवीय प्रकृति के किसी न किसी तत्व पर अधिक जोर देती आई है।

पहले जो अन्तर तत्वों पर जोर देने तक ही सीमित रहता है उसी से धीरे-धीरे यह भी होता है कि मानवीय प्रकृति में किसी जीवन तत्व की उपेक्षा भी होने लगती है। एक उदाहरण लीजिए —प्राचीन भारत में शिक्षा के चार प्रयोजन थे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जब तक भारतीय समाज स्वस्थ और जीवित रहा इन चारों प्रयोजनों पर उचित जोर दिया जाता रहा। परन्तु जैसे ही राष्ट्र की जीवन-शक्ति घटी इस जोर में परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे सन्यास भावना समाज में बलवती हो उठी, और उसने सासारिक कारनामो की उपेक्षा करके अध्यात्मक को महत्ता देना प्रारम्भ किया। सामाजिक दृष्टिकोण बदलते ही भारतीय शिक्षा की प्रवृत्ति भी बदल गई और एक कर्मप्रधान जीवन की अपेक्षा विचार प्रधान जीवन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। परम्परा पालन, और प्रमाण में निष्ठा इन दोनो को बौद्धिक जिज्ञासा और विचार स्वातन्त्र्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। विनम्रता और सन्ताप आध्यात्मिक मान्यतायें बन गई और इस तथ्य को भुला दिया गया कि इनमें और निष्क्रियता तथा निश्चेष्टता में प्राय कोई अन्तर ही नही किया जाता। इस तथाकथित आध्यात्मिकता का एक विचित्र परिणाम यह भी हुआ कि अपने को भीतर ही भीतर समेटते जाने और बाह्य क्रियात्मकता के सारे रूपो से दूर भागने की प्रवृत्ति पैदा हो गई। और इसका फल यह हुआ कि भारतीय शिक्षा में बुद्धि के नही बल्कि स्मृति के अभ्यास को अच्छा समझा जाने लगा, और दूसरी मानवीय क्षमताओं की अवहेलना होने लगी। मानसिक कार्यों पर जोर देने का अर्थ यह हुआ कि शारीरिक कार्यों की ओर से अगर घृणा न सही तो उदासीनता अवश्य हो गई।

इस विषय में यूरोप का अनुभव बिलकुल इसके विपरीत है। वहा एक ही प्रयोजन पर जोर देने से शिक्षा का रूप ही विकृत हो गया। प्लेटो का मत था कि शिक्षा के द्वारा शरीर और मस्तिष्क का विकास साथ-साथ किया जाना चाहिये। और इसी लिये उसने गणित, सगीत और व्यायाम को शिक्षा के माध्यम के रूप में समान रूप से स्वीकार किया था। हालाकि इस आदर्श को कभी किसी ने जानबूझ कर चुनौती नही दी फिर भी धीरे धीरे बुद्धि के ही विकास पर अधिक आग्रह किया जाने लगा। इधर विज्ञान ने भी पुनर्जागरण युग के प्रारभ के बाद जो आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त की इमसे यूरोप को वैज्ञानिक खोज की पद्धतियो को मनुष्य के व्यक्तित्व से सबध रखने वाली समस्याओ पर लागू करने का प्रोत्साहन मिला और यूरोप वालो ने इस धुन में यह भी सोचना-

समझना उचित न समझा कि ये पद्धतियां सदा लागू भी हो सकती है या नहीं। वैज्ञानिक पद्धति का सार यह है कि वह किसी घटना विशेष के प्रति उत्सुक नहीं होती। व्यक्तित्व का सार यह है कि हर व्यक्ति अपनी चेतना का ही एक विशिष्ट केन्द्र होता है।

इस प्रकार विज्ञान की छत्रछाया में शिक्षा के जिस सिद्धात का निर्माण हुआ उसने व्यक्ति को किसी नियम का एक उदाहरण, अथवा किसी मान के क्रम की एक इकाई माना है, और सारे मानव समाज को ऐसी इकाइयो का एक सघात। सामाजिक सबधो को भौतिक विज्ञान के सादृश्य पर समझाया गया, और यहा तक कि व्यक्तियो और उनके सविदा-सबधो को परमाणुओ और उनके गुरुत्वाकर्षण के सबधो के समकक्ष रखा जाने लगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि सामाजिक प्रगति के मूल में प्रतिद्वन्द्विता का ही सिद्धान्त रहा है। धारणा कुछ ऐसी थी कि अगर हर व्यक्ति अपने अपने उद्देश्यों का पालन करेगा तो इस समाज के उद्देश्य अपने आप पूरे हो जायेंगे। और व्यक्ति के निजी हित के पालन से ही सामाजिक हित का कार्य सम्पन्न हो जायेगा।

विज्ञान का यह उद्देश्य तो अवश्य है कि विश्वव्यापी नियमो की स्थापना हो परन्तु ये नियम ठोस अनुभवो के तत्वा पर ही आधारित माने जाते है। विवेकात्मक प्रेरणा और विज्ञान की व्यावहारिक प्रवृत्ति इन दोनो ने यूरोपीय शिक्षा को प्रभावित किया है। विवेकात्मक प्रेरणा ने 'अमूर्त के ग्रहण' पर आग्रह के रूप में और व्यहारिक प्रवृत्ति ने जीवन की भौतिक स्थितियां को सुधारने की सतत चेष्टा के रूप मे अपने को व्यक्त किया। यूरोपीय शिक्षा की सकल्पना में इस वर्तमान मानवतावादी तत्व का प्रवेश जीव विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि से ही हुआ। और इन्ही विकासो का परिणाम यह हुआ कि सामाजिक सविदा के सिद्धान्तों के स्थान पर धीरे धीरे समाज की सकल्पना एक जीव के रूप में होने लगी है।

समाज के जीवात्मक स्वरूप को स्वीकार कर लेने के बाद भी इसका कोई प्रभाव शिक्षा प्रणालियो अथवा सिद्धान्तो पर तुरन्त ही नही पडा। और हम आज भी यह पूरी तरह स्वीकार करने को तैयार नही है कि मनुष्य की प्रगति में प्रतिद्वद्विता के ही समान सहकारिता भी एक प्रेरक शक्ति रही है। समाज को एक जीव के रूप में स्वीकार कर लेने से व्यक्ति के सबध में हमारी सकल्पना भी बदल गई है और हम को उसकी असीम जटिलता के समझने में भी सहायता मिली है। इसी से अब यह अधिकाधिक रूप से माना जाने लगा है कि जिस शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना हो उसे केवल बुद्धि का ही नहीं बल्कि भावनाओ और कल्पना शक्ति का भी रहस्योद्घाटन करना है।

५

अत हमारी आवश्यकता यह है कि शिक्षा को मानव और अतिमानव की आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य बनाने के लिए उसका पुनर्गठन किया जाय। इसका अर्थ यह नहीं कि सब के लिए शिक्षा की सामान्य पद्धतिया और मान होने चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वे तुलनात्मक हों। उत्पादन के क्षेत्र में टेक्नॉलोजी और विज्ञान के आगमन से यह सिद्ध हो चुका है कि राष्ट्रों की समृद्धि उनके ज्ञान की अवस्था पर निर्भर है। साथ ही इसके माध्यम से ऐसी परिस्थितिया भी उत्पन्न हो चुकी है जिनके अन्तर्गत जीवन की उपयोगी वस्तुए सबको उपलब्ध हो सकती हैं। इन मशीनो के जरिए जीवन के तमाम कष्टप्रद काम हट जायेंगे। अभी तक ससार की आर्थिक स्थिति अभावग्रस्त रही थी, परन्तु अब उसके स्थान पर प्रचुरता की स्थिति की आशा की जा सकती है। जैसे अलग अलग व्यक्तियो में होता है कि अमीर और गरीब मित्र नहीं हो सकते उसी प्रकार राष्ट्रो के सबध में भी है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए विभिन्न राष्ट्रो की आर्थिक स्थिति परस्पर अनुरूप होनी बडी आवश्यक है। और ऐसी आर्थिक स्थिति की कुजी शिक्षा के अनुरूप स्तरो में है।

टेक्नॉलोजी के क्षेत्र में प्रगति होने के कारण ससार कुछ छोटा हो गया है उसी का यह तकाजा है कि शिक्षा की प्रणालियो और उस आदर्श में और अधिक समीपता लाई जाय। इस समीपता का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति की विभिन्नताओं और उसकी आवश्यकताओ का हनन किया जाय। अपनी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में ही हमने इस चीज की जरूरत को समझ लिया है कि अलग अलग छात्रो की रुचियो और योग्यताओ के अनुसार उनके लिये अधिक बहुविध पाठयक्रम तैयार करने पडेगे। भिन्न भिन्न राष्ट्रीय शिक्षा प्रणालियो में भी यह चीज उतनी ही आवश्यक है। वैज्ञानिक उन्नति जहा एक ओर देश-देश के आर्थिक और राजनीतिक भेदभाव मिटा रही है वहा वह जीवन के सघर्ष से हो अनेक शक्तियो को लेकर सस्कृति क्षेत्र में विविधता बढाने में प्रोत्साहन दे रही है। मनुष्य के पास उसकी आवश्यकता से ऊपर जितना ही बच रहेगा उतनी ही अधिक उसकी रुचिया और पसन्दें होगी। इसलिये वैज्ञानिक प्रगति का अर्थ सस्कृति का मानवीकरण नहीं, और सास्कृतिक साम्राज्यवादिता तो बिलकुल ही नहीं है। जो हमें चाहिये और जिसके लिये हमें कोशिश करनी है वह सिर्फ यही है कि मनुष्य को अपने इतने लम्बे इतिहास में जो मूल्य प्राप्त हुए वे सबको उपलब्ध हो जायें।

इतिहास से हमें यह सबक मिलता है कि शिक्षा को पूर्ण रूप से प्रभावी होने के लिये उसे सम्पूर्ण मानव के लिये होना पडेगा, उसे साथ-साथ और सन्तुलित

रूप में ज्ञान और मन, बुद्धि और कल्पना दोनों के विकास के लिये अवसर देने पड़ेंगे। पिछले सौ सालों या उससे अधिक से शिक्षा सुधारक यही करने के लिये परेशान होते रहे हैं। अनेक पश्चिमी शिक्षाविदों ने नवयुवकों की सिखलाई के लिये क्रिया कलाप की महत्ता की ओर संकेत किया है। जिन शिक्षा सिद्धान्तों का उद्देश्य ज्ञान-प्रदान ही है वे अब धीरे-धीरे पुराने पड़ रहे हैं। और अब यह माना जाने लगा है कि शिक्षा का उद्देश्य है *व्यक्ति में जो कुछ श्रेष्ठ है उसको ढूढ निकालना। लगभग पचास वर्ष पहले टैगोर ने कहा था कि वास्तविक शिक्षा को चाहिये कि वह बालकों की स्वतन्त्रता को प्रकृति के सान्निध्य में विकसित* होने दे। गान्धी जी ने बालक के क्रियाकलाप को सामाजिक दृष्टि से एक उपयोगी रूप देने की चेष्टा की थी। पूरब और पश्चिम के इन सब प्रयोगों का आग्रह इसी पर है कि शिक्षा को केवल बौद्धिक अनुशासन ही नही बल्कि सम्पूर्ण मानव का अनुशासन मानना चाहिये।

अब तक शिक्षा ने कभी कभी व्यक्ति और समाज के सबधो की अवहेलना भी की है, इसी का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा अव्यवहारिक होकर वास्तविकता से दूर पड गई है। *नवयुवकों की इसमें रुचि भी रही है। एक व्यावहारिक स्थिति को बच्चा बडी आसानी से समझ लेता है* और उसकी भावना, विचार और कल्पनाशक्ति सक्रिय हो उठती है। परन्तु जब कभी अव्यावहारिक बातें आती हैं तो बच्चा उनको अक्सर सहने लगता है। यही कारण है कि पश्चिम के शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग और टैगोर और गाधी के प्रयोग सभी क्रिया कलाप पर इतना बल देता है। क्रिया द्वारा सीखने की प्रणाली में बच्चे को रुचि होती है और वह भी अनुभव करता रहता है कि वह जो कुछ कर रहा है उसके क्या परिणाम होंगे ?

समाज के लिये यह स्वाभाविक है कि उसमें भिन्न-भिन्न योग्यताओं और कार्योंवाले व्यक्ति रहें। शिक्षा के सामाजिक रूप पर बल देने से (क) इस योग की भावना के विषय में सहायता मिलती है (ख) इस बात को मान्यता मिलती है कि काम में अन्तर होने से उसके मूल्य और उसकी महत्ता में अन्तर नही पडना चाहिये (ग) बौद्धिक और शारीरिक अनुशासन के बीच जो एक खाई है वह मिटती है। एक समय था जब तकनीकी शिक्षा को शिल्प समझा जाता था या ज्यादा से ज्यादा किसी व्यापार या उद्योग विशेष में दक्षता की प्राप्ति मान लिया जाता था। आज शिल्प की सामाजिक महत्ता को ध्यान में रखकर तकनीकी *शिक्षा को सम्पूर्ण अर्थों में शिक्षा ही माना जा रहा है। भारत जैसे देश में शिक्षा* की यह नई सकल्पना श्रम की गरिमा को नयी मान्यता प्रदान कर रही है।

नई शिक्षा को, जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ, इस बात पर भी बल देना है, कि अलग अलग संस्थाओं के मानवसमाज की विशाल संस्था के साथ पक्के अन्तर्सम्बंध स्थापित हों। इसके पहले कभी भी राष्ट्र एक दूसरे के इतने नजदीक नहीं आये। आज संसार के किसी कोने में जो कुछ होता है वह तुरन्त ही सब पर असर डालता है। आज अगर कोई राष्ट्र अपने सीमान्त की घटनाओं के प्रति कम सतर्क है तो वह खतरे से खाली नहीं है। वे दिन चले गये जब कोई संस्था या राष्ट्र अपने विकास क्रम को कुछ कम या अधिक सफलता के साथ अपनी ही चौहद्दी के भीतर रख सकता था। संसार भर में सब जगह शिक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय मामला पर अधिकाधिक ध्यान देना है।

एक देश के स्त्री पुरुषों को दूसरे देशों के स्त्री पुरुषों की समस्याओं को समझने बूझने की कोशिश करनी चाहिये। इस दिशा में पहला कदम यह होगा कि गलत धारणाओं को मिटाया जाये। जाति की सकल्पना एक ऐसी ही चीज है जिससे धारणायें पैदा होती हैं। मानव विज्ञान से हमें पता लगता है जातियों में कोई भेद नहीं होते और बहुत से ऐसे मानव-वैज्ञानिक भी हैं जो जाति की सकल्पना को ही फर्जी समझते हैं। फिर भी सारे मानवशास्त्री इस बात से तो सहमत हैं ही कि परिस्थितियों की भिन्नता के कारण एक दीर्घ काल में धीरे धीरे मानव जाति अलग-अलग स्पष्ट समूहों में बट गई है। इससे दो बातें निकलती हैं। एक तो यह कि तथाकथित जाति भेद अन्तर निरपेक्ष और अभिट नहीं है, और धीरे धीरे बदल सकते और बदलते हैं। दूसरी और उन को दबाने या मानने से इनकार करने से बड़े-बड़े खतरे भी उठ सकते हैं।

गलतफहमी का एक दूसरा कारण है इतिहास और भूगोल की गलत शिक्षा। अब तक इनकी शिक्षा एक बहुत ही तंग राष्ट्रीय दृष्टिकोण से होती रही है। इतिहास का अर्थ अभी तक अपने अपने देश का गुण-गान ही समझा जाता रहा है। भूगोल के माध्यम से लोगों की इस भावना को प्राश्रय मिलता रहा है कि उनका देश ही संसार का केन्द्र है। इसके साथ ही अन्य राष्ट्रों और देशों को अपने से कम समझा जाता रहा है। इसलिये इस प्रवृत्ति में निहित खतरे से बचने के लिये हमको इतिहास और भूगोल संबंधी अपनी सकल्पनाओं को बदलना चाहिये। इतिहास को अब अलग-अलग जातियों के बीच विग्रहों और संघर्षों से भरे केवल राजनीतिक संबंधों की जानकारी बन कर ही नहीं रहना है। अब हमें यह स्वीकार करना होगा कि इन युद्ध गाथाओं की अपेक्षा मानव जाति की वह कहानी अधिक महत्व-पूर्ण है जिसमें यह स्पष्ट हो कि मनुष्य किस प्रकार इतने दीर्घकालीन और दूर-दूर तक फैले हुए सहयोग के बल पर बढ़ते-बढ़ते वर्तमान स्थिति पर आ पहुँचा है।

आग किसने इजाद की, इसका चाहे किसी को पता न हो परन्तु उसका प्रयोग मानव जीवन का एक बुनियादी तथ्य है। जिन लोगो ने कागज और छपाई जैसी चीजों की ईजाद की उनके नाम किसे मालूम होंगे? लेकिन उनके जो सत् परिणाम हैं वे मनुष्य मात्र की सामान्य दाय जरूर हैं। जिसने खेती या नौवहन की शुरुआत की उस आदमी का या उन आदमियो का किसी को क्या पता है? लेकिन इस बात को सभी मानेंगे कि इन नयी ईजादो ने मानव जीवन में, बड़े-बड़े प्रसिद्ध राजाओं की विजयों की अपेक्षा, कहीं अधिक बड़े और महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये हैं।

अनातोल फ्रास की एक बहुत ही सुन्दर कहानी है। उसमें वह बताता है कि किस प्रकार पोंटियस पाइलेट जूडिया में अपनी गवरनरी के काल की अनेक बातो को याद करता है, परन्तु ईसा का नाम उसे याद नही आता। वह समझता था कि ईसा एक अदूरदर्शी स्वप्न देखने वाला था, और कट्टर यहूदियो को शान्त करने के लिये उसे क्रास पर चढा दिया गया था। यह तो शायद एक चरम उदाहरण है। लेकिन भला क्या हम इस बात से इनकार कर सकते हैं कि हमने अब तक शान्ति की दिशा में जो कार्य किये हैं, हम उनका प्राय उचित मूल्यांकन नही कर पाये हैं। इस प्रकार के हजारो उदाहरण हैं जब कभी किसी एक व्यक्ति या समूह ने अनायास ही अथवा प्रयत्न करके किसी नई वस्तु या तथ्य की खोज की है और इस प्रकार मानवीय दाय को स्थायी रूप से बढाया है, तो मानवीय गाथाओ में उसको कही स्थान नही मिला है। ज्ञान के क्षेत्र में कोई भी सूझ समय बीतने पर सब मस्तिष्को की थाती बन जाती है। एक बार एक तकनीक ढूँढ ली जाय, तो उससे सारे ससार भर में उत्पादन के प्रकार और उसकी मात्रा में सुधार हो जाता है। ये कारनामें और खोजें ही मनुष्य के अपने साथियो के साथ सहयोग का सच्चा इतिहास हैं और वास्तव में इनको ही इतिहास की बुनियादी सामग्री बनाना चाहिये।

मनुष्य की प्रकृति के बारे में हमारा ज्ञान अब भी काफी नही है। लेकिन हम बार-बार देख चुके हैं कि किस प्रकार विचारधारायें मनुष्य पर प्रभाव डालती हैं, और ऐतिहासिक क्रम का निर्माण करती हैं। आज के जगत में शिक्षा की समस्या यही है कि मनुष्यो में ऐसी प्रवृत्तियो का विकास किया जाय, जो उनको सामान्य हित के लिये प्रेरणा दें। जब तक उनमें आन्तरिक शान्ति के बीज न हो, तब तक वे ऐसा कभी करेंगे ही नही और शायद कर भी नही सकते। व्यक्ति का सकलन हुए बिना सकलित समाज बन ही नही सकता और जब तक सकलित समाज न होंगे आन्तरिक शान्ति की बात बेमानी लगती है। व्यक्ति और समाज

का सचलन सामान्य आदर्शों के निरूपण पर निर्भर है। और ये आदर्श केवल शिक्षा के ही द्वारा मनुष्य मात्र की मानसिक गठन के एक भाग बन सकते हैं।

एक सुगठित और समागीन समाज में भी आदमी आदमी में बडा अन्तर होता है। फिर भी बहुत-सी ऐसी मान्यतायें हैं जिन्हें उस समुदाय के सब सदस्य मानते हैं। इसी कारण यह अन्तर होते हुए भी आपस में किसी प्रकार का सघर्ष नही होने पाता। समाजो में इसी प्रकार के सामान्य आदर्शों के एक आधार का विकास करना है। उनकी ओर बहुत ही सामान्य रूप से सकेत किया जा सकता है, परन्तु उनमें और चीजो के साथ-साथ इन मान्यताओं का होना तो आवश्यक है ही

(क) सब के लिये शारीरिक स्वास्थ्य, (ख) आर्थिक स्थिति ऐसी पर्याप्त हो कि सब जीवित रह सकें, (ग) आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक या सास्कृतिक मामलो में गुलामी से मुक्ति, और (घ) दूसरो के अधिकारो में हस्तक्षेप किये बिना हर व्यक्ति और समूह को अपने पूर्ण विकास की आजादी।

मनुष्य की प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ स्थायी और अपरिवर्तनीय नही होती और वे एक उपयुक्त शिक्षा प्रक्रिया के द्वारा बदली जा सकती हैं। इसलिये शिक्षा से यह आशा की ही जा सकती है कि वह ससार की वर्तमान सस्कृतियों में सहयोग स्थापित करने की स्थितियाँ पैदा कर सके और स्वय भी एक माध्यम बन सके। साथ ही शिक्षा आधुनिक जगत में हिंसा का सहारा लिये बिना प्रगति ला सकती है। कोई भी ऐसा समाज नही है जिसमें बराबर परिवर्तन न हो रहा हो। बाह्य घटनायें और आन्तरिक क्रियायें ये दोनो ही मिल कर व्यक्ति और समाज दोनो के रूप और सरचना को लगातार बदलती जा रही हैं। आज किसी व्यक्ति या समाज की जीवनी शक्ति का सबसे अच्छा मापदण्ड यही है कि उसमें बाह्य और आन्तरिक उद्दीपनों से कैसी प्रतिक्रिया होती है। जीने का अर्थ ही है निरन्तर परिवर्तन। हाँ, जब कभी परिवर्तन नितान्त आकस्मिक होगा तो उससे सामजस्य जरूर बिगड जायेगा। इस स्थिति में व्यक्ति और समाज सिर्फ बदलते ही नही, बल्कि बिखर जाते हैं।

शिक्षा का काम है ऐसी प्रवृत्ति का विकास करना जो हिंसात्मक उलट और फेर और आकस्मिक तोड फोड का सहारा लिये बिना प्रगति के काम को सरल बना दे। बीते जमाने में मनुष्य की विरासत उसके पूर्वजों के कारनामों तक ही सीमित रहती थी। आज विश्व की एकता ने उसे इस सबका उत्तराधिकारी बना दिया है, जो हर युग और हर प्रदेश में उसके ऊपर घटा है। वह आज इस योग्य है कि समाजों के व्यक्तियों के उत्थान पतन को देख सके और इतिहास से

यह समझ सके कि परिवर्तन को स्वीकार करना सिर्फ प्रगति के लिये ही नहीं, बल्कि जीवित रहने के लिये भी जरूरी है। अत. आज के संसार में शिक्षा को मनुष्य में सहिष्णुता और लोचात्मकता पैदा करनी है। सहिष्णुता इसलिये कि संसार की सभी सभ्यताओं द्वारा उपलब्ध मान्यताओं को सकलित करके मनुष्य की सामान्य विरासत बना दे और लोचात्मकता इसलिये कि यह हर नई परिस्थिति की चुनौती को नए प्रकार से स्वीकार कर सके।

जापान की संस्कृति के निर्माण में देशी और विदेशी विचारों का घर्षण और संगलन

येन्शो कानाकुरा

यदि हम जापान की संस्कृति के पिछली दस शतियों के इतिहास को देखें तो हम साफ तौर पर समझ जायेंगे कि इसका दर्शनीय विकास जापान में विदेशी संस्कृतियों के प्रवेश से जो प्रबल उद्दीपन मिले उनके कारण हुआ। परन्तु जापानी संस्कृति के विकास का यह पथ निष्कंटक नहीं रहा। हर विदेशी विचार को जापानी स्वभाव के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा है। जब इन दो विरोधी शक्तियों ने कुछ संतुलन स्थापित किया तो संस्कृति के एक नये मूलभूत विचार का विकास हुआ। परन्तु एक बार फिर इस नई संस्कृति को एक और विदेशी संस्कृति ने जड़ से हिला दिया और अब उच्च संश्लेषण की एक बार फिर अपेक्षा की जाती है। जापानी संस्कृति के निर्माण में लड़ाई और सुलह की आवृत्ति एक विशेषता है और यह उन कठिन समस्याओं में से एक है जिसका जापान को सामना करना पड़ रहा है।

यद्यपि जापान भी पूरब में है, परन्तु इसकी संस्कृति भारत और चीन की संस्कृतियों से भिन्न है क्योंकि इसके विकास का ध्येय ही दूसरी संस्कृतियों को स्वीकार करना और उनको आत्मसात् करना है। प्राचीन काल में भारत और चीन की सभ्यताएँ बहुत विकसित अवस्था में थीं और दूसरी जातियों पर इनका काफी प्रभाव पड़ा था। उनको अपनी सभ्यताओं का बहुत अभिमान था, इसलिए वह किसी भिन्न सभ्यता को स्वीकार नहीं करती थीं। जब ये देश दूसरी जातियों के राजनीतिक नियंत्रण में रहने के लिए बाध्य हुए, तब भी विजेताओं की संस्कृति को विजितों की संस्कृति में आत्मसात् कर लिया गया।

जापान में स्थिति बिलकुल भिन्न है। जैसा कि आपको आगामी पृष्ठों से पता चलेगा, प्राचीन काल में जापान की संस्कृति इतनी विकसित नहीं थी, बल्कि वह बिलकुल आदिम थी जिसका पोषण विदेशी—भारतीय और चीनी—संस्कृतियों द्वारा हुआ था। इन परिवर्तनों और उथल पुथल के बावजूद इसने पूरबी और पश्चिमी संस्कृतियों को, जब भी उनका प्रवेश हुआ, स्वीकार व आत्मसात् कर लिया था।

इस प्रकार प्राचीन काल से जापानियों ने पूरब और पश्चिम की मिश्र मा का स्वीकार किया है। इसने विशेष रूप से भारत और चीन की म को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया है और उनके सार को अपने राष्ट्रीय में ढाल दिया है। दूसरे शब्दों में यह दो रूपान्तरित संस्कृतियां जापानी का उत्पादक तत्व बन गई हैं।

इस नाजुक मौके पर जब कि पूरब और पश्चिम का मिश्रण और मे एक बड़ी समस्या बन गया है और सभी राष्ट्रों में इसकी बड़ी मांग है कि वि संस्कारों में सामंजस्य और मैत्री स्थापित की जाय, तो जापान का विदेशी संस्कृ को आत्मसात् करना और उनका विकास करना क्या दूसरे राष्ट्रों को यह सुझाता कि वह उस समस्या का, जिसका वह चिंतन कर रहे हैं, आखिर इन यह तो ठीक है कि सामयिक समस्याओं की चर्चा इस प्रकार नहीं की जा स जैसे संस्कृति की, परन्तु शायद जापानी संस्कृति के विकास की समीक्षा आज कुछ आवश्यक समस्याओं के लिए प्रयोगात्मक परीक्षण रिपोर्ट का काम क

जापान का आदि धर्म प्रकृति-पूजा और पूर्वज-पूजा पर आधारित था, । उसका झुकाव जन्तुवाद की ओर था तथा उसमें शमनवाद का पुट भी थ अपनी प्राचीनतम अवस्था में यहाँ धर्म और प्रशासन में कोई अन्तर नहीं थ बाद में शाही खानदान को सारी जाति का अगुआ बनाने की एक काल्पनि कथा गढ़ ली गयी और उस समय सम्राट् को केन्द्र मान कर देश की राजनीति एकता की प्रक्रिया जारी की गई।

तीसरी शती के उत्तरार्ध में कन्फ्यूशसवाद और बौद्ध मत के रूप में चीन संस्कृति ने कोरिया की ओर से जापान में प्रवेश किया। कन्फ्यूशसवाद प्रचलन के बाद से लोग पहली बार ज्ञानार्जन करने में लगे और उनके सामने ए नैतिक आदर्श स्थापित हो गया।

कोरिया की ओर से बौद्ध मत का प्रवेश कन्फ्यूशसवाद के कुछ बाद में हुआ परन्तु यह राज दरबार और कुलीन-वर्ग द्वारा एकदम अपना लिया गया। य दो शक्तिशाली गुटों के उत्थान का कारण था जिनमें प्रभुत्व के लिये भीषण स हुआ। एक था प्रगतिशील बौद्ध-समर्थक गुट और दूसरा था अनुदार बौद्ध विरोधी गुट। अन्त में प्रगतिवादियों की विजय हुई और इसके परिणामस्वरूप संस्कृति बहुत विकसित हुई और इसका नेतृत्व प्रसिद्ध शोतोकु तैशी (युवराज शोतोकु) ने किया।

बौद्ध मत के आने से जापानियों ने पहली बार सही मानों में धर्म को स्वीकार किया। उनके पुराने धर्म शिन्तोइज्म को धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

सका कोई विशेष मत नही था और न ही यह आगे के जीवन के बारे में कुछ कहता था। बौद्ध मत के साथ साथ कला की अच्छी अच्छी कृतियाँ भी चीन से लाई गई। सूत्रों वश की तथाकथित कला कृतियों की आज भी तारीफ की जाती है। इस प्रकार जापानियों को यथार्थ से परे एक आदर्श जगत का पता चला —एक सौन्दर्य जगत, जो व्यावहारिक जगत से ऊपर था। शोतोकु तैशी ने (५७४-६२१ ईस्वी) महायान में सूत्रों की व्याख्या की और इस प्रकार जापान में बौद्ध मत का नेतृत्व किया। *वह सर्वप्रथम और सर्वोच्च जापानी राजनीतिज्ञ था* जिसने संस्कृति को संरक्षण दिया।

बौद्ध मत के आने के नब्बे साल बाद एक बड़ा राजनीतिक सुधार हुआ। इसके नेता कन्फ्यूशसवाद के अध्येता और शिन्तोइज्म के अनुदार अनुयायी थे। चीनी सभ्यता के पुजारी होने के नाते, उन्होंने तांग संस्थाओं के अनुरूप राष्ट्रीय केन्द्रीकरण के लिए प्रयत्न किये। बहुत से विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए तांग भेजा गया ताकि वह अपने साथ वहाँ का ज्ञान ला सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि नारा वंश (७०८-७८० ईस्वी) के राज्यकाल में संस्कृति का भव्य प्रस्फुटन हुआ। इस समय बौद्ध मत लगभग राजधर्म बन गया था और हीनयान तथा महायान की शिक्षाओं का अलग अलग अध्ययन होने लगा। बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनको भित्तिचित्रों और मूर्तियों से सजाया गया, और इन मूल बातों का प्रभाव आज मध्य एशिया, फारस, यूनान और रोम जैसे दूर-दूर स्थानों में पाया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में 'मान्नयोशु' नामक कविताओं और गीतों का संकलन (जो जापान की अपनी विशिष्ट चीज है) किया गया जो महान व स्वभाविक राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थे।

अगले काल—हीअन वंश (७९४-११९१ ईस्वी)—के आरम्भ में साइचो और कुकाई नामक दो पादरी तांग गये। जापान लौटने पर उन्होंने तेन्दइ और शिन्गन नामक दो बौद्ध सम्प्रदायों की स्थापना की। साइचो का तेन्दइ सम्प्रदाय उसके अपने अनुभव के आधार पर, चीन में प्रचलित चार बौद्ध सम्प्रदायों की प्रणालियों का संश्लेषण था। कुकाई ने अन्तरानुभूति मूलक बौद्ध मत को पहला स्वतंत्र सम्प्रदाय बनाया और ब्रह्माण्ड की व्याख्या महावैरोचन की 'धर्म-काया' के रूप में की, तथा इस सिद्धांत की शिक्षा दी कि हमारा शरीर वैरोचन की 'धर्म-काया' को फौरन ही प्राप्त कर सकता है। नारा वंश के समय के सैद्धांतिक बौद्ध मत के विपरीत इन दो सम्प्रदायों ने प्रत्यक्ष तौर पर जापानी संस्कृति की प्रगति में सहयोग दिया, क्योंकि इनमें लौकिक प्रवृत्तियाँ तथा सामाजिक गुण विद्यमान थे। इस काल में काना लिपि का अविष्कार

हुआ और उसका बहुत प्रचलन हुआ। 'गेन्जी की कहानियाँ' जो कि साहित्य की उत्कृष्ट रचना है, और जिसमें बौद्ध मत पर आधारित जीवन का निराशाजनक दृष्टिकोण भरा हुआ है, इसी युग की सृष्टि है। साधारण दृष्टि से देखने पर, उस समय संसार का जो दृष्टिकोण था उसकी मुख्य विशेषता थी सौन्दर्यात्मक सुखहेतुवाद और प्रकृतिवाद, जो दोनों ही इस जीवन का समर्थन करते हैं। सर्वेश्वरवादी बौद्ध धर्म ने भी मन्त्रों और प्रार्थनाओं से भरे बौद्ध धर्मकाण्ड के माध्यम से इस यथार्थवाद को पुष्ट करने में योग दिया।

परन्तु हियान काल की अभिजात संस्कृति में, जो समृद्धि के शिखर पर पहुँच चुकी थी, क्रमशः भ्रष्टता के चिह्न दिखाई देने लगे। विद्रोह और अशान्ति की बाढ़ आयी, सामाजिक अरक्षा और हलचल बढ़ती गयी। फलस्वरूप संसार को मिथ्या कहनेवाले निराशावाद विचार धीरे-धीरे लोकप्रिय होते गये। इस प्रकार हम कामाकुरा युग में प्रवेश करते हैं।

सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से बूशिदो या शौर्य का उद्भव और नव-बौद्ध मत की स्थापना कामाकुरा युग (११९२-१३३३ ईस्वी) की सबसे महत्वपूर्ण बातें हैं। बूशिदो, या इस युग की संस्कृति के वाहक के बीच प्रचलित प्रथाओं में, स्वामिभक्ति, आत्मत्याग और संयम को विशेष महत्व दिया जाता था। वे विशेष रूप से मन की स्थिरता और प्रयत्न सम्बन्धी शक्ति को बहुत बड़ा महत्व देते थे और हर तरह के सुख-भोग की भर्त्सना करते थे। बूशिदो मुख्य रूप से व्यावहारिक अनुभव पर आधारित सिद्धान्त था, पर ज्यों-ज्यों वह कन्फ्यूसियसवाद और बौद्ध मत को ग्रहण करता गया, और विशेषतया 'ज़ेन' सम्प्रदाय को, त्यों-त्यों वह शुद्ध होता गया।

नव-बौद्ध मत, जो इसके बाद आया, प्राचीन बौद्ध मत के मूल्य ह्रास और सामाजिक अरक्षा के फलस्वरूप किया गया एक सुधार मात्र था। यद्यपि इन नये बौद्ध सम्प्रदायों ने हमेशा भारत और चीन की बौद्ध परम्पराओं को ग्रहण किया है, पर वे प्राचीन सम्प्रदायों से अपनी विशेषताओं में भिन्न हैं और अपने जापानी जन्मदाताओं के अनुभवों पर आधारित हैं। यह नया धर्म सच्चा बौद्ध धर्म कहा जा सकता है, क्योंकि इस युग में एक के बाद एक होनेन, शिनारन, सइसाई, दोगन, नीचीरन आदि महान् बौद्ध धर्माचार्यों का जन्म हुआ, और उन्होंने नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। पिछला बौद्ध धर्म अभिजात कुलों तक ही सीमित था। इसके विपरीत नये बौद्ध धर्म ने जन-साधारण तक पहुँचना अपना लक्ष्य बनाया, और उन्होंने जटिल सिद्धान्तों को छोड़ कर सरल पूजाओं को ही सारा महत्व दिया।

सइसाई और दोगन अध्ययन के लिये सुग के पास गये और उन्होंने जापान को 'ज़ेन' सम्प्रदाय से परिचित कराया। विशेष रूप से दोगन ने (१२००-१२५३ ई०) अपने तीव्र अनुभवों और गंभीर चिन्तन पर आधारित महान् पुस्तकों का निर्माण किया। आज भी एक महान् दार्शनिक के रूप में उसका आदर किया जाता है। 'ज़ेन' सम्प्रदाय, बौद्ध धर्म-ग्रंथों की सहायता लिये बिना ही यह सिखलाता है कि अपने भीतर ही बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिये हमें हृदय की ओर मुड़ना चाहिये, और इस अनुभव के लिये तपस्या करनी चाहिये। इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है ध्यान। इस युग में न केवल अनेक जापानी धर्माचार्य अध्ययन के लिये चीन गये, बल्कि बहुत से चीनी 'ज़ेन' धर्माचार्य, 'ज़ेन' सम्प्रदायों की दीक्षा देने और अनेक संस्थाओं की स्थापना करने के लिये जापान भी आये।

होनन और शिनरान गुरु और शिष्य थे। दोनों ने ही 'जोदो' सम्प्रदाय की शिक्षाओं का उपदेश दिया, उनका कहना था कि अमिताभ बुद्ध पर श्रद्धा रखने से कोई भी बौद्धों के स्वर्ग में प्रवेश कर सकता है। शिनरान (११७३-१२६२ ई०) ने अपने गुरु की शिक्षाओं को अधिक तीव्रता प्रदान की और सारे बौद्ध सिद्धान्तों को एकमात्र साधना में केन्द्रित कर दिया, अर्थात् अमिताभ बुद्ध की प्रार्थना करना। उसकी गंभीर पाप-भावना और बुद्ध की करुणा पर उसके पवित्र और निश्छल विश्वास का बहुत लोगों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा।

कामाकुरा युग में युआन के आक्रमण ने लोगों की राष्ट्रीय चेतना को ऐसा उभाड़ा कि शिन्तोवाद की एक नई धारा में और निचिरेन की रचनाओं में भी उसकी झलक दिखाई देती है। और यह राष्ट्रीय चेतना, जिस पर सुग काल के नवीन कन्फ्यूशसवाद का प्रभाव था, योशीनो काल (१३३३-१३९२ ईस्वी) में और भी प्रखर हो गई।

जब हम दूसरे युग, मूरोमाची काल (१३९२-१५६८ ईस्वी) में पहुँचते हैं तो हम पाते हैं कि साहित्य की एक नई धारा प्रवाहित हो रही है, जिसमें 'नो-प्ले' नाटक हैं, 'क्योजेन' हैं और चाय की उपासना है। इसकी पृष्ठभूमि में शिन्तोवाद, बूशिदो और बौद्धमत है। इस युग के सीधे-सादे और आडम्बरहीन विचारों का प्रतीक है चाय तैयार करने की कला और 'ज़ेन' सम्प्रदाय की आन्तरिक भावना।

इस बीच में, केन्द्र की राजनीतिक शक्ति का ह्रास हो जाने पर देश के विभिन्न भागों में शक्तिशाली राजवंशों का प्रभाव बढ़ने लगा, और राष्ट्रीय संगठन को बदलने की पुकार उठने लगी। कुछ शक्तिशाली राजवंश सीधे पुर्तगाल से मिल

गये, जिनके द्वारा वे पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आये, यहाँ तक कि उन्होंने अपने दूता को यूरोप भी भेजने का प्रयत्न किया। लगभग यही समय था (१५४९ ईस्वी) जब सन्त फ्रांसिस जेवियर ने जापान में रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। कैथोलिक विश्वास देश भर में दावानल की तरह फैल गया परन्तु यह चिरस्थायी नहीं हो सका। ओदा और ह्योयातोमी परिवारों ने जल्दी ही राष्ट्रीय एकता स्थापित की। उनके बाद टोकूगावा परिवार आया।

टोकूगावा के पूरे ढाई सौ साल (१६०३-१८६६ ईस्वी) तक कम या अधिक मात्रा में पृथकता की ही भावना विद्यमान रही। यह वह युग था जिसमें मध्ययुगीन सामन्तवाद की पूरी-पूरी स्थापना हुई। कन्फ्युशियस धर्म का अधिक शिक्षितों में मान था और ईसाई धर्म बहिष्कृत था। उसी समय धीरे-धीरे जापानी शास्त्रीयता का अध्ययन बढ़ा और बौद्ध विरोधी आन्दोलन से समन्वित हो कर उसने एक अपना स्पष्ट रूप धारण कर लिया। इसके प्रतिकूल तत्कालीन शान्ति के वातावरण में बौद्ध धर्म सामान्य जनता के मस्तिष्कों में और अच्छी प्रकार घर कर गया। परोपकार और कृतज्ञता तात्कालीन व्यावहारिक नैतिकता के प्रमुख तत्व बन गये। परन्तु जापानी इतिहास और शिन्तोवाद के अध्ययन से पुन स्थापन के विचार को बल मिला और शोगुनेट सरकार को, जिसने प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन की राष्ट्रव्यापी माँग को आगे बढाया था, अस्वीकृत कर दिया गया और पश्चिमी देशों ने जापान के साथ व्यापार करने की बड़े जोर-शोर से माँग की तो टोकूगावा शोगुनेट अपनी पृथकता की नीति बनाये न रख सके। अन्त में उनका पतन हुआ और मेजी युग का प्रारम हुआ।

जहाँ टोकूगावा सरकार की इस पृथकता या विलगता की नीति से देश की प्रगति को धक्का पहुँचा, वहाँ इसने राष्ट्र को अपनी प्राचीन काल से मान्य संस्कृति का पुन समजन करने, उस पर विचार करने और उसे प्रौढ़ बनाने का अवसर दिया। तत्कालीन ललित कला की अद्वितीय प्रचुरता, औद्योगिक कलायें और साहित्य इसके प्रमाण है। उदाहरणार्थ हम 'यूकिओए' को इस युग में निर्मित विशुद्ध जापानी कला के विशेष प्रतिनिधि मान सकते है।

अन्त में, हम मेजी युग (१८६६ ईस्वी) से प्रारभ होने वाले वर्तमान युग पर विचार करें। वास्तव में जापानी बहुत वर्षों से सामतवाद के आदी रहे थे और उनको इस प्रकार यूरोपीय देशों से प्राय सीधे व्यापार करना बडा बुरा लगता था। मेजी पुन स्थापन के बाद यह दशा बदली। परन्तु जापान व्यापारिक सबध रखते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता बनाये रहा। भारत और

चीन की तरह सबल पश्चिमी शक्तियों के हाथ में पड़ कर वह शोषित नहीं हुआ। इसके कई कारण हैं। एक तो इसकी भौगोलिक स्थिति कुछ सहायक हुई। दूसरे जापानियों में देश प्रेम भी अधिक था, तीसरे उसमें विदेशी संस्थाओं को अपने अनुरूप ढाल लेने की बहुत अच्छी शक्ति थी। इस प्रकार पश्चिम के कला विज्ञान और प्रशासन का अनुकरण करके जापान ने अपने राष्ट्रीय साधनों को थोड़े ही समय में बढ़ा लिया और शीघ्र ही जापान विश्व की एक ताकत बन गया। फिर भी हम लोगों ने जो कि दीर्घकाल से पूरबी ढंग की विचारधारा में पलते आ रहे थे, इस यूरोपीय विवेकात्मक प्रवृत्ति को ठीक प्रकार समझा, इसमें शक है। यदि जापान ने यह तथ्य अच्छी तरह समझ लिया होता तो वह द्वितीय महायुद्ध में निश्चित रूप से न पड़ता और हार के बाद उसकी जो दुर्दशा हुई है वह उससे बच जाता। इस तथ्य से युद्धोत्तर जापान के लिये अपने भविष्य की गति का बहुत ही स्पष्ट संकेत मिलता है।

आज के जापान में पूरबी धर्म और विचारधारायें तो हैं ही, साथ ही यूनानी दर्शन, जर्मन दर्शन, अमरीकी व्यवहारिकवाद, फ्रांसीसी साहित्य भी है, ईसाई धर्म और मार्क्सवाद भी लगे हुए हैं। इस स्थिति में अगर यह कहा जाय कि आज हमको संसार की हर विचारधारा घेरे हुए है तो अत्युक्ति न होगी। इसके अतिरिक्त युद्धोत्तर काल में जापान में कई प्रकार के धर्म भी उठ खड़े हुए हैं। आज जो जापानी विचारकों के आगे सबसे बड़ी समस्या है वह यही कि इतने तमाम विचारों को किस प्रकार अपना कर एक नितान्त नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया जाये। पूरबी और पश्चिमी दर्शनों के बड़े अच्छे ज्ञाता डा० किटारो निशिदा (१८६४-१९४५ ईस्वी) ने अपना एक निजी दर्शन चलाया है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि यही दर्शन युद्धोत्तर जापान का नेतृत्व कर रहा है। अब भी इन संकटों के बीच एक नितान्त नवीन किन्तु स्वस्थ संस्कृति की उद्भावना होनी बाकी है तभी जापान मानव-मात्र के हित में कुछ योग दे सकेगा।

जापान के निर्माण में पूरबी और पश्चिमी विचारधाराओं के अन्तर्संबंधों ने जो पृष्ठभूमि का काम किया है, यह भाषण वास्तव में उसीका एक मामूली-सा सार है। इससे एक चीज तो प्रकट हो ही जाती है कि भिन्न भिन्न असमान विचारधाराओं और परम्पराओं के मिल कर एक होने के लिये एक तो निकट सम्पर्क और दूसरे पर्याप्त समय की अवश्यकता है। जापानी लोग प्रथमतः बुद्धि से बहुत नम्र, सहज ज्ञान में प्रखर और बहुत ही सहिष्णु होते हैं। इसी लिये उन्होंने बहुत सी विचारधाराओं को ले लिया है और अच्छी तरह आत्मसात् कर लिया है हालांकि इस काम में उन्हें समय बहुत लगा है। स्पष्ट है कि मैं यह

नहीं कहना चाहता कि उन्होंने इस प्रकार अपनी स्वाभाविक प्रगति की उपेक्षा की है, इसके विपरीत, जापान में प्राचीन विचारों को नये विचारों के साथ रख कर और उनमें एकता पैदा करके अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को उन्नत बनाने की उत्कट आकांक्षा रही है। सामंजस्य की यह प्रवृत्ति जापान की बहुत ही पुरानी विशेषता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की सर्वसमता सिखानेवाले बौद्ध दर्शन से मिल कर जापानियों के लिये यह एक आदर्श बन गई है। सच तो यह है कि हमने जातीय पूर्वाग्रहों के कारण किसी भी विदेशी को या विदेशी संस्कृति को शायद ही निकाल बाहर किया होगा, यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस तरह की कुछ घटनायें अवश्य हुई हैं, जो जापान की ऐतिहासिक उथल-पुथल में शान्ति के आदर्श के प्रतिकूल सिद्ध हुईं। पिछले विश्वयुद्ध में जापान का जो हाथ रहा, वह अभी तक उसकी सबसे बड़ी ग़लती रही है। फिर भी, जापानी इतिहास का भली-भाँति अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि जापान केवल अस्थायी रूप से ही अपनी उन विशेषताओं और अपने उन आदर्शों से गिरा है जो सदा ही उसके अपने रहे हैं।

मेरा विश्वास है कि सच्ची विश्वशान्ति तभी स्थापित की जा सकती है जब हम हर देश की स्वतन्त्रता के लिये परस्पर आदर का भाव रखें। जहाँ एक जाति या राष्ट्र, जातीय श्रेष्ठता अथवा हीनता के आधार पर स्वयं अपने कार्यों को तो सही ठहराता है और दूसरों की ओर ध्यान नहीं देता, वहाँ पर स्थायी शान्ति होना असम्भव है। सच्चा मेल एक ऐसे ही संसार में सम्भव हो सकता है जहाँ शिव और अशिव को छोड़ कर और किसी तरह का भेद नहीं है। जब संसार को देखते हुए कोई यह सोचता है कि वह किसी दूसरे के विरुद्ध खड़ा है तो दूसरे पर सदा ही पहले का अधिकार हो जाता है, और इससे न्यायकर्ता और अभियुक्त का भेद उत्पन्न हो जाता है। ऐसे संसार में समानता का कोई भी पूर्ण सिद्धान्त जीवित नहीं रह सकता। इस तथ्य के बावजूद भी कि मनुष्य की स्वतन्त्रता और समानता का नारा संसार में जब सबसे पहले बुलन्द हुआ था तब से आज तक बहुत समय बीत चुका है, और इसके भी बावजूद कि वह आज के राजनीतिज्ञ का एक घिसा पिटा आदर्श बन चुका है, क्या अपने और दूसरे के बीच का भेदभाव ही वह चीज नहीं है जिससे आज भी सीमित स्वतन्त्रता और मनुष्यों के प्रति असमान व्यवहार के उदाहरण सब जगह देखने को मिलते हैं केवल नारा लगाने से स्वतन्त्रता और समानता की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमारा विश्वास है कि नया मानवतावाद मानवता के प्रति इस दृष्टिकोण से निर्मित होना चाहिये कि सभी मनुष्य बराबर हैं।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य

इब्राहीम मदकूर

पूरब और पश्चिम दोनो का ही अस्तित्व है, यह तो स्वत सिद्ध ही है। ससार के इन विभागो के बीच जो भूगोल और जलवायु की भिन्नता है वह सभी जानते हैं। परन्तु क्या हम यह भी मान लें कि उनमें मनोवैज्ञानिक और मानसिक भिन्नताएं भी हैं? जब एक ओर विश्लेषणात्मक शामी मन को और दूसरी ओर सश्लेषणात्मक आर्य मन को लेकर उनमें भेद किया जाता है तो कभी-कभी ऐसा ही मान लिया जाता है। रेनन ने भी ऐकेश्वरवादी सहज-वृत्ति को शामियो की विशेषता कहा था, और कुछ लोग तो इस हद तक बढ जाते है कि वे भिन्न भिन्न जातियो का आनुवशिक मनोविज्ञान भिन्न भिन्न मानते हैं। उदाहरण के लिये वे कहते है कि पीतवर्ण जातियाँ अपने अतीत में रहती हैं, श्यामवर्ण जातियाँ वर्तमान में और गौरवर्ण जातियाँ भविष्य में। मुझे लगता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त छिछले और अत्यन्त जोखिमपूर्ण हैं।

उन सभी सघर्षों और मतभेदो के बावजूद भी, जिन्होने निश्चय ही राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में युगो से पूरब और पश्चिम को एक दूसरे से अलग अलग रखा है, इनके बीच सास्कृतिक विनिमय सदा ही बना रहा है। मैं सीधे प्राचीन काल तक पहुच कर प्राचीन मिस्रियो और ईरानियों, यूनानियो और रूमवासियो के बौद्धिक सम्पर्कों की बात नही करना चाहता, और न पूरब और पश्चिम की सस्कृतियो के बीच सेतु का काम करने में भूमध्यसागर का प्राचीनकाल से जो योग रहा है उसकी ही चर्चा करूगा। परन्तु मैं एक बात स्पष्ट करूगा और वह यह कि ईसाई धर्म कितना ही पश्चिमी क्यो न जान पडे, उसका जन्म वास्तव में पूरब ही में हुआ है।

तो भी मैं मुस्लिम सभ्यता पर थोडा बहुत विचार करूगा। इस मुस्लिम ससार पर अनेक प्रकार के प्रभाव पडे हैं, मेनिकेइज्म, पारसीधर्म, और नक्षत्र-पूजा, इन सभी पर मुस्लिम देशो में व्याख्याए की गयी और विचार हुआ। अरब की बहुत सी राजनीतिक और प्रशासन सबधी सस्थाए उसे ईरान से विरासत में मिली है, और न हमें भारत को ही भूलना चाहिए जिसका प्रभाव मुस्लिम सस्कृति और परम्परा पर बहुत ही स्पष्ट है।

इसी प्रकार स्वयं अरबों ने भी यूनानी सभ्यता से बहुत कुछ लिया। वे प्राचीन यूनान के प्लेटो से लेकर प्लोटिनस, हिप्पोक्राइटीज से लेकर गालेन और यूक्लिड से लेकर अर्कमीदस तक के महान दार्शनिकों की लगभग सभी रचनाओं से परिचित थे, जिनका कि उन्होंने अपनी भाषा में अनुवाद भी किया, यद्यपि, आज से सौ वर्ष पूर्व जब रेनन ने कहा था कि 'अरबों' ने सिर्फ यही काम किया कि उन्होंने सारे यूनानी ज्ञान-कोश को ग्रहण कर लिया, तो वह निःसन्देह अतिशयोक्ति कर रहा था। तथ्य यह है कि मुस्लिम सभ्यता पूरब और पश्चिम दोनों ही के विचारों का मिलन-स्थल है।

दूसरी ओर मध्य युग में मुस्लिम सभ्यता ने पश्चिमी संसार पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। हम देखते हैं कि बारहवीं शती के बाद यूरोपवासियों ने धर्म-शास्त्र, दर्शन, चिकित्साशास्त्र, गणित और ज्योतिष के अरबी ग्रंथों का सीधे या अन्य भाषाओं के माध्यम से, लातीनी भाषा में अनुवाद करना शुरू कर दिया था। इन अनुवादों ने ईसाई पाडित्यवाद में महत्वपूर्ण कार्य किया, यूरोपीय नवजागरण के लिए भूमि तैयार की, और आधुनिक दर्शन और विज्ञान के विकास में योग दिया।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए थोड़े से उदाहरण काफी होंगे। जैसा कि सब जानते हैं सत टामस ने कुछेक अरब सिद्धान्तों की इस प्रकार आलोचना की है जैसे से वे उसके समकालीन विचारकों के सिद्धान्त हों, यहाँ तक कि लातीनी इब्नसीनावाद और लातीनी इब्नरुश्दवाद की चर्चा की जाने लगी, और अरबी चिकित्साशास्त्र, विशेष करके रजी और इब्न सीना के सिद्धान्त, सोलहवीं शती तक वेनिस और पैदुआ के विद्यालयों में पढ़ाये जाते थे। कोपरनिकस और गैलेलियो के बहुत पहले ही इब्न सीना पृथ्वी के गोल होने का सिद्धात प्रतिपादित कर चुका था, और लवाइज़र के बहुत पहले, की मियागिरी के 'विज्ञान' और धातुओं के तत्वांतरण के सिद्धान्त का खडन कर चुका था। ये और अन्य अरब विचार धीरे-धीरे पश्चिम में पहुच गये। और अन्त में निरीक्षण तथा प्रयोग से संबंधित कुछ नियम भी जिन पर आधुनिक विज्ञान आधारित है, लातीनी संसार में अरब से लिये गये।

अत यह स्पष्ट है कि चाहे भौगोलिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पूरब और पश्चिम में एक स्पष्ट अन्तर रहा हो, फिर भी इससे प्राचीन तथा मध्ययुग में मनुष्यों के बीच बौद्धिक विचारों का विनिमय नहीं रुक सका, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय या देश के क्यों न रहे हों।

आधुनिक युग में यह एक विनिमय जारी रहा है, और पूरब और पश्चिम के संबंधों के दृढ़ हो जाने से, यह और भी बढ़ गया है। क्या मुझे यह बतलाने

की जरूरत है कि इस मेज के चारो ओर बैठे हर व्यक्ति की मानसिक गठन में पूरब और पश्चिम दोनो के ही तत्व वर्तमान हैं। मैं सोचता हू कि अब वह समय आ गया है कि विशेषरूप से विमान और रेडियो की प्रगति को ध्यान में रखते हुए जब कि हम वास्तव में एक विश्व की चर्चा कर सकते हैं।

तो भी, एक दूसरा भेद करना जरूरी है—जिसे हम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के बीच का भेद कह सकते हैं। हर युग में, हर एक राष्ट्र या समुदाय की अपनी रूढिया, अपनी-परम्पराएँ और अपने नियम होते हैं—दूसरे शब्दो में, उसके अपने नैतिक और भौतिक मूल्य होते हैं। आज भी कभी-कभी उग्र राष्ट्रीय विशेषताओ और विभिन्नताओ को चरम सीमा तक धकेल ले जाती है, परन्तु इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय मूल्य समस्त मानव सभ्यता की उस सम्मिलित देन से प्रभावित है जिसे मैं अतर्राष्ट्रीय मूल्य कह सकता हू।

इन दूसरे प्रकार के मूल्यो पर ही बल दिया जाना चाहिए। वे न एक समुदाय की देन है और न एक देश की। उदाहरण के लिए यह कौन कह सकता है कि स्वतनता या सहिष्णुता के विचार किसी एक राष्ट्र की खोज है ? इसके विपरीत, वे एक विश्वव्यापक प्रक्रिया के परिणाम हैं जो कि सभी युगो में देश और काल के भीतर से आगे बढती आयी है। और हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस प्रक्रिया का और बढ़ाएँ और विकासित करें, क्योकि हमारी सच्ची समृद्धि और शक्ति इसी में निहित है।

इन अतर्राष्ट्रीय मूल्यो का पाठ ससार के प्रत्येक नागरिक को पढाया जाना चाहिए और उसके मन में अकित कर दिया जाना चाहिये। किसी भी आदर्श शिक्षा के आधार ये ही मूल्य होने चाहिये। उन्हें जानना ही काफी नही है, उन के प्रति पक्का विश्वास और धार्मिक निष्ठा होनी चाहिए। इसमें जो कठिन काम निहित है उसकी जिम्मेदारी नेताओ और विचारको पर है।

आज ये अन्तर्राष्ट्रीय, या यदि सही-सही कहा जाय, तो, मानवीय मान्यताओ को जितना सम्मान मिलना चाहिये उतना नही दिया जाता। कभी-कभी वे प्राणहीन हो जाती हैं और प्राय उनको साध्य न मान कर साधन ही मान लिया जाता है। यदि ये मूल्य ईमानदारी से स्वीकार कर लिये जाये, तो बहुत से सघर्ष और बहुत सी मानवीय यातनाओं से मुक्ति मिल सकती है। यदि हम किसी भी प्रकार विश्व-शान्ति की कामना रखते है, तो यह बहुत ही आवश्यक है कि ये मूल्य नवयुवको और आनेवाली पीढियों के मस्तिष्को में राष्ट्रीय रूढियो के साथ-साथ ही स्थान पाए।

इन मूल्यों को ईमानदारी से या पूरी तरह से स्वीकार करने के पहले यह बहुत ही आवश्यक है कि उनकी पूरी-पूरी ऐसी परिभाषा कर ली जाय जो सब को मान्य हो सके। निश्चित रूप से यह आसान काम नहीं है, परन्तु यूनेस्को, जो मनुष्य की प्रतिनिधि संस्था है यदि इसमें सफल हो सके तो यह सफलता बहुत ही श्रेयस्कर होगी।

बौद्ध दृष्टिकोण

जी० पी० मालालसेकेरा

आज हम अनेक समस्याओं से आक्रान्त, भ्रातचित्त और पथहीन, मानवीय इतिहास के एक बहुत बड़े मोड़ पर आ पहुंचे हैं। हमारे सामने जो भी समस्याएं हैं उन सब में सब से अधिक आवश्यक एक महान् विनाशकारी युद्ध को रोकने की है। आज संसार का भाग्य डावाडोल है। मनुष्यमात्र को यह तय करना है कि या तो तीसरा विश्व युद्ध होगा, जो कि आजतक जितने भी युद्ध हुए हैं उनमें सबसे अधिक विनाशकारी होगा, या युद्ध को हमेशा के लिए ही बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इसके अलावा और दूसरा कोई हल नहीं दीखता।

हम अपने चारों ओर देखते हैं कि परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हित जातीय दुर्भावना, वीभत्स लोभ, वर्गीय और सामूहिक घृणा परस्पर विरोधी विश्वास और विचारधाराएं, अग्रता और लाभ प्राप्त करने के पीछे पागल होकर एवं दूसरे से टकरा रहे हैं और मनुष्य की शांति प्राप्ति की साधना पर एक निरुद्देश्यता और निराशा की काली घटा मंडराती नजर आ रही है। ऐसा लगता है कि हम युद्ध के भीषण दुःस्वप्न से निकल कर शांति के भयावह दुःस्वप्न में फँस गए हैं। और इसी बीच में ही तथाकथित राजनीतिज्ञ जिनको कि सिर्फ जोड़ तोड़ भिड़ाने और चतुराई की ही शिक्षा अधिक और सूझ-बूझ और गहरे पैठने की शिक्षा कम ही मिली है, हमारा भाग्य तय किए डाल रहे हैं। और अपने लिए तथा जिनके वे तथाकथित प्रतिनिधि हैं उनके लिए सुविधामय पद और श्रेष्ठता जुटाने के लिए जोड़-तोड़ भिड़ाने के दौरान में न्याय और लोकतंत्र के प्रति सिर्फ ऊपरी श्रद्धा दर्शा कर रह जाते हैं। उनके समस्त चिकने चुपड़े शब्द-जाल के पीछे हमेशा ही वही चुपके-चुपके अन्तर्राष्ट्रीय छीना झपटी और धमकियों से भरा हुआ गंदे किस्म का मोल-तोल रहता है जिसे व्याजस्तुति से राजनय कहा जाता है। उस समय मानव मात्र के सीधे-सीधे सामान्य हित को भुला दिया जाता है। और ऐसा लगता है कि मानव ही इतनी निरर्थक हुआ, बर्बरता और अचिंतनीय आर्थिक विनाश से भरे हुए युद्ध की भीषण वास्तविकता को भी भुला दिया गया है।

जो प्रश्न बुनियादी है और जिसे मान्यता देने की जरूरत है वह यही है क्या विश्व में युद्ध होना है—और शीत युद्ध की तुलना में मगर अधिक बुरा नहीं तो

उतना ही बुरा जरूर है—अथवा लोग शांति से रहेंगे जो कि आज के आतंकित मानव की सामान्य आवश्यकता है ? क्योंकि बिना शान्ति के आनन्द नहीं मिलता और यही आनन्द समस्त मानवीय प्रयत्न का उद्देश्य है। लेकिन यह आनन्द क्या है ? बीते हुए युगों और जो कुछ हमारे चारों ओर हो रहा है उन पर नजर डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द के विषय में मनुष्यों में मतभेद है। वे प्रत्यक्ष ही ऐसे दर्शन पर, ऐसी मूल्य-भावना पर ही निर्भर रहते हैं जो कि उन्हें प्रभावित करती है। यह नहीं कि सभी व्यक्ति दार्शनिक हैं, बल्कि हम सब जीवन के प्रति कोई न कोई दृष्टिकोण रखते ही हैं। और सामान्य रूप से यही दर्शन है।

यह दर्शन ही मनुष्य में स्थायित्व और विश्वास की भावना लाता है। यही उसे जीवन का उद्देश्य प्रदान करता है। और यदि उसे वास्तव में उपयोगी होना है तो उसे सिर्फ जीवन विषयक सिद्धांत ही नहीं बल्कि मार्ग भी दर्शाना होगा। और यह मार्ग केवल जीना, पेशा, व्यवसाय या कोई नौकरी ही नहीं बल्कि इससे भी ऊपर है। ये तो सिर्फ जीवन के ढंग हैं, जीवन नहीं। जीवन-मार्ग वह है जिसके आधार पर जिया जा सके, जिसको लेकर प्रयोग किया जा सके, जिससे अनुभव हो सके। इसके साथ ही व्यावहारिक दर्शन पर यह भी भार है कि वह जीवन यापन की अनेक रीतियों में से किसी रीति विशेष को अपनाने के लिए उपयुक्त कारण भी बतावे। इन बातों के अलावा उसे चाहिए कि मनुष्य के मस्तिष्क में जीवन और अपने आस-पास के जीवन के बारे में जो प्रश्न आवश्यक रूप से उठते हैं उनका समाधान करे या कम से कम वे साधन ही बताए जिसके द्वारा उनका समाधान हो सकता है।

अधिकांश व्यक्तियों को तो यह दर्शन अपने धर्म से ही मिल जाता है सच्चे दर्शन की ही तरह सच्चा धर्म भी व्यावहारिक होता है। वह इस बात को स्वीकार करता है कि सड़कें और घर बनाना, अन्न उपजाना और बाह्य परिस्थितियों का बदलना जैसी चीजें ही सिर्फ व्यावहारिक नहीं होतीं, बल्कि अपना आंतरिक आचार बदल लेना, अपने को गृहस्थ जीवन और सामाजिकता के अनुशासन में ढालना, अपनी वासनाओं को भौतिक पदार्थों से हटाकर अध्यात्म की ओर ले जाना, मस्तिष्क का ऐसे विकास करना कि वह शरीर की अपेक्षा अधिक प्रबल शक्ति बन सके, ये सब चीजें भी उतनी ही व्यावहारिक हैं।

इस प्रकार धर्म एक जीवन मार्ग है किन्तु जीवन के तथ्यों और ऐसे स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुमय जगत के तथ्यों से संबंध रखे बिना जीवन संभव नहीं हो सकता, जिसके बीच हम रहते हैं तथा हमारा अस्तित्व है। कर्म, आचार और मनोवृत्ति

उस काल और प्रदेश में की परिस्थिति विशेष से सबधित होनी चाहिए और अगर किसी आदर्श का विचार किया जाय तो वह आदर्श ऐसा जरूर होना चाहिए कि उसको स्पष्ट तथ्य का रूप दिया जा सके। कोई भी धर्म या दर्शन हो, मनुष्य को उसमें सर्वप्राथमिक महत्व के अनेक तथ्यों में से एक तथ्य होना चाहिए और वह है भी। और धर्मों और दर्शनों में जितना अतर होगा यह आवश्यक है कि उनकी मनुष्य की सकल्पना में भी उतना ही अतर हो।

इस प्रकार आदर्श सकल्पना वही होगी जो जिनका भी उससे सबध हो उन्हें समानरूप से मान्य हो। उसके पीछे ऐसी अर्थ प्रचुरता होनी चाहिए कि लोग उसको अपने से सबद्ध सारी समस्याओं के लिए प्रयोग कर सकें और ऐसे परिणामो तक पहुच सकें जिनसे हर एक को बाध्य होना पड़े। क्या मनुष्य की सकल्पना सबधी पूरब और पश्चिम के विभिन्न दर्शनो में यह अर्थ प्रचुरता पा लेना सभव है?

यह बात शुरू से ही याद रखने की है कि पूरब और पश्चिम परम सत्य की खोज के लिए सामान्यत एक से ढगो को नही अपनाते। पश्चिम का आग्रह मुख्य रूप से तर्कपूर्ण विवेक की आगमिक और निगमिक प्रणालिया तथा खडन न करने और प्रयोगात्मक सत्यापनशीलता के सिद्धान्त पर ही रहता है। इसके विरूद्ध पूरब में यह काम निर्णय तर्क से नही बल्कि विवेकातीत सहज ज्ञान से कराया जाता है जिसमें व्यक्तिगतरूप से परिवर्तनशील मानसिक क्रियाओ को ही स्थान मिलता है। इन मानसिक क्रियाओ को पश्चिम न तो मानता ही है और न उन पर भरोसा ही करता है। यह सही है कि दोनो विश्लेषणात्मक प्रणालियो का उपयोग करते हैं लेकिन उनमें अतर अधिक होता है और उनके प्रयोग करने का उद्देश्य भी एक नही होता है। इस प्रकार दोनो प्रणालियो के बीच एक बहुत बड़ी खाई दीखती है जिसको मौलिक तथ्यो का ध्यान में रखते हुए पहले पहल ऐसा लगता है कि भरा नही जा सकता। फिर भी दोनों को एक करने में काफी सफलता मिल सकती है। दूसरी जगहो की तरह यहाँ भी मुक्त और समानतावादी सहकारिता के द्वारा एक ऐसा *सामजस्यपूर्ण सश्लेषण स्थापित किया जा* सकता है जिसको हम वस्तुस्थिति को देखते हुए एक साज का नही बल्कि एक समस्त वाद्यवृन्द का स्वरमेल कह सकते हैं।

इस सश्लेषण में बौद्ध धर्म क्या योग दे सकता है? बुद्ध की शिक्षाओं में मनुष्य की क्या सकल्पना है? *यह वास्तव में बौद्ध मत की जगत-सकल्पना से* अविभाज्य ही है। बौद्ध धर्म प्रकृति विशिष्ट ठोस तथ्यो की बनावट और उनके क्रम का अध्ययन करता है, उसकी सृष्टि रचना की अपनी धारणा और अपना प्रकृति दर्शन है यद्यपि इससे बौद्ध धर्म का मुख्य रूप से सबध नही है। इसका

सबध तो इस नाम रूप जगत और इसकी अनेक वस्तुओं और सबधो से है। यही नही रुक जाता। यह वास्तविकता का चित्र देखना चाहता है, चाहे इसीके लिये हो, कि उसके द्वारा इस ससार के परे अथवा इसके में परम तत्वो को देखा जा सके। वह ज्ञान प्राप्ति ज्ञान के लिए नही अच्छाई की प्राप्ति के लिए करता है। यह अच्छाई प्रकृति की किसी विशेष में या जीवन की प्रतिक्षण घटित होनेवाली घटनाओ में नही न इस अच्छाई की प्राप्ति अपनी सारी जटिलता के साथ इस जगत करने, मानवीय समाज को नए साँचे में ढालने या राज्य के सुधारने में ही सकती है। इसकी उपलब्धि तो परम सत्य के साक्षात्कार, वस्तु जगत को उसके ही रूप में समझने के द्वारा ही सभव है।

बुद्ध का कहना है कि यह दृष्टि प्राप्त होने के पश्चात् ही हमको दु खमय दिखेगा। यह केवल इसलिए न होगा कि जगत के पदार्थ अपने मूल में ही विकृत हैं वल्कि इसलिए कि उनकी और हमारी मनोवृत्ति ही कलुषित है। दु ख का कारण है आसक्ति, एषणा। सुख स्वय में दु ख नहीं है बल्कि इसमें दु ख हो जाता है, क्योकि सुख क्षणिक होता है। हम चाहते हैं कि सुख बना रहे पर वह हमारी मर्जी के अनुसार तो चलता नही इस तथ्य को मान लेना निराशावाद नही बल्कि बुद्धिमत्ता है। कारण यह है कि हम स्थायित्व की आशा और लालसा करते हैं जो कि सभव नही है और इसीसे जब हमारी आशाएँ पूरी नहीं होती तो हम दु खी होते हैं। बुद्ध की शिक्षा है कि भौतिक अथवा दैविक स्तर पर कुछ भी शाश्वत नही है, न कोई स्थायी पदार्थ है न कोई चिरस्थायी ब्रह्म। यह वास्तव में तथ्य स्वीकृति है कोई विलाप नही।

काल के सबध में भी बुद्ध का ऐसा ही कथन है। किसी स्थैतिक वस्तु के रूप में काल नाम की कोई चीज ही नही है। काल केवल अस्तित्व के आगमन और विगमन की अटूट प्रक्रिया है। बुद्ध, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, यह नहीं मानते कि हर पदार्थ जन्म लेते ही नष्ट हो जाता है। वह कहते हैं कि न तो कहीं जन्म है न मृत्यु, सिर्फ एक होने की एव सतत नवीयन की एव परिवर्तन की अवस्था है। यह बिल्कुल नाश या मृत्यु नही है बल्कि सतत नवीयन है। हर समय जीवन का नया उभार होता रहता है। इस पर यह चेष्टा करना कि जगत को शाश्वत बना दिया जाय नासमझी ही है, क्योकि वर्तमान, 'अस्ति' के अतिरिक्त और कुछ शाश्वत नही है यही 'अस्ति' सदैव वर्तमान रहता है।

हर वस्तु सदा बदलती रहती है इस तथ्य से हमको निराशा नही बल्कि प्रसन्नता होनी चाहिए। इसलिए और भी, कि जब हर वस्तु बदलती रहती है

यह भी सभावना है कि वह पूर्णता और उन्नति को प्राप्त होगी। अगर यह रवर्तन न होता तो किसी भी वस्तु का बुरी से अच्छी हो जाना और अपूर्ण पूर्ण हो जाना कैसे सभव होता? इसी परिवर्तन के ही कारण यह प्रगति गार और सुधार और वृद्धि सभव हो सकती है। परिवर्तन का अर्थ केवल नाश ही नही बल्कि सतत निर्माण भी है। यह 'होना' ही वृद्धि का पर्याय है न्तु वृद्धि अवश्य ही अच्छी या बुरी दोनो ही हो सकती है। बौद्ध धर्म में यह र्ण' वह नही है जो कि शाश्वत है, बल्कि वह जो कालातीत है जो अकाल है। ोई भी व्यक्ति क्षणभगुर सुख या प्रसन्नता को शाश्वत बनाने के प्रयत्न से आनन्द ही पा सकता। वह शाश्वत बनाया ही नही जा सकता। क्योकि अगर ाश्वत हो जाता है, तो वह निश्चित रूप से नीरस हो उठेगा, यह तो एक तथ्य है सके अतिरिक्त शाश्वत पदार्थों की प्रकृति में ही नही है। अगर हम किसी कार समझ लें कि यह अवश्यभावी है और उसका कारण भी जान लें तो पदार्थो ी इस क्षणिकता पर दु खित न हो सकेंगे और उसका प्रभाव भी हम पर नही ड़ेगा। दु ख वास्तव में पदार्थों की क्षणिकता से नही होता बल्कि इस तथ्य े प्रति हमारी मनोवृत्ति के कारण होता है। और यह कहना कि प्रगति के लए किसी शाश्वत अस्तित्व की आवश्यकता है कोरी कल्पना है। अस्तित्व ो अवश्य है, परन्तु शाश्वतता नही। बिना शाश्वतता के भी अस्तित्व हो सकता ै और जब बुद्ध कहते हैं कि व्यक्ति दिन प्रतिदिन क्षण प्रतिक्षण न वही रहता है र अन्य कुछ वहाँ, उनका भी यही आशय है। कोई अस्तित्व किसी शाश्वत आधार के बिना भी बना रह सकता है।

यदि हम सदैव ही ससार में पूर्ण रूप से लीन रहें तो हमें ससार विषयक किसी भी सत्य की उपलब्धि नही हो सकती इसलिए ससार से विमुखता की, विरक्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता है ताकि हम उसका सही रूप देख सकें। इसको हम ससार से भागना नही कह सकते। यह तो केवल थोडी देर के लिये दूर हट जाना है, और वह भी जब तक ससार के विषय में सत्य की प्राप्ति न हो जाय। ये हमारे ऋषि, मुनि, सन्यासी और भिक्षुक वही लोग है जिन्होने ससार की एक स्पष्टतर झाँकी पाने की लालसा से ही उसका त्याग किया है और तब वे अन्य लोगो को अपनी उपलब्धि का ज्ञान कराते है। आनन्द प्राप्ति के लिए चित्त की शाति भी एक आवश्यक वस्तु है और इस चित्त की शाति के लिए यह विरक्ति बहुत ही आवश्यक है। आनन्द बाह्य वस्तुओ में नही बल्कि अपने अन्त करण में होता है। यह मन की एक स्थिति है, जो पूर्ण ज्ञान से प्राप्त होती है। परन्तु अगर कोई व्यक्ति भावुक हो तो अपने चारो ओर यातना और पीड़ा देख कर

संबंध तो इस नाम रूप जगत और इसकी अनेक वस्तुओ और संबंधो से है। यही नहीं रुक जाता। वह वास्तविकता का चित्र देखना चाहता है, चाहे दलीले लिये हो, कि उसके द्वारा इस संसार के परे अथवा इसके भीतर ही गहरे में परम तत्वो को देखा जा सके। वह ज्ञान प्राप्ति ज्ञान के लिए नहीं ब अच्छाई की प्राप्ति के लिए करता है। यह अच्छाई प्रवृत्ति की किसी वि विशेष में या जीवन की प्रतिक्षण घटित होनेवाली घटनाओ में नही मिलती। न इस अच्छाई की प्राप्ति अपनी सारी जटिलता के साथ इस जगत का पुन करने, मानवीय समाज को नए सांचे में ढालने या राज्य के सुधारने में ही सकती है। इसकी उपलब्धि तो परम सत्य के साक्षात्कार, वस्तु जगत को ही रूप में समझने के द्वारा ही संभव है।

बुद्ध का कहना है कि यह दृष्टि प्राप्त होने के पश्चात् ही हमको यह ज दु खमय दिखेगा। यह केवल इसलिए न होगा कि जगत के पदार्थ अपने मूल ही विकृत हैं बल्कि इसलिए कि उनकी और हमारी मनोवृत्ति ही कलुषित है दु ख का कारण है आसक्ति, एषणा। सुख स्वय में दु ख नही है, बल्कि इसे दु ख हो जाता है, क्योकि सुख क्षणिक होता है। हम चाहते हैं कि सुख ब रहे पर वह हमारी मर्जी के अनुसार तो चलता नही इस तथ्य को मान लेना निराश वाद नही बल्कि बुद्धिमता है। कारण यह है कि हम स्थायित्व की आशा औ लालसा करते हैं जो कि संभव नही है और इसीसे जब हमारी आशाएँ पूरी नहीं होती तो हम दु खी होते है। बुद्ध की शिक्षा है कि भौतिक अथवा चैत्तिक स्त पर कुछ भी शाश्वत नही है, न कोई स्थायी पदार्थ है न कोई चिरस्थायी ग्रहण। यह वास्तव में तथ्य स्वीकृति है कोई विलाप नही।

काल के संबंध में भी बुद्ध का ऐसा ही कथन है। किसी स्थैतिक वस्तु के रूप में काल नाम की कोई चीज ही नही है। काल केवल अस्तित्व के आगमन और विगमन की अटूट प्रक्रिया है। बुद्ध, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, यह नहीं मानते कि हर पदार्थ जन्म लेते ही नष्ट हो जाता है। वह कहते हैं कि न तो म जन्म है न मृत्यु, सिर्फ एक होने की एक सतत नवीयन की एक परिवर्तन की अवस्था है। यह बिल्कुल नाश या मृत्यु नही है बल्कि सतत नवीयन है। हर समय जीवन का नया उभार होता रहता है। इस पर यह चेष्टा करना कि जगत को शाश्वत बना दिया जाय नासमझी ही है, क्योकि वर्तमान, 'अस्ति' के अतिरिक्त और कुछ शाश्वत नही है, यही 'अस्ति' सदैव वर्तमान रहता है।

हर वस्तु सदा बदलती रहती है इस तथ्य से हमको निराशा नही बल्कि प्रसन्नता होनी चाहिए। इसलिए और भी, कि जब हर वस्तु बदलती रहती है

यह भी सभावना है कि वह पूर्णता और उन्नति को प्राप्त होगी। अगर यह
वर्तन न होता तो किसी भी वस्तु का बुरी से अच्छी हो जाना और अपूर्ण
पूर्ण हो जाना कैसे सभव होता ? इसी परिवर्तन के ही कारण यह प्रगति
ार और सुधार और वृद्धि सभव हो सकती है। परिवर्तन का अर्थ केवल
नाश ही नही बल्कि सतत निर्माण भी है। यह 'होना' ही वृद्धि का पर्याय है
न्तु वृद्धि अवश्य ही अच्छी या बुरी दोनो ही हो सकती है। बौद्ध धर्म में यह
र्ण' वह नही है जो कि शाश्वत है, बल्कि वह जो कालातीत है जो अकाल है।
ई भी व्यक्ति क्षणभगुर सुख या प्रसन्नता को शाश्वत बनाने के प्रयत्न से आनन्द
ही पा सकता। वह शाश्वत बनाया ही नही जा सकता। क्योंकि अगर
श्वत हो जाता है, तो वह निश्चित रूप से नीरस हो उठेगा, यह तो एक तथ्य है
सके अतिरिक्त शाश्वत पदार्थों की प्रकृति में ही नही है। अगर हम किसी
कार समझ लें कि यह अवश्यभावी है और उसका कारण भी जान लें तो पदार्थों
ी इस क्षणिकता पर दु खित न हो सकेंगे और उसका प्रभाव भी हम पर नही
डेगा। दु ख वास्तव में पदार्थों की क्षणिकता से नही होता बल्कि इस तथ्य
े प्रति हमारी मनोवृत्ति के कारण होता है। और यह कहना कि प्रगति के
लए किसी शाश्वत अस्तित्व की आवश्यकता है कोरी कल्पना है। अस्तित्व
ो अवश्य है, परन्तु शाश्वतता नही। बिना शाश्वतता के भी अस्तित्व हो सकता
ै और जब बुद्ध कहते हैं कि व्यक्ति दिन प्रतिदिन क्षण प्रतिक्षण न वही रहता है
र अन्य कुछ वहाँ, उनका भी यही आशय है। कोई अस्तित्व किसी शाश्वत
आधार के बिना भी बना रह सकता है।

यदि हम सदैव ही ससार में पूर्ण रूप से लीन रहे तो हमें ससार विषयक किसी
भी सत्य की उपलब्धि नही हो सकती इसलिए ससार से विमुखता की, विरक्ति
उत्पन्न करने की आवश्यकता है ताकि हम उसका सही रूप देख सकें। इसको
हम ससार से भागना नही कह सकते। यह तो केवल थोडी देर के लिये दूर हट
जाना है, और वह भी जब तक ससार के विषय में सत्य की प्राप्ति न हो जाय।
ये हमारे ऋषि, मुनि, सन्यासी और भिक्षुक वही लोग है जिन्होने ससार की एक
स्पष्टतर झाँकी पाने की लालसा से ही उसका त्याग किया है और तब वे अन्य
लोगो को अपनी उपलब्धि का ज्ञान कराते हैं। आनन्द प्राप्ति के लिए चित्त
की शाति भी एक आवश्यक वस्तु है और इस चित्त की शाति के लिए यह विरक्ति
बहुत ही आवश्यक है। आनन्द बाह्य वस्तुओं में नही बल्कि अपने अन्त करण
में होता है। यह मन की एक स्थिति है, जो पूर्ण ज्ञान से प्राप्त होती है। परन्तु
अगर कोई व्यक्ति भावुक हो तो अपने चारो ओर यातना और पीड़ा देख कर

अपने चित्त को शांत नहीं रख सकता। कोई भी अपने आप ही के लिए ही प्रसन्न नहीं हो जाता। यही पर बुद्ध का 'बोधिसत्व' का आदर्श है बोधिसत्व अर्थात् जो अन्त में जा कर बुद्ध हो जाता है, जो निर्वाण पद का लाभ नहीं प्राप्त कर सकता जब तक वह दूसरों को भी वहाँ तक न ले जाए।

यह जगत दुःखमय है। जो विवेकशील होगा वह इस तथ्य को मान इस दुःख को घटाने के लिए जो कुछ भी कर सकता है स्वयं करेगा और को भी इसके लिये प्रेरित करेगा। दुःख कुछ तो भौतिक होता है और अज्ञान और असम्यक् आचार के कारण होता है। असम्यक् आचार का अर्थ है लोभ, वैर और यह भ्रम कि स्वार्थपरता भी लाभकारी होती है और धन बल के द्वारा भी आनन्द प्राप्त होता है, हमारे आचार को प्रभावित करें। जग में व्याधि है बेचैनी, गरीबी, परपीडन, घृणा और पूर्वाग्रह हैं। इनको हर तरीके से कम से कम करना है और किया भी जा सकता है। बुद्ध ने घोषणा की कि अच्छा स्वास्थ्य भी एक बहुत अच्छी वस्तु है और यह कि पर्याप्त भोजन भी होना ही चाहिए। खाली पेट रख कर अच्छा जीवन बिताने की कोशिश करना कोरी मूर्खता ही है। बुद्ध के अनुसार खाना कपड़ा आश्रय और विश्राम ये मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकतायें हैं और इनका पूरा किया जाना नितांत ज़रूरी है। मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन बिताने के पहले जिन्दा रहना है। उसका शरीर ही नैतिक और उच्च जीवन बिताने के सभी प्रयत्नों का माध्यम है। इसलिए इसकी अच्छी तरह रक्षा की जानी चाहिए। बौद्ध मत कभी भी इस बात पर ज़ोर नहीं देता कि मानवीय हृदय से जो भावनाएँ और कामनाएँ उद्भूत होती हैं उनको दबाया जाय। यह तो सिर्फ उन्हीं को करना चाहिए जो अपने भीतर यह पाते हैं कि उनको इन सब बातों से ऊपर उठना ही चाहिए। अन्य लोगों के लिए विवाह और परिवार बसाना लाभप्रद ही समझे जाते हैं क्योंकि ये चीजें व्यक्ति को अहंवादी और स्वार्थपरक बनाने से रोकती हैं। लेकिन यह गृहस्थ सुख ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। यह तो आध्यात्मिकता की एक अवस्था है।

अपनी आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए भी अन्य चीजों की ही तरह मध्य मार्ग जो अति का वर्जन करता है, सर्वोत्तम समझा जाता है। अचिंता और अनावश्यक भौतिक तृप्ति इन दोनों से ही नई-नई वासनाएँ जन्मती जाती हैं और असंतोष भर जाता है। हम सुख आराम की खोज में रहते हैं, हमारी छोटी छोटी भौतिक आवश्यकताएँ भी बढ़ते-बढ़ते शारीरिक तृष्णा का रूप धारण कर लेती हैं और जीव इन्द्रियों का दास बन जाता है। भोग करने से कभी आकांक्षाएं

शात भी होती है ? ईंधन मिलते जाने पर बढने वाली आग की तरह वे भडक उठा करती है।

मनुष्य जीव समाज का सदस्य है और बिना समाज के वह रह नही सकता। यह समाज केवल जीवितो का ही नहीं है इसमें सारा ससार, जड और जगम समान रूप से आते हैं। सभी मनुष्य के आत्मीय है। प्रकृति का यह जीवित और अजीवित में विभाजन ऊपरी है। जगत अनेक आकारो की व्यवस्थित प्रणालियो और जीवन के क्षेत्र के अनेक रूपो का सघात है। बौद्ध धर्म ने यह तथ्य कई सैकडो बरस पहले समझ लिया था और आधुनिक वैज्ञानिक खोजो का पूर्वाभास ी दिया था। परन्तु मनुष्य का जिन व्यक्तियो से मुख्य सरोकार है और उसका ात्कालिक सबध भी उन्ही से होता है। जो कुछ समाज करता है उसका व्यक्ति र प्रभाव पडता है और इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति करता है उसका समाज पर भाव पडता है। व्यक्ति महासागर की एक लहर की तरह है। महासागर और लहर दोनो एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति और समाज का यह अन्योन्याश्रय सबध मान लेने का मतलब यह होता है कि दोनो के एक दूसरे के प्रति कुछ कर्तव्य भी होते है। समाज को व्यक्ति का पालन करना और उसे सुरक्षा प्रदान करना है। दूसरी ओर व्यक्ति को भी समाज के प्रति कुछ कर्तव्य करने होते है क्योकि उसी पर उसका अस्तित्व निर्भर है। ये मुख्य कर्तव्य जिन्हें बौद्ध मत में पचशील कहते है उन्ही में व्यक्त किए गए है। वही मनुष्य की नैतिकता की शिलाएँ है। किसी भी व्यक्ति को जीवन की पवित्रता को स्वीकार करना है और किसी भी जीवित प्राणी की प्रगति में किसी भी प्रकार बाधक नही होना है। कानूनी तौर पर जो किसी की सम्पत्ति है उसकी वैधता को मानते हुए न सिर्फ उसको उसकी चोरी से ही अपने को रोकना है, बल्कि उसका किसी भी प्रकार शोषण नही करना है। उसे अपनी इन्द्रियों को रोकना है। उनकी सतुष्टि के लिये लोलुप नही होना है। उसे सत्य और मृदुभाषी होना है, तीखे, निंदात्मक, द्वेष अथवा मिथ्या प्रचार से पूर्ण और घृणोत्पादक शब्दो का प्रयोग नहीं करना है। सारी चीजें जो उसके विवेक, न्याय, बुद्धि और मानसिक सतुलन को विकृत करनेवाली हो, उनसे भी उसे दूर रहना है।

व्यक्ति को अपने और दूसरो, दोनो के हित में अपने कर्तव्यो का बडा ध्यान रखना चाहिए। विध्यात्मक पक्ष से तो उसे अपने मन, वचन और कर्म से उन सभी प्रयत्नों को समर्थन देना चाहिए जो मनुष्यता के हित और आनन्द को बढाने-वाले हो। सबसे ऊपर उसे सत्य शिव सुन्दर का अनुसरण करते हुए और अपने

मस्तिष्क को व्यापक और सूक्ष्मदर्शी बना कर, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। शिव की साधना और सुन्दर का बोध अपने आप में साध्य नहीं हैं। शिव आदर्श है इसलिए कि इसके आनन्द संभव नहीं है, यह उस मानसिक शांति के लिए जिसके बिना वास्तविक आनन्द आ ही नहीं सकता, परम आवश्यक है। यह कहना अक्षरश: सही है कि खल के लिए शांति नहीं होती।

व्यक्ति के ऊपर समाज का यह ऋण होता है कि समाज में उसकी आवश्यकताएं पूरी होती हैं। उसको चाहिए कि वह यह ऋण समाज के प्रति सेवा करके उतारे। सभी व्यक्ति उसके भाई हैं इसलिए नहीं कि सभी उसी ईश्वर के बेटे हैं, बल्कि उनमें भी वही खून और मांस मज्जा है। इस प्रकार मनुष्य के भ्रातृत्व की कल्पना बौद्ध धर्म में आस्तिक धर्मों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अपने को दूसरों की सेवा करने योग्य बनाने के लिए भी व्यक्ति को अपनी सारी योग्यताओं, मानसिक और शारीरिक शक्तियों, भावनाओं विचारों और अपने जीवन के सौन्दर्य पक्ष को विकसित करके अपने आप को हर दिशा में कुशल बनाना चाहिए। शिव से आनन्द की वृद्धि होती है और इसी शिव की बौद्ध धर्म में यह व्याख्या की गई है कि जो अपने में और दूसरों में 'कार्यकुशलता' लाए। तमाम बुराई इस 'कार्यकुशलता' में बाधक होती है। समाज की उन्नति के लिए व्यक्ति कैसे योग देता है, कैसा काम करता है यह उतना जरूरी नहीं है जितना कि यह कि उसने यह योग किस भावना से दिया है, इस दिशा में प्रेम, श्रद्धा निस्वार्थ और विवेक के साथ दिया गया योग महत्वपूर्ण होता है।

बुद्ध का कथन है कि जगत का प्रवर्तन कुछ कठोर नियमों के अनुसार होता है। जब तक व्यक्ति और इन नियमों में संगति रहती है तब तक वह सुखी रहता है। वास्तव में बौद्ध ग्रंथों में जो 'दु:ख' शब्द प्रयोग किया गया है उसके कई अर्थ हैं, और एक अर्थ—'असंगति' भी है। जब मनुष्य प्रकृति पर शासन करने की चेष्टा करता है या, जैसा सामान्य रूप से कहा जाता है, प्रकृति के रहस्य जानने की चेष्टा करता है, और इसी क्रिया में अगर वह इन नियमों की क्रियाविधि में बाधक हो जाता है, तो जब तक वह यह संतुलन फिर नहीं स्थापित कर पाता तब तक कष्ट में ही रहता है। जीव और जगत का प्रवर्तन करनेवाले नियमों में बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म का नियम है। संक्षेप में हर वस्तु जो वर्तमान है किसी कारण का कार्य है और स्वयं ही किसी अन्य परिणाम कार्य का कारण है। कर्म का अर्थ है 'कार्य' और 'कार्य का फल'। यह नियम नैतिकता अर्थात् कारण और वस्तुओं के नियमित क्रम के सिद्धांत पर ही लागू होता है। इसमें कहीं भी अस्थिरता और विशृंखलता के लिए स्थान नहीं है। जैसा हम बोएंगे वैसा

काटेंगे। हम जो कुछ हैं और जिन परिस्थितियों के बीच हैं यह सब इसी पर निर्भर करता है कि पहले हम क्या थे और हमने क्या किया था। इसी तरह हम जो कुछ होंगे वह भी जो कुछ हम इस समय कर रहे हैं इसी पर निर्भर होगा। जिसके लिए परिश्रम किया जाता है उसका कुछ भी अंश खोता नही, और जिसके लिए परिश्रम नहीं किया जाता वह बिना पात्रता के मिलता नही। हर कर्म का दोहरा प्रभाव होता है, एक तो उपयुक्त इनाम दिलाता है दूसरे उसकी प्रकृति पर भी प्रभाव डालता है। यह इनाम या तो यही या इसके बाद, इस जीवन में या दूसरे जीवन में मिलता है। इस कर्म के नियम से किसी को भी छुटकारा नही है, यहाँ तक कि आस्तिक धर्मों में वर्णित ईश्वर को भी नही। यह नियम *अनम्य और अचूक होता है।*

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि बुद्ध के कर्म सिद्धात का भाग्यवादिता या पूर्व जन्म से कोई सरोकार नही है क्योंकि बुद्ध की शिक्षा में कर्म एवं सतत क्रिया है। वर्तमान अतीत का परिणाम है परन्तु भविष्य पूरा का पूरा वर्तमान पर ही निर्भर है। *अपने पिछले कर्म पर हमारा वश नही है परन्तु भविष्य तो बिल्कुल* ही हमारे हाथ में होता है, क्योंकि सारी चीज का भार हम पर ही तो है। कर्म स्वत पालित है। इसके प्रवर्तन में स्वयं कर्म को छोड़ कर और कोई देवता या राक्षस हस्तक्षेप नही कर सकता। यहाँ के व्यापारों को ऐसी पूर्व अवस्थाएँ और कारण आगे बढ़ाते हैं जिनको मनुष्य अपनी मेधा और सदाशयता द्वारा समझ बूझ, प्रवर्तित, रुद्ध अथवा तीव्र कर सकता है। और यदि हर पदार्थ किसी कारण या कारणों का परिणाम है तो ये जगत के दु ख और आनन्द भी किसी कारण के परिणाम होने चाहिए। कारण में परिवर्तन हुआ कि उससे परिणाम भी बदल जाएगा। इसीलिए मनुष्य की यथासभव स्वतत्रता की घोषणा की गई है। वह सृजन के कार्य में ईश्वर का केवल सहायक ही नही, बल्कि स्वयं स्रष्टा भी है। युद्ध और शान्ति गरीबी और अमीरी सब हमारी चीजें हैं। इनके लिए हम ही पूरे-पूरे जिम्मेदार हैं हम इन पर अभी चाहें तो नियत्रण जानबूझ कर शुरू कर दें, क्योंकि हमको इसका अवसर हर क्षण रहता है। हमको किसी दूसरे का मुँह नही ताकना। इस क्षणिक जीवन में जिन मान्यताओं की उपलब्धि हो पाती है उनको अस्वीकार करने की तो बात ही नही है। बल्कि बौद्ध धर्म जीवन के परिवर्तनशील क्रम में भी मान्यताएँ पा लेना है। भविष्य को सुधारने के लिए यह जरूरी नही है कि अतीत को मिटा दिया जाय और वास्तव में उसे मिटाया ही नही जा सकता। बल्कि उसी के आधार पर उसको बदल कर या उसी में सुधार करके कुछ अवश्य तैयार किया जा सकता है। अर्थात् अगर कोई

यह चाहे कि उनमें परिवर्तन के द्वारा कोई वास्तव में सहायक वस्तु जोड़ दी जाय तो इसमें बाधा डालनेवाली कोई चीज नहीं हो सकती। जीवन को हर प्रकार के अवसर प्राप्त हैं कि वह अपने को एक बाहर की ओर बढ़ता हुआ चक्र-सा बना ले जो कि सुनिश्चित प्रेरणात्मक और कल्याणकारी होगा।

इस उद्देश्य के लिए सोद्देश्य चिन्तन आवश्यक है, अर्थात् तमाम मनव दर्द पर विचार करना, दुःख के कारणों की समीक्षा करना, और ऊर्ध्वगामी पथ की तमाम तफसीलों का निरूपण करना इस काम को विवेक और तर्क के हाथों में ही पूरी तरह न छोड़ देना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि विवेक और तर्क को बिल्कुल बहिष्कृत ही कर दिया जाय। विज्ञान विस्तृत और पूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है, परन्तु ऐसा नहीं है कि विज्ञान अकेला ही अपने आप मनुष्य मात्र को पूर्ण बना सके। बुद्ध के ही अनुसार दुःख का मूल कारण अज्ञान ही है इसलिए आनन्द की खोज ज्ञान बुद्धि और अन्तर्दृष्टि के ही माध्यम से करनी चाहिए। ज्ञान अध्ययन, चर्चा, मनन हर सम्भव ढंग से प्राप्त करना चाहिए। इनमें मनन सबसे अच्छा है। यह मनन-मात्र निश्चेष्ट आँखों से शून्य में ताकना नहीं, बल्कि मस्तिष्क की वह सोद्देश्य क्रिया है जिसके स्तर पर ज्ञान और समझ आ कर मिल जाते हैं। यही सबसे अच्छी विचारणा है। परन्तु हर प्रकार की विचारणा को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। कम-से-कम इसके द्वारा लोगों को शारीरिक क्रिया-कलाप के बीच थोड़ा-सा विश्राम तो मिल जाता है जिसकी बड़ी आवश्यकता होती है। आज जो प्रगति के ऐसे युग में रह रहे हैं जब कि समय के अतिरिक्त सभी बड़ी तेजी से भाग रहे हैं तो उनके लिए यह मनन की विचारणा बहुत ही आवश्यक है। अक्सर जीने के उत्साह को घटा लेना और कभी-कभी तो निष्क्रिय हो कर बैठ जाना ही लाभदायक होता है।

ज्ञान शक्ति का स्रोत है, परन्तु जो वस्तु शक्ति के बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग का प्रवर्तन करती है वह है समझ। ज्ञान के द्वारा मनुष्य सृजन शक्ति की गहराइयों की थाह पा सकते हैं, जैसा कि वे पहले ही कर चुके हैं। परन्तु जब तक दैवी शक्ति का सम्मिलन दैवी समझ और अन्तर्दृष्टि के साथ नहीं होता तब तक मनुष्य ने जो शक्ति प्राप्त की है वह उलट कर उसीका ही विनाश कर डालेगी। इसलिए आज जो आवश्यक चीज है वह यह नहीं है कि आदमी किस प्रकार एक दूसरे का नाश करे बल्कि किस प्रकार एक दूसरे से मिल जुल कर रहे। यह समझ प्रयोग खोज, व्यावहारिक जीवन और सतत सचेतना के द्वारा आती है। बुद्ध ने बुद्धि की इस 'चेतना' पर बड़ा बल दिया है यह वास्तव में समझ की अनुगामी ही है।

आत्म-विकास का पथ, हालांकि इसे अक्सर मार्ग कहा जाता है, देश और काल में प्रगति का रूप नहीं है। यह हमारी प्रकृति में उसको पूरी तरह समझने के लिए एक पैठ है। ज्ञान, विज्ञान, कला और दर्शन ये सब हमको सत्य के लिए एक अन्तर्दृष्टि देते हैं, परन्तु ये सत्य के मात्र रूप हैं। इन सब रूपों को मिला कर एक साम्यावस्था में लाना है। बुद्ध का कहना है कि यह केवल सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। सम्यक् ज्ञान मात्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञान तथ्यों का होता है जब कि सम्यक् ज्ञान कारणों और परिणिति का होता है। चाहे हम अपने को एक व्यक्ति या किसी देश का नागरिक या मानवता के संसार व्यापी परिवार का एक सदस्य मान कर देखें, आज हमको वर्तमान जीवन में जो विशृंखलता दिख रही है इसी साम्यावस्था की कमी के कारण है। इस विशृंखलता के लिए पूर्वाग्रह के भेदभाव, अज्ञान और मनुष्यता को खण्ड-खण्ड में बाँट देनेवाला भय ही उत्तरदायी है। आज संसार पहले से ही सिकुड कर इतना छोटा पड गया है कि अगर कहीं कोई महत्वपूर्ण घटना होती है, तो उसका प्रभाव हर जगह पड़े बिना नहीं रह सकता। परन्तु लोग इसका परिणाम नहीं समझ सके। अब भी वे इस बात पर अड रहे हैं जैसे कि व्यक्ति और राष्ट्र स्वार्थपरता को प्रश्रय देनेवाले साधनों के द्वारा ही आनन्द प्राप्त कर लेंगे। एक लहर महासागर का एक भाग ही नहीं होती वह महासागर की गति होती है और उसको उससे अलग नहीं किया जा सकता। जब लोग यह अनुभव करने लगेंगे ये संघर्ष खत्म हो जाएँगे।

यह विश्व चेतना पैदा करने का एक ढंग यह है कि उन मौलिक संकल्पनाओं और अंतर्भूत सिद्धान्तों की खोज की जाय जिनसे अनेक जातियों और धर्मों के लोग उच्च जीवन के अनुसरण में प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इन संकल्पनाओं का विश्व सृष्टि, जीवन प्रकृति और मानवीय चेष्टा के उद्देश्य से पूरा-पूरा संबंध होता है। वे वास्तव में उस सामान्य जड का काम देती है जहा से मानवीय परिवार की भिन्न-भिन्न डालें अपनी जीवनी शक्ति पाती हैं। इस प्रकार की खोज में हो सकता है कि हमारे सबके बहुत से विश्वास एक से पाये जायें और ऐसे सामान्य विश्वास आपसी मित्रता बढाने में बडे सहायक होते हैं। केवल नैतिकता ही काफी नहीं होगी और न नैतिकता के नाम पर कड़े सद्गुणों को ही प्रश्रय देना चाहिए। कुछ सौम्य गुणों को भी अपनाना चाहिए जैसे सभ्यता-पूर्ण आचार और उदार व्यवहार, सहिष्णुता की भावना, जीना और जीने देना, दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा आत्मनीति जिससे विनयशीलता आती है। इन गुणों की प्रायः अवहेलना की जाती है और इन ही को प्रचलित कराने की बडी आवश्यकता है।

बुद्ध के धर्म सिद्धान्त का एक उपप्रमेय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। इस प्रकार मनुष्य अपने पिछले जीवनों के कर्मों को पाता है और साथ ही वह सारी मानव जाति के अतीत का भी उत्तराधिकारी होता है। इस तरह बुद्ध के मतानुसार मनुष्य जन्म से ही बराबर नहीं होते बल्कि ये असमानताएँ व्यक्तिगत होती हैं और इनका वर्ण जाति, धर्म, जन्म स्थान, रंग, त्वचा से कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं होता। हर व्यक्ति का मूल्य होता है, और न्याय, दया, सौहार्द देने और पाने दोनों का अधिकारी होता है। किसी भी व्यक्ति या समूह को दूसरे व्यक्तियों या समूहों पर शासन करने या उनका शोषण करने का अधिकार नहीं है और जाति भेद या अन्य ऐसी किसी भी चीज के आधार पर इस प्रवृत्ति को न्याय नहीं कहा जा सकता। मनुष्यों को पूरबी-पच्छिमी कह कर बाँट देने और यह कहने में कि उनकी शारीरिक योग्यता, मानसिक क्षमता सद्गुण या सृजन शक्ति में प्रत्यक्ष अंतर है, कोई सत्यता नहीं है। इन दोनों में एक ही प्रकार की भावनात्मक प्रतिक्रिया होती है उसी तरह की बीमारी होती है, उसी तरह की बेचैनी, शंकाएँ और मानसिक विकृतियाँ होती हैं। दूसरे शब्दों में उनकी मानवता भी एक ही प्रकार की है। यह जातिगत भेदभाव एक बुराई है। बौद्ध धर्म में मूल पाप नाम की कोई चीज ही नहीं होती। इसके विरुद्ध वहाँ तो यह माना जाता है कि मनुष्य की प्रकृति मूल रूप से शुद्ध ही होती है, परन्तु बाद में बुरी संगत के कारण भ्रष्ट हो जाती है।

मनुष्य की शक्तियाँ असीमित होती हैं। मनुष्य ही तो बुद्ध, आइन्स्टीन या महात्मा गांधी बनता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का पूरा-पूरा मौका दिया जाना चाहिए क्योंकि उसका लाभ सारी मानवता का लाभ है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसका सुधार न हो सके। किसी भी व्यक्ति को इस प्रकार बहिष्कार नहीं किया जाना चाहिए न ही उससे घृणा की जानी चाहिए मानो वह समस्त मानव संसर्ग से बाहर हो। प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक ज्योति जल रही है। वह कितनी ही धीमी क्यों न हो, परन्तु इस पावर लौ का रूप धारण कर सकती है। जातक कथाओं में डाकू अंगुलिमाल की कथा है। बुद्ध से भेंट होने के पहले उसने ११ हत्याएँ की थीं। बुद्ध ने उसको सदजीवन का मार्ग बताया और वह एक अर्हत बन गया। यह पूर्णता हममें पहले ही से नहीं मौजूद होती, बल्कि उनके बीज हममें मौजूद होते हैं और अगर आवश्यकता से प्रयत्न किए जायें और परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो वे बढ़कर फूलने फलने लगते हैं। यह कहना नितांत मिथ्या है कि मनुष्य की प्रकृति नहीं बदल सकती। हाँ, यह जरूर है कि वह एकदम ही नहीं बदली जा सकती।

बौद्ध धर्म में परित्राता को कोई स्थान नही है। मनुष्यों को अपनी समस्याओं को बिना किसी बाहरी शक्ति की प्रतीक्षा किए हुए स्वय ही सुलझाना है। अगर वे सदाचारी और ज्ञानी नही बनते तो उनके लिए अज्ञान और अपने बुरे कामो के परिणामो से छुटकारा पाना मुश्किल हो जाएगा। जीवन के दो पहलू होते हैं, भौतिक और आध्यात्मिक। इन्ही दोनो के सश्लेषण से आनन्द प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म भौतिक हित की निन्दा नही करता बल्कि वह कहता है कि इन भौतिक पदार्थों पर ही अनुचित रूप से ध्यान न केन्द्रित कर दिया जाय, उनको अध्यात्म का अनुवर्ती रहने देना चाहिए। इस प्रकार वह, आत्म अनुशासन और जीवन के सरलीकरण पर जोर देता है जिससे कि अपनी आवश्यकताओ को सारी मानवता की आवश्यकताओ का सापेक्ष बनाया जा सके। किसी मानवीय परिवार में कोई भी जिम्मेदार व्यक्ति अपने हिस्से से अधिक का उपभोग न करे। यह भी यथासभव कम ही होना चाहिए। बौद्ध धर्म के अनुसार अच्छा व्यक्ति 'सुभार' होता है अर्थात् जिसका भरण आसानी से हो सके और जो किसी पर बोझ न बन सके।

निर्धनता का अपना कोई मूल गुण नही होता। और अगर धन को उचित नियत्रण में रख जाय और वस्तु व्यवहार में आवश्यक से अधिक महत्ता उसे न दी जाय, तो वह भी कभी अभिशाप नही होता। धन का अपना मूल्य होता है जो कि उसके उपयोग में निहित है। अगर कोई आदमी यह सोचे कि वह धन के द्वारा अनत सुख सुविधाएँ खरीद लेगा तो वह भ्रम में है। इस प्रकार की आकाक्षाओ से आवश्यकताएँ और वासनाएँ बढती ही जाती है जिनका कोई अत नही होता और अत में दुःख होता है क्योकि सारी भौतिक वासनाएँ पूरी नही की जा सकती। बुद्ध ने धन सग्रह को बुरा तो कहा ही नही बल्कि अपनी आय खर्च करने के बारे में सुझाव दिए हैं क्योकि बुद्ध ने नियम कभी नही बनाए। उनका कहना है कि उसके चार भाग कर लेने चाहिए, एक अपने खर्च के लिए, दो को लगा दे और चौथे का आवश्यकता के लिए रख ले। वह यह नही कहते कि कितना धन पुण्य में खर्च करना चाहिए क्योकि यह तो उस व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास पर निर्भर करता है। कमाने का मतलब इकट्ठा करना नही बल्कि अपने और दूसरो की खातिर खर्च करना है। उदारता एक मौलिक सद्गुण मानी गई है। बौद्ध मत के अनुसार सम्पत्ति एक न्यास की ही रक्खी जानी चाहिए।

धन का अर्जन अगत् साधना म दूसरो को कष्ट, उनके लोभ और उनकी मूर्खता का लाभ उठा कर न होना चाहिए। इन तरीको से जैसे मद्य और औषध, काटे जाने या बद रखे जाने के लिए पशुओं का विक्रय करके या ऐसा व्यवसाय

करके जिसमें लोगों के सम्मान होते हों, प्राण जाते हों, या अधिकार छिनते हों या अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण द्वारा जो भी धन कमाया जाता है वह निंद्य है। बुद्ध को इसका पक्का विश्वास था कि हिंसा को हिंसा के द्वारा नहीं जीता जा सकता। घृणा घृणा से नहीं बल्कि प्रेम से मिटती है। उनकी शिक्षाओं का आधार है-हिंसा कैसी भी हो, किसी भी बहाने से हो अन्याय है, 'धर्मयुद्ध' नाम की कोई चीज ही नहीं हो सकती। जो व्यक्ति हिंसा की प्रभावशीलता पर विश्वास करता है वह संघर्ष को शाश्वत और युद्ध को अनिवार्य बनाने में सहायता देता है। निस्सन्देह युद्ध का पूर्ण उन्मूलन बड़ा ही कठिन है परन्तु बौद्धों के अनुसार ऐसा नहीं है कि इस समस्या का हल ही मिल सकता हो। आवश्यकता आध्यात्मिक क्रांति, मानवीय हृदय बदलने की है और ये परिवर्तन तभी किए जा सकते हैं जब व्यक्तियों में अपने आप पर काफी भरोसा हो। अशोक का उदाहरण ले लीजिए। पहले वह एक निर्दयी योद्धा था, परन्तु बाद में कितना मृदुल बन गया। इस प्रकार युद्ध-उन्मूलन की जिम्मेदारी हर व्यक्ति की है। जब तक हम एक एक करके अपने हृदयों से हिंसा को नहीं निकाल देंगे सारी मानवता हिंसा को कैसे छोड़ सकेगी। हम यह जिम्मेदारी दूसरों पर नहीं डाल सकते। हम ही एक एक करके संसार की सामूहिक घृणा को जन्म देते और बढ़ाते हैं। लोगों की मर्जी से ही ये युद्धवादी भी वर्तमान हैं लोग ही उसके मुखिया हैं। युद्ध में कभी आनन्द नहीं हो सकता। अगर मानवता बहुसंख्या में पूर्ण निःशस्त्रीकरण चाहती है तो यह निःशस्त्रीकरण होना ही चाहिए। और यह विश्वव्यापी आध्यात्मिक पुनरुद्धार के माध्यम से ही होगा। आज अधिकांश स्त्री-पुरुष युद्ध को, पूर्व युगों की अपेक्षा, अधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि 'प्रगति' के साथ ये युद्ध भी महान् विनाशकारी और भयावह हो गए हैं। अब युद्ध के पीछे वह वीरता का आदर्श नहीं रहा। अब इसका पालन गन्दगी और मेहनत से भरे व्यापार की तरह साधारण कठपुतले ही करते हैं और उनमें से अधिकांश युद्धक्षेत्र में जाते भी नहीं। हमको आवश्यक रूप से युद्ध को हटा ही देना है, या फिर बिल्कुल मिट जाने के लिए तैयार हो जाना है।

किन्तु हर चीज की ही तरह युद्ध के भी कारण होते हैं। अगर युद्ध को मिटाना है तो पहले उन कारणों को समाप्त करना होगा। बुद्ध ने दीर्घनिकाय के केवट्ट सूत्र में कहा भी है कि असह्य यातना और नर्मम पीडन की स्थिति में मनुष्य बहुत वेग से विद्रोह कर सकता है। इसलिए जब तक ये प्रत्यक्ष सामाजिक और भौतिक असमानताएँ वर्तमान हैं शांति बिल्कुल ही संभव नहीं है। हम अच्छे-अच्छे कानूनी नियमों को लागू करके मामूली बातें सुना सुना कर उन दोषों को दूर

। कर सकते जिनकी जड़ें प्रत्यक्ष रूप से किसी व्यक्ति की अपराधी प्रवृत्ति
। हो न कर प्रतिदिन के रहन-सहन की उलझी हुई समस्याओं में हो। जब तक
ष्यों और राष्ट्रों पर धन लोलुपता और पदलोलुपता जैसी प्रवृत्तियों का शासन
गा यह सामाजिक असमानता, लोभ, साम्राज्यवादी प्रभुता, जीवन का अमानवी-
रण और इन सबके परिणाम स्वरूप युद्ध वर्तमान रहेंगे। मनुष्य को पदार्थों
। इस निर्मम उपयोगिता को छोड़ना सीखना होगा। इसका एक मात्र हल
ध्यात्मिक उन्नति है। बुद्ध ने बहुत ही बल दे कर कहा है: 'धम्म' का
ान लेनेवाली कोई और वस्तु नहीं हो सकती।

बुद्ध ने धर्म को 'धम्म' कहा है, क्योंकि वे धर्म को सद्वृत्ति का पर्याय ही
मझते थे। धर्म सबसे ऊपर आध्यात्मिक मान्यताओं का बोध है। धर्म
ो जो नाम दिया जाता है उसका महत्व नहीं है, अपितु जरूरी है परम शिव की
ोज। यही कारण है कि इतिहास में सभ्यता में जितने भी परिवर्तन हुए हैं
नको धार्मिक विश्वासों और आदर्शों से जोड़ा गया है। अगर आज की सभ्यता
ी अराजकता को रोकना है तो शेयर बाजार और हाटों, मण्डियों की भौतिक
ान्यताओं के स्थान पर, जो कि आज समस्त मानवता पर छाये हुए हैं, आध्यात्मिक
ान्यताओं की पुन स्थापना की जानी चाहिए।

लेकिन अगर धर्म को वास्तव में ऐसा होना है कि हमारे आनन्द की वृद्धि कर
के तो उसे जीवन के हर पहलू, सामाजिक आर्थिक राजनीतिक और घरेलू सभी
र प्रकाश डालना होगा, वह सिर्फ इतवारों और विश्राम दिवसों पर गिरजा घरों
और मन्दिरों तक ही नहीं सीमित रहेगा। उसको हमारे अस्तित्व की वायु की
तरह आच्छादित कर लेना होगा। व्यक्ति और समूह के लिए अलग-अलग
आचार नहीं हो सकते। आज के मशीन युग की यह बहुत बड़ी 'ट्रेजेडी' है कि
इसमें एक ऐसे गुमनाम 'समूह व्यक्ति' का विकास हुआ है, जिसका कोई सांस्कृतिक
आदर्श नहीं है, और जो अपनी किसी हठवादी स्वार्थपरता द्वारा बताए मार्ग को
छोड़ कर और किसी का अनुसरण करने को तैयार नहीं है। रेडियो, सिनेमा,
राष्ट्रवादी समाचार पत्र आदि सार्वदेशीय माध्यमों के द्वारा जो कि सर्वसाधारण
को कुछ प्रभावित और नियन्त्रण कर सकते हैं, यह बीमारी और भी बढ़ गई है।
धर्म यदि वह सच्चा धर्म है, तो उसे मानव मात्र और सम्पूर्ण सृष्टि के लिए कोई
द्देश्य ढूंढ निकालना चाहिए लेकिन यह उद्देश्य अपने अर्थ में सामान्य व्यक्ति के
पेश होना चाहिए।

अब मनुष्य मात्र का यह धर्म है कि वह कोई हल निकाले। जीवन के
व मार्ग का अनुसरण औचित्य अनौचित्य का ध्यान किए बिना करना होगा।

यही आदर्श युक्ति है। परन्तु यही संबद्धता का भाव जिसकी परिणति ा में होती है, शिक्षा के क्षेत्रों में अच्छी तरह स्थापित किया जाता है। शिक्षा मूल रूप में जीवन कला, वस्तु विन्यास कला का प्रशिक्षण होना है जिससे रे हर काम, हित और कार्यकलाप को उसकी यथार्थ जगह मिल सके। यह ा संसार में वर्तमान प्रमुख अंतरों और विकास और उपलब्धि की उच्चतर .निम्नतर मात्राओं के प्राकृतिक स्तरों को उचित मान्यता तो देगी ही। अंत में एक ऐसी सार्वभौमिक संस्कृति के विकास में सहायक होगी जो इस तथ्य को त रूप से स्वीकार करेगी कि मनुष्य एक ही सत्य की खोज भिन्न-भिन्न भूमियों कर रहे हैं। यह कोई हर एक को उपयुक्त लगनेवाली सिंची-सिंचाई व्यापा- ः संस्कृति न होगी। यह संस्कृति सर्वसमता नहीं एकता प्रधान होगी, मिली ो नहीं समन्वित होगी। यह अतीत में जो कुछ उसके लिए मूल्यवान् है उसकी ा करेगी। परन्तु इसको अपनी दृष्टि भविष्य पर रखनी होगी।

जब हम इन युद्धवादियों के समूह की ओर आंख उठाते हैं तो जो दृष्टि हमारी वों से आकर मिलती है वह भयानक है। लेकिन फिर भी हम हिम्मत न हारें। ार के बहुत से भागों में ऐसे मनुष्य और आन्दोलन हैं जो संसार की शांति और ा के लिए प्रयत्नशील हैं वे पक्षपात और हित के बीच संघर्ष को एक करने के ए सचेष्ट हैं। शायद, कदाचित् नहीं, धर्म ही ऐसे संकलन की सुनिश्चित धारशिला प्रदान कर सकेगा क्योंकि इस शब्द का ही अर्थ होता है 'साथ बांधना'। क नया युग जन्म ले रहा है और हम उसकी प्रसव पीड़ा को देख रहे हैं। विश्व कता अब एक अत्यंत लंबे अनंत भविष्य का स्वप्न नहीं बल्कि ऐसी झांकी बन ई है जो हमारी पहुंच के ही भीतर है।

विवेक की रेल की पटरियों
से दूर, बहुत दूर
उत्तर या दक्षिण, वह चुंबकी पर्वत है
जो नभ को धरती से मिलाता है।

ुम उसे क्यों न ढूंढें?

नये मानवतावाद की ओर

सं० मान्द्रे दत्तो

'पूरब और पश्चिम में सामंजस्य लाना शायद आज की ग्रंथ में बड़ी समस्या इतिहास की उन घटनाओं को देखते हुए जो हमारे सामने हो रही है, और का अभी हाल का यह वक्तव्य अत्याधिक सामयिक जान पड़ता है।

परन्तु यह सामंजस्य जितना अधिक कष्टदायक है, उतना ही यह स्पष्ट जा रहा है कि हम इस पर तभी काबू पा सकते हैं जब हम एक ऐसा मंच ढूंढ़ जो उस से ऊपर उठ जाये। पूरब और पश्चिम में जिन गलतफहमियों के कारण भेद नजर आते हैं, यदि हम उन की तह में जायें तो हमें यह सोचना होगा कि वह हमारे अपने अपने नैतिक उत्तरदायित्वों के अपसमजन के कारण हो है। इस प्रकार हम देखेंगे कि पूरब और पश्चिम के संघर्षों का यह भी एक रूप है, कि राजनीतिक और आर्थिक साधन आध्यात्मिकता से न केवल दबे हैं बल्कि उनके प्रभुत्व में है। आज संसार में शायद ही ऐसा कोई प्रश्न जिसमें 'आध्यात्मिक की प्राथमिकता' इस से अधिक स्पष्ट और आवश्यक हो कोई भी दूसरी बड़ी मानवी समस्या अपने दत्तो अथवा अपने अपेक्षित समाधान दोनों के लिहाज से साररूपेण इतनी अधिक आध्यात्मिक अथवा नैतिक नहीं है। इसलिये जब 'बुद्धिवादी इस समस्या के संपर्क में आते हैं तो उन्हें लगता है कि वे उस क्षेत्र में पहुच गये हैं, जहाँ के कार्य केवल बौद्धिक विलास नहीं बल्कि अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो सकते हैं।

पहले हम पूरब और पश्चिम के आजकल के संघर्षों में जो कठिनाइयाँ हो रही हैं उनके आध्यात्मिक कारणों के सापेक्ष महत्व को निश्चित कर लें।

पिछली शती में यह संबंध इस तथ्य पर आधारित थे कि पश्चिम का क्रियाकलाप पूरब के जीवन पर छा गया था। यहाँ इस प्रभुत्व के ऐतिहासिक महत्व पर जोर डालना अपेक्षित नहीं है बल्कि उस प्रवृत्ति को दर्शाना है जिस से एक ओर से प्रभुत्व की स्थापना की गई और दूसरी ओर से उसे कुछ हद तक स्वीकार कर लिया गया।

पश्चिम ने एक ऐसी सभ्यता के प्रतिनिधि और आचार्य का रूप धारण किया जो वह अपने साथ लाया था और जिसका ज्ञान उसने कराया था तथा उसे

ाश्यकता पड़ने पर निश्चेष्ट प्रतिग्राहकों को अनुग्रहात्मक उदारता के साथ प्रदान ाा या। इसके अलावा उसे (पश्चिम को) इस बात का दृढ़ विश्वास था कि इन पिछड़ी हुई सभ्यताओं को अपनी प्रगति के मार्ग में ला रहा है। ाके विचार में यह वह बौद्धिक प्रगति थी जो उन्हें वैज्ञानिक विभाग की ार ले जानेवाली थी और उनके विज्ञान की प्रगति थी जो उन्हें कार्यान्वित रने की प्रेरणा देती थी। जब उसने रेलें बनाई और बिजली घरों को ाड़ा किया, तो उसके विचार में अपने को तथा अपनी प्रजा को एक ऊंची भ्यता के स्तर पर ला रहा है। इसमें कोई शक नहीं है कि भौतिक सुग-ाधनों, आरोग्य और रहन-सहन की नई सुविधाओं में पर्याप्त प्रगति हुई थी ाससे कि हर कोई शारीरिक लाभ उठा सकता था। यह लाभ भी जिन पर ाौतिकवादी दृष्टिकोण की छाप थी, तकनीक की मद से परे नहीं जाते थे। इन ाभा से कोई आध्यात्मिक सदेश नहीं मिला, इसके विपरीत इसने उन लोगों को ान्होंने अपना मन इस ओर केन्द्रित किया एवं विशेष प्रकार की बौद्धिक क्रिया ालाप की ओर लगा दिया जिसके कारण सामान्य मानव संस्कृति से अलग-अलग ाो गये जिसे कि पश्चिम ने मानवतावाद का नाम दिया है।

असल में जो चीज मानव की एकता और उसकी महानता पर प्रहार करती ाी, उसको प्रगति और मानव का उद्धार समझने की मूलभूत गलती हुई। पश्चिम को एक दिन इस का पता चलना था कि यह गलती ही उसके दुर्भाग्य का कारण है। इससे पूरब के साथ उसके सबधों में द्वेष फैलना था और इन सबधों से पूरबी जीवन में क्रमिक विकास आना था।

पूरब के उन सभी देशों में, जिनको पश्चिम ने जीता, उसके प्रभुत्व का आधार इसकी तकनीकी थी। इसी तकनीकी श्रेष्ठता के कारण उसके शास्त्रों और उसकी अन्य सस्थाओं ने विजय प्राप्त की। परन्तु सब से बड़ी बात यह थी कि इसके कारण पराभूत देशों मे पश्चिम की श्रेष्ठता की धाक जम गई। पूरब ने इसे पहले तो अनिच्छा से सहन किया और फिर सैनिक विजया, विदेशी कानून और जबरन लादी गयी सरकारों आदि सभी चीजों को जो पश्चिम द्वारा लाई गई थी, किसी को भी सहन करना अस्वीकार कर दिया। परन्तु कुछ अपवादों को छोड़ कर उसने रेलवे इंजन, डाइनमो तथा टेलीफोन जैसी वस्तुओं का विरोध नहीं किया। पश्चिम को अब तक विजेता के रूप में स्वीकार न किया गया था परन्तु अब उसकी विजय के साधनों को स्वीकार किया जाने लगा और इन साधनों को उतने ही आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा जितना कि वह स्वयं देखता था। इसका फल यह हुआ कि आखिरकार इस कहानी के अंत में सब विजेताओं के

फलता है मशीनें और यान्त्रिक कारीगरी। इन्ही सफलताओं को वह दूसरो के सामने उदाहरण के रूप में पेश करता है और जिसे वह दूसरो को सिखला सकता है। पूरब उस बात पर गर्व करता है कि उसने अपने खोये समय की (प्रगति के इस सकल्पना के अनुसार ही यह समय खोया हुआ माना जा सकता है) क्षतिपूर्ति कर ली है और इस बात पर विश्वास करता है कि इन्ही सफलताओं के बल पर कोई कौम सभ्य बनती है।

परन्तु भौतिक क्षेत्र मे यदि एक बार तकनीकी की प्रभुता को मान लिया गया तो फिर तकनीकी सभ्यता के प्रचार मे इतनी उदारता और निरपेक्षता नही है कि जिन नौसिखियो ने उसे पूर्ण विश्वास के साथ स्वीकार किया था उन्ही को पछाड़े न दे। भौतिक झगडे उस आध्यात्मिक एकता के, जिसकी हम स्थापना चाहते है, दूसरे छोर पर है। एक ईरानी लेखक श्री रशीद येसमी ने विश्वस्त प्रमाणो से सिद्ध किया है कि पूरब के लोग किस प्रकार अपने रास्ते से भटक जाते है यदि वह यूरोपीय तकनीकी से प्रभावित हो जायें। वे एक हीन भावना के शिकार हो जाते हैं जिस से उन के भाग्य में केवल अनुकरण करना ही रह जाता है। इस प्रकार तकनीकी सभ्यता की मरीचिका के सामने एक बार आत्म समर्पण करने से पूरब बुराई के इस दुस्चक्र में फस गया है।

इस विपत्ति के लिये पश्चिम एक बार नही कई-कई बार जिम्मेदार है। व मे पहले इसने तकनीकी विशिष्टता को सभ्यता की कसौटी माना, फिर यह लत धारणा दूसरो को सिखलाई, और अत में यह दावा किया कि उस क्षेत्र में उसकी श्रेष्ठता को पहुचा नही जा सकता। और यहां हम उन स्वार्थ भरे प्रयो-नों को तो लेते ही नही जो उस तर्क की गहराई म थे। जहाँ तक पूरब का म्बन्ध है उसको इस बात पर अचभा होता है कि पश्चिम जिस बात को स्वय करने का इच्छुक है, उस बात को उसे करने का मौका देता ही नही। परन्तु पूरब जब इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेगा तो वह उस अवस्था को पहुच जायेगा जो कि आज यूरोप की है। और आज यूरोप की सभ्यता मौत के द्वार पर खड़ी है।

एक से अधिक विचारको ने इस बुराई का अनुभव किया है जो कि एक गलती की छूत लग जाने से सारे ससार में फैल गई है।

इस सबध में हम लार्ड पोर्टसमथ के मतव्य को उद्धृत करते है जो कि उन्होने अपनी पुस्तक 'मृत्यु या विकल्प' में दिया है

'हमने पूरब देशो पर सदिग्ध विदेशी तकनीकों और आदर्शों को अभिमान-पूर्ण लादने का भागी अपराध किया है आध्यात्मिक दृष्टि से हम प्राचीन विरासतों के नाश करने वाले .और इस के लिये हमें आसानी से माफ

नहीं किया जायेगा। यद्यपि हमारे विजेता होने के तथ्य को भुना सकता है।'

तो फिर क्या हमें आज की व्यवस्था को बिलकुल उलट देना चाहिये आध्यात्मिक जीवन का पुनरुत्थान हो और तकनीकी सभ्यता को उसके पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करना पड़े। यह प्रश्न इतना सरल नहीं है कि दिखाई देता है क्योंकि यहाँ हमें मानवी समस्याओं का सामना करना है और भावात्मक मूल्यों का। मेरे विचार में इस बात को डा० तेरिंग ने नी पंक्तियों में सुन्दर ढंग से कहा है :

'आधुनिक काल की अत्यंत आवश्यक समस्या मनुष्य द्वारा ऐसे मानव वि की स्थापना किये जाने की है जो केवल मानव रूपी पशु का ही विज्ञान न हो ब पूर्ण मानव का विज्ञान हो जिसमें उसके सभी आध्यात्मिक मूल्यों का व्यक्ति और सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया हो। मनुष्य ने हाल ही पदार्थ से इस की विश्वव्यापी शक्तियों का रहस्य जान लिया है। जब तक ही साथ वह उसी उत्साह के साथ अपनी खोज की ओर न लग जायेगा, जि वह अपनी चेतना में ज्ञान और प्रेम की निहित शक्तियों को सचालित कर सके यदि पदार्थ पर उसकी विजय केवल आतंक और मृत्यु का बीज ही बो रहे मानवता का अंत निश्चित है।'

इसलिये यह समस्या तो विश्वव्यापी है। यह किसी एक विरोध को निप अथवा पूरब और पश्चिम को दो विरोधी संसार मान कर उन में संतुलन स्थापि करने का प्रश्न नहीं है। यह तो उन दोनों के लिये है जो कि एक ही सतरे गुजर रहे हैं और उनका भाग्य भी एक जैसा ही है तथा उनके सामने पूर्ण औ असल मानवतावाद को फिर से विजय करने की एक सी समस्या है। यदि उनक इस कार्य में सफल होना है तो पूरब और पश्चिम को एक ही मार्ग अपनाना होग जो उन की सामान्य गलती से उलटी दिशा की ओर जायेगा।

पहले पूरब को लें जो अपेक्षाकृत कम गलती पर है, क्योंकि इसने यह मा हाल में ही और पश्चिम के संसर्ग से अपनाया है। किसी भी सूरत में उसके उन भीषण तत्वों को जो आजकल की राजनीतिक और सामाजिक शक्ति का आधार है, सभ्यता के असंदिग्ध सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार करना छोड़ देना चाहिए (श्री अरविन्द ने आन्ध्र विश्वविद्यालय में ११ दिसंबर १६४८ को संदेश देते हुए एशिया की महान सभ्यता अर्थात् भारत को जो चेतावनी दी थी, इस से अधिक उपयुक्त इस विषय की व्याख्या मिलनी कठिन है

'भारत के सामने और भी गहरे मसले हैं क्योंकि कुछ आकर्षक निर्देशों का पालन करके संभव है कि दूसरे राष्ट्रों की तरह वह प्रचुर उद्योग और व्यापार सम

प्रप्त कर ले, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की एक शक्तिशाली संस्था बना ले, बहुत भारी सैन्यबल बना ले, बल के आधार पर चलनेवाले अधिकारों की रक्षा कर ले और उन्हें बढ़ा ले और संसार के एक बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व भी जमा ले। परन्तु जाहिर तौर पर इस शानदार प्रगति में वह अपना धर्म और अपनी आत्मा को खो बैठेगा। तब प्राचीन भारत और उसकी आत्मा बिलकुल मर चुकी होगी और फिर यह अन्य राष्ट्रों से केवल एक राष्ट्र हो जायेगा, जिस से न तो संसार को ही कुछ लाभ होगा और न हमें ही। यह प्रश्न उठता है कि क्या वह बाहरी जीवन में अधिक समृद्ध होकर परन्तु अपने आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान को, जो कि इस की पुरानी संपत्ति है, खो कर निर्दोष रूप से प्रगति कर सकता है। यदि भारत उस समय जब कि बाकी संसार आध्यात्मिक सहायता व जीवनरक्षक प्रकाश के लिये अधिकाधिक उत्सुक हो रहा है, अपनी आध्यात्मिक परम्परा को त्याग देगा तो यह एक अत्यंत दुखद घटना होगी।'

यह चेतावनी पूरब के दूसरे राष्ट्रों और दूसरी सभ्यताओं पर भी लागू होती है। इस उद्धरण की अंतिम पंक्तियां इस स्वस्थ प्रवाह की द्योतक हैं जो कि सर्वप्रथम भारत से और लगभग सारे पूरब से पश्चिमी विचारकों की ओर जा रहा है और यह पांडित्य प्रदर्शन की लहर नहीं है जैसा कि पूरब के विज्ञान में आज तक पाया जाता था बल्कि यह तो एक सक्रिया दर्शन है जो कि दोनों की आध्यात्मिक प्रगति के लिये आपसी संसर्ग के अनुकूल है।

यदि मैं यहाँ संसर्ग का जिकर करता हूं तो इसलिये कि अब समय आ गया है जब बता दिया जाय कि पश्चिम को केवल अपनी पिछली गलतियों का प्रायश्चित ही नहीं करना है और न केवल पूरब की आध्यात्मिक श्रेष्ठता के आगे सिर झुकाना ही है जिसे वह समझ नहीं पाया था, बल्कि उसे आध्यात्मिक क्रांति की ओर जो हमें संकेत कर रही है इस से अधिक अंशदान देने हैं। हमें एक बार फिर विरोधों को भूल जाना चाहिये और मिलते जुलते तत्वों को ढूंढना चाहिए। पश्चिम ने जो भूल की थी, सब से पहले वह स्वयं इस का शिकार बना। इस गलती से उन साधनों का ह्रास हुआ जो उसके पास थे। इन साधनों की इसने उपेक्षा की है, उन पर बट्टा लगाया है। फिर भी उनका आदर के साथ पुनर्स्थापन हो सकता है। चूंकि आज के संसार की सब बुराइयों का उत्तरदायित्व पश्चिम पर है इसलिये सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर हमें विचार करना है वह यह है कि यह अपने आप को दोबारा कैसे पा सकता है।

परन्तु यह बात हमें अच्छी तरह जान लेनी चाहिये कि ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसके आधार पर हम यह न समझ लें कि पश्चिम में कोरे भौतिकवाद और पूरब में केवल आध्यात्मिकता का राज्य है। हम इन बातों को जरा खरन बनाने के लिये मजबूर हुए हैं। यह कहना सच्चाई के अधिक निकट होगा कि

नहीं किया जायेगा। यद्यपि हमारे विजेता होने के तथ्य को भुला सकता है।'

तो फिर क्या हमें आज की व्यवस्था को बिलकुल उलट देना चाहिये आध्यात्मिक जीवन का पुनरुत्थान हो और मशीनी सभ्यता को उसके पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करना पड़े। यह प्रश्न इतना सरल नहीं है कि दिखाई देता है क्योंकि यहाँ हमें सारी समस्याओं का सामना करना है कोरे भावात्मक मूल्यों का। मेरे विचार में इस बात को डा० हेरिंग ने नी पंक्तियों में सुन्दर ढंग से कहा है :

'आधुनिक काल की अत्यन्त आवश्यक समस्या मनुष्य द्वारा ऐसे मानव वि की स्थापना किये जाने की है जो केवल मानव रूपी पशु का ही विज्ञान न हो व पूर्ण मानव का विज्ञान हो जिसमें उसके सभी आध्यात्मिक मूल्यों का व्यक्ति और सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया हो। मनुष्य ने हाल ही पदार्थ में इस की विश्वव्यापी शक्तियों का रहस्य जान लिया है। जब तक ही साथ वह उसी उत्साह के साथ अपनी खोज की ओर न लग जायेगा, जि वह अपनी चेतना में ज्ञान और प्रेम की निहित शक्तियों को सचालित कर सके यदि पदार्थ पर उसकी विजय केवल मानव और मृत्यु का बीज ही बो सके मानवता का अंत निश्चित है।'

इसलिये यह समस्या तो विश्वव्यापी है। यह किसी एक विरोध को निरा अथवा पूरब और पश्चिम को दो विरोधी ससार मान कर उन में सतुलन स्थापि करने का प्रश्न नहीं है। यह तो उन दोनो के लिये है जो कि एक ही सकट गुजर रहे हैं और उनका भाग्य भी एक जैसा ही है तथा उनके सामने पूर्ण को असल मानवतावाद को फिर से विजय करने की एक सी समस्या है। यदि उनक इस कार्य में सफल होना है तो पूरब और पश्चिम को एक ही मार्ग अपनाना होग जो उन की सामान्य गलती से उलटी दिशा की ओर जायेगा।

पहले पूरब को लें जो अपेक्षाकृत कम गलती पर है, क्योंकि इसने यह मार्ग हाल में ही और पश्चिम के ससर्ग से अपनाया है। किसी भी सूरत में उसको उन भीषण तत्वो को जो आजकल की राजनीतिक और सामाजिक शक्ति का आधार है, सभ्यता के असदिग्ध सिद्धान्तो के रूप में स्वीकार करना छोड़ देना चाहिए (श्री अरविन्द ने आन्ध्र विश्वविद्यालय में ११ दिसबर १९४८ को सदेश देते हुए एशिया की महान सभ्यता अर्थात् भारत को जो चेतावनी दी थी, इस से अधिक उपयुक्त इस विषय की व्याख्या मिलनी कठिन है.

'भारत के सामने और भी गहरे मसले हैं क्योंकि कुछ आकर्षक निर्देशो का पालन करके सभव है कि दूसरे राष्ट्रों की तरह वह प्रचर उद्योग और व्यापार खड़ा

ले, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की एक शक्तिशाली संस्था बना ले, इत भारी सैन्यबल बना ले, बल के आधार पर चलनेवाले अधिकारों की रक्षा र ले और उन्हें बढ़ा ले और संसार के एक बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व भी जमा ले। रन्तु ज़ाहिर तौर पर इस शानदार प्रगति में वह अपना धर्म और अपनी आत्मा को ो बैठेगा। तब प्राचीन भारत और उसकी आत्मा बिलकुल मर चुकी होगी ौर फिर यह अन्य राष्ट्रों से केवल एक राष्ट्र हो जायेगा, जिस से न तो संसार ो ही कुछ लाभ होगा और न हमें ही। यह प्रश्न उठता है कि क्या वह बाहरी ीवन में अधिक समृद्ध होकर परन्तु अपने आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान को, ो कि इस की पुरानी संपत्ति है, खो कर निर्दोष रूप से प्रगति कर सकता है। दि भारत उस समय जब कि बाकी संसार आध्यात्मिक सहायता व जीवनरक्षक वराग के लिये अधिकाधिक उत्सुक हो रहा है, अपनी आध्यात्मिक परम्परा को त्याग देगा तो यह एक अत्यंत दुखद घटना होगी।'

यह चेतावनी पूरब के दूसरे राष्ट्रों और दूसरी सभ्यताओं पर भी लागू होती है। इस उद्धरण की अंतिम पंक्तियां इस स्वस्थ प्रवाह की द्योतक हैं जो कि सर्व-प्रथम भारत से और लगभग सारे पूरब से पश्चिमी विचारकों की ओर जा रहा है और यह पांडित्य प्रदर्शन की लहर नहीं है जैसा कि पूरब के विज्ञान में आज तक पाया जाता था बल्कि यह तो एक सक्रिया दर्शन है जो कि दोनों की आध्यात्मिक प्रगति के लिये आपसी संसर्ग के अनुकूल है।

यदि मैं यहां संसर्ग का जिकर करता हूं तो इसलिये कि अब समय आ गया है जब बता दिया जाय कि पश्चिम को केवल अपनी पिछली गलतियों का प्रायश्चित ही नहीं करना है और न केवल पूरब की आध्यात्मिक श्रेष्ठता के आगे सिर झुकाना ही है जिसे वह समझ नहीं पाया था, बल्कि उसे आध्यात्मिक क्रांति की ओर जो हमें संकेत कर रही है, इस से अधिक अंशदान देने हैं। हमें एक बार फिर विरोधों को भूल जाना चाहिये और मिलते जुलते तत्वों को ढूंढना चाहिए। पश्चिम ने जो भूल की थी, सब से पहले वह स्वयं इस का शिकार बना। इस गलती से उन साधनों का ह्रास हुआ जो उसके पास थे। इन साधनों की इसने उपेक्षा की है, उन पर बट्टा लगाया है। फिर भी उनका आदर के साथ पुनर्स्थापन हो सकता है। चूंकि आज के संसार की सब बुराइयों का उत्तरदायित्व पश्चिम पर है इसलिये सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर हमें विचार करना है वह यह है कि वह अपने आप को दोबारा कैसे पा सकता है।

परन्तु यह बात हमें अच्छी तरह जान लनी चाहिये कि ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसके आधार पर हम यह न समझ लें कि पश्चिम में कोरे भौतिकवाद और पूरब में केवल आध्यात्मिकता का राज्य है। हम इन बातों को ज़रा सरल बनाने के लिये मजबूर हुए हैं। यह कहना सच्चाई के अधिक निकट होगा कि

पश्चिम ने पूर्व पर जो सिद्धान्त लादे वह उन्नीसवीं शती के थे। और वह सिद्धांत पश्चिम की, और विशेष कर फ्रांस की उस प्रवृत्ति से बिलकुल भिन्न थे जो कि बीसवीं शती के महत्वपूर्ण आध्यात्मिक पुनर्जागरण के समय वहाँ पाई जाती थी।

भौतिकवाद हमें मृत्यु की ओर ले जाता है और आध्यात्मिकता उस से बचाती है। इस मतभेद का विचार बड़े नाटकीय ढंग से परन्तु दुःखद परिणाम के स्वर लिये पश्चिम के बिलकुल हृदय के समीप चल रहा है। इस बात की पुष्टि फ्रांस की कई एक प्रसिद्ध नवीनतम रचनाओं से होती है जैसे कि बर्नानोस की पुस्तक 'रोबटों के विरुद्ध फ्रांस' और सिमोन वाइल की पुस्तक 'मूलस्थापना'।

जब पश्चिम के विचारक इस समस्या को सुलझाने लगते हैं तो वह जल्दी में बिना सोचे समझे विज्ञान की सफलताओं को स्वीकार नहीं करते और न ही उन को जीवन तथा आत्मा का विरोधी बतलाते हैं। वह विचारकों का ध्यान इस कथन की ओर दिलाते हैं जो आज से पहले कभी नहीं किया गया था, कि यह बौद्धिक सफलताएं आत्मा की उपेक्षा करके प्राप्त की गई थी और विजयोन्मुख बुद्धियों ने आत्मा के बारे में ध्यान देना स्वीकार ही नहीं किया था। उनका कथन है कि इन सफलताओं से मानव को जो हानि पहुंचती है उसका कारण यह है कि मनुष्य में जो आवश्यक तत्व है उनकी उपेक्षा की जाती है। अब प्रश्न यह है कि भौतिक प्रगति में किस प्रकार आध्यात्मिकता का पुनर्स्थापन किया जाय ताकि वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अमानवीय न रह जाय।

इस बात को एलबर्ट कामुस ने अपनी नवीनतम पुस्तक 'विद्रोही मनुष्य' में बड़े अच्छे ढंग से पेश किया है। कामुस के शब्दों में 'पुराने तकनीक को फिर से अपनाना व्यर्थ है। चर्खे का युग बीत चुका है और दस्तकारी पर आधारित सभ्यता के सपने लेना निरर्थक है। मशीन का जिस ढंग से आजकल प्रयोग हो रहा है वह बुरा है। हमें इसके लाभ अवश्य उठाने चाहिये चाहे इसके विध्वंसक तत्वों को हम अस्वीकार कर दें। जिस मोटर लारी को उसका चालक दिन-रात चलाता है वह उसको लज्जित नहीं करती, क्योंकि वह उसके पुर्जे-पुर्जे को जानता है और उसका बड़े चाव तथा दक्षता से प्रयोग करता है। असली, अमानवीय अति श्रम के विभाजन में है, परन्तु इसी अति के कारण ही, एक दिन ऐसा आयेगा जब एक ही मनुष्य की देखरेख में एक मशीन सौ प्रकार का काम करते हुए एक पूरी चीज तैयार कर देगी। किसी हद तक वह मनुष्य कारीगर के रूप में उसकी जो उत्पादक शक्ति थी, उसको एक दूसरे स्तर पर फिर से पा लेगा। इस प्रकार उत्पादक स्रष्टा के अधिक निकट आ जायेगा।'

परन्तु यह तो एक भीरुता से भरी आशा है जिसका मुख्य आधार यह है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिये मशीन का विकास होगा। क्या मनुष्य अपनी स्वाधीनता तथा गौरव को जीतने के लिये अपनी सूझ-बूझ से इसमें कोई अच्छा ढग नही निकाल सकता।

आत्मा हीन पदार्थ जिसकी यन्त्रणाओ में वह फँस गया है, उसपर इसी लिये अपना प्रभुत्व जमा रहा है, क्योकि उसने इसको ऐसी बौद्धिक शक्ति से जीवित किया है जो कि स्वय आत्माहीन है। जैसे ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया है उसी तरह मनुष्य ने जो कि अपने को इस ससार का देवता समझने लगा है, मशीन को अपने अनुरूप ही बनाया है और उसको वह सब शक्तियाँ सौंप दी हैं जिनको वह अपने देवत्व के रूप में पा सका है। यह यन्त्रचालित मानव अपनी असीम शक्ति से अपने ही कर्त्ता मानव रूप भगवान के विरुद्ध हो गया है जिससे कि वह अपनी शक्ति हासिल करता है। इस तरह उसकी तुलना फरिश्ते लूसीफर से की जा सकती है जिसे ईश्वर ने अपना विशिष्ट जीव माना था और जो अपने कर्त्ता के ही विरुद्ध खड़ा हो गया।

इसलिये पश्चिम के आज के इस नाटक के पीछे जो तथ्य है वह यह है कि पश्चिम की बुद्धि पथ-भ्रष्ट हो गयी है और अपनी आत्मा को उसने खो दिया है या कम-से-कम उसकी उपेक्षा की है। परन्तु यदि हम पश्चिम के इस रास्ते से भटक जाने के प्रश्न पर विचार करें, तो हमें इस तथ्य का सामना करना पड़ेगा कि हम यूरोप की पिछली चार शतियों की समस्त सभ्यता पर आक्षेप कर रहे हैं, और यह सभ्यता मानवतावादी सभ्यता है।

इस तथ्य का अनुभव कई विचारकों ने किया है और उन्होंने पश्चिम की आज की सभी समस्याओ तथा उनसे उत्पन्न होने वाली सभी बातो का अध्ययन करना आरम्भ किया है विशेषकर आन्द्रे मालरो ने अपनी नवीनतम पुस्तक 'कला का मनोविज्ञान' और 'मौतुर्ने' म। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो इस काल में, जिसे कि अभिमानपूर्वक पुनरुत्थान काल कहा जाता है, मानवतावाद का जन्म उस मानव का जन्म था जो बिना किसी सहायता के केवल अपनी शक्ति के सहारे और विशेष कर विवेक के बल पर सारे ससार पर राज्य करने के सपने लेता था। मिसेलेट ने लिओनार्डो दा विची को 'सभी चीजों म महान् शक्तिशाली' आदमी कहा है। जब अट्ठारवी शती म मानव ने भावात्मक और अशारीरिक तर्क पर अपना शासन जमाना चाहा तो यह उस मार्ग पर पहला कदम था। इसम कोई शक नही कि पश्चिम की मानवतावादी आत्मा एकदम नही बुझ गयी, परन्तु जो काम पश्चिम ने फौरन ही किया वह थी पिछली सभ्यताओ की

आध्यात्मिक शक्ति तथा उसकी अभिव्यक्ति का परित्याग। इसका कारण यह था कि उसकी प्रगति का जो सिद्धान्त माना था, उसकी प्रेरणा व निहित शक्ति मानव के विवेक पर आधारित थी। इस सिद्धान्त के आधार पर पश्चिम ने संसार के सामने यह विचार प्रस्तुत किया (और अभी तक वह इससे मुक्त नहीं हुआ है) कि जो कुछ भी पुरातन है वह अविकसित है और जो कुछ भी आधुनिक है वह प्रगति का द्योतक है। इस प्रकार उसने सभ्यता का आरम्भ उस समय से माना जब मानवी विवेक ने अपना प्रभुत्व जमाया और पुराने समय की उन सभी चीजों को नीचे धकेल दिया जो बुद्धि-सगत नहीं थीं। इस प्रकार महान् आध्यात्मिक सभ्यताओं को बाहर निकाल फेंका गया, क्योंकि जब एक बार विवेक की प्रभुता की स्थापना हो गयी तो आत्मा का राज्य समाप्त हो गया।

श्री अरविन्द के एक कथन को, जिसमें इस पथ-भ्रष्टता का एक दर्शनीय उदाहरण मिलता है, मैं एक बार फिर उद्धृत करता हूँ। यह उद्धरण 'रहस्यमय अग्नि का सूक्त' (पांडीचेरी, १९४८) की भूमिका में से है, जिसमें बताया गया है कि पश्चिमी बुद्धिवाद ने किस प्रकार वेदों को गलत समझा। इससे यह साफ पता चलता है कि यह गलतफहमी किस हद तक पहुँच गयी थी।

वेदों में रहस्यवादिता की परम्परा जो कि भारतीय सभ्यता, धर्म, दर्शन व संस्कृति की आधार है, ऐतिहासिक तथ्यों के अधिक अनुरूप है न कि यूरोप के विद्वानों द्वारा उसके निराकरण के। उन्नीसवीं शती के यूरोपीय विद्वान् भौतिक-वादी बुद्धिवाद के काल में यह कह रहे थे कि जाति का इतिहास आदिम बर्बरता या अर्ध-बर्बरता की दशा में प्रारम्भ होता है और उस समय उनका सामाजिक व धार्मिक जीवन अभी अमार्जित दशा में था और अंधविश्वासों से भरा था। फिर बुद्धि और विवेक, कला, दर्शन, विज्ञान और एक स्पष्ट, स्वस्थ्य और पदार्थ-वादी बुद्धि के विकास से सभ्य संस्थाओं, आचारों और व्यवहार की स्थापना हुई। वेदों के बारे में जो पुराने विचार थे वे इस तर्क लहरी में नहीं समा सकते थे। अत इसको भी पुराने अंधविश्वासी विचारों और प्राचीन गलती का एक भाग माना गया। परन्तु अब हम मानव जाति के विकास के बारे में अधिक शुद्ध विचार अपना सकते हैं। पुरानी और अविकसित सभ्यताओं में ही बाद के विकास के बीज थे, परन्तु उनके पुराने विचारक वैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा विशेष बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति नहीं थे। वे तो रहस्यवादी, बल्कि रहस्यमय व्यक्ति, गुप्तविद्या के उपासक या धर्म के साधक थे और वे बाहरी ज्ञान के इच्छुक नहीं थे बल्कि पदार्थों के पीछे रहस्यमय सत्य के खोजनेवाले थे। वैज्ञानिक और दार्शनिक तो बाद में आये, उनसे पहला रहस्यवादी था। वे या तो पाइथागोरस और प्लेटो की तरह स्वयं रहस्यवादी थे या अपने अधिकतर विचार रहस्यवादियों से लेते थे।'

यह शब्द इतने स्पष्ट और प्रखर है कि इससे हमें इस सकट का हल ढूंढने में सहायता मिलेगी जिसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है।

एक शब्द में इसे मानवतावाद की सकट स्थिति कह सकते हैं।

मानव ने जिन चीजों का अविष्कार किया है, उन पर उसका नियन्त्रण नही रहा। इसलिये उसकी तुलना जादूगर के शिष्य से की जाती है। परन्तु यह तुलना ठीक नही है। आधुनिक मानव न तो जादूगर ही है और न शिष्य ही। स्वय मानव ने ही आध्यात्मिकता से बिलकुल अलग हो कर एक कोरे बुद्धिवादी व भौतिकवादी विज्ञान का विकास किया और फिर जिस प्रभुत्व की उसे लालसा थी और जिसका उसे दावा था उसने तार्किक परिणाम तक पहुँचा दिया। ऐसा करने से उसने उस सस्कृति की अक्षमता को दिखा दिया जिसकी सबसे बडी शोभा यह विज्ञान ही था। यह सस्कृति सकुचित थी और अपने क्षेत्र में सम्पूर्णता का अभिमान भरा दावा करती थी, परन्तु अपने को मानवतावाद (जैसा कि वह अपने को कहती थी) कहलाने के योग्य न थी।

चार शताब्दियों से, जिसको पश्चिम के लोग मानवतावाद कहते आये थे वह असल में बाकी जीवन की उपेक्षा करके अपनी बौद्धिक क्रिया द्वारा मानव को अपना तथा सारे ससार का स्वामी बनने की उत्कठा थी। इस प्रकार उसने अपनी सार्वभौमिकता का दावा किया और साथ ही साथ जान-बूझ कर अपनी शक्तियों के चुनाव द्वारा उसे हासिल करने की क्षमता का जिसको उसने पूर्ण मान का क्षेत्र कहा है। वह ऐसे मानव द्वारा समस्त ससार के बारे में चिन्तन था जो स्वय अपने ही एक भाग में सीमित है। यदि हमें मानवतावाद की कल्पना को ठीक करना है और उसके अर्थों को विस्तृत करना है, तो हमें इस गलती का अवश्य ही सुधार करना होगा।

विज्ञान को नष्ट करने का प्रश्न ही नही उठना और न ही उसके कारनामो से मुंह मोडा जा सकता है, इन कारनामों का तो उसे श्रेय मिलना चाहिये। विशेष कालो में और विशेष स्थानो पर पश्चिमी मानवतावाद ऐसे कारनामो का क्षेत्र रहा है, जिनकी शाश्वत उपयोगिता रहेगी। परन्तु अब उस अनन्यता को स्वीकार नही कर सकते जिससे मानव के भविष्य की दशा एक ऐसे क्षेत्र से बँध जाती है, जिसे स्वेच्छा से उसने मानव का राज्य कह दिया है। यदि मानवतावाद का अर्थ मानवी प्रवृत्ति है, तो मानवतावाद का आरम्भ सोलहवी शती से नही हुआ। केवल भूमध्य सागरीय यूरोप ही इसका स्थायी स्थान नहीं है और न ही ग्रीक-रोमन पुरातनता के विशेष विचार उसका अकेला स्रोत। और विशेषकर जहाँ तक यूनान का सबध है वह प्राचीन ससार की मूल वास्तविकता के कम

अनुरूप है, परन्तु ढग भिन्न के अधिक अनुरूप है जिसकी रूप-रेखा पुनर्जागरण काल के मानव ने अपने ही दर्पण में देखी थी। इसके विपरीत यदि आधुनिक पश्चिमी मानवतावाद को उन सीमाओं में बाँध दिया जाय, जो कि उसके लिये आवश्यक है तो आज का सकट न तो हमें असमाधनीय ही लगेगा और न एक अवश्यम्भावी विपत्ति। यदि हम मानव के विवेक को एक परम तत्व मानते रहेंगे तो यह विपत्ति भी परम रूप धारण कर लेगी। परन्तु आज मानव ऐसा अपरिमित और रूढ़िगत दावा नहीं करता और अब उसे अपनी सच्चाई व शक्ति का पूरा ज्ञान है।

चार शतियों तक विश्लेषण द्वारा अपना तथा अन्य सब चीजों का उच्छेदन करने के प्रयत्नों के बाद अब मानव आत्मा को पुनर्जीवित करने के लिये सश्लेषणात्मक ढग अपना रहा है। इस ढग से हर मूल्य का ससार के सभी भागों में तथा इतिहास के सभी कालों में न केवल फिर से उपयोग होने लगेगा, बल्कि श्रेणीबद्ध व्यवस्था में इसका स्थान भी फिर से निश्चित हो जायेगा। यह मूल्य चाहे पूरब के हों अथवा पश्चिम के, वे दोनों अब तक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होंगे और एक नये मानवतावाद की स्थापना के लिये एक बिन्दु पर मिलेंगे। और यह नया मानवतावाद हमें विश्वव्यापकता की ओर ले जायगा। परन्तु इसका आधार उसका भीतरी तर्क होगा न कि उसके सदिग्ध दावे। यह अरविन्द के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है। उन्होंने जो वेदो के सबध में कहा है उनमें तथा रोमनेस्क कला के बारे में सिमाने वाइल, के मत में, और प्राचीन मिश्र के धार्मिक दर्शन के बारे में अलेग्जैन्द्र वारिय्य की खोज में, तथा अफ्रीकी नगरो के धर्म के बारे में मार्सल ग्रिओल के विचारो में अनुकूलता है।

जल्दी में गढ़े गये पर्यायवाची शब्दो की खिचडी द्वारा इन भिन्न आध्यात्मिक सभ्यताओं को और उलझा देने से कोई लाभ नहीं। आज हमें उस आवेग की आवश्यकता है जिससे मन के जीवन को उन सीमाओं से मुक्ति मिले जो कि पश्चिमी दृष्टिकोण ने उसके लिये बाँध दी थी। इस नये मानवतावाद का तत्व यह होगा कि पश्चिमी बुद्धि द्वारा शासित जीवन और कार्य पद्धतियो से चिर-परित्यक्त आध्यात्मिक क्षेत्र को फिर से पाने के लिये अपनाया जायेगा। इस प्रकार मानवता को सभावनाओं और अनाधिकृत चेष्टाओं से उत्पन्न खतरो में डालने की बजाय, ऐसे मानव की सेवा करने के लिये जो कि पूर्ण है, बौद्धिकता को अपनी सारी शक्ति और सावधानी की आवश्यकता होगी, ऐसा मानव नहीं जिसकी बौद्धिकता ने उसे भौतिकता में धकेल दिया हो, परन्तु वह ऐसा मानव जो अपने रहस्य को अपनी चेतना के सामने लाने के लिये अपने शरीर व आत्मा मे एक होगा।

हमारा विश्वास है कि यदि ऐसा मानवतावाद अस्तित्व में आ जाय, तो वह बहुत सी चीजें जो पूरब और पच्छिम को अलग-अलग करती हैं समाप्त हो जायेगी और जो चीजें उनको अथवा सारी मानव जाति को मिलाती, वे उत्पन्न होगी। इस लेख के आरम्भ में हमने जिन मतभेदो और गलतफहमियो के कारणो की चर्चा की है, वे सब समाप्त कर दिये जायेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि पूरबी राष्ट्रो की मुक्ति तभी हो सकती है जब मानव की आध्यात्मिक प्रकृति की आम मुक्ति हो—और इस मुक्ति की पच्छिम को कोई कम आवश्यकता नही है।

अन्त में हमें इस तथ्य का सामना करना चाहिये कि जिस बात पर प्रश्न उठता है वह एक महान् भ्रान्ति है। पच्छिम—विशेषकर फ्रास की प्रतिभा की प्रेरणा से—पहले ही इसके लिये वचन-बद्ध है। बीसवी शती के पूर्वार्द्ध में फ्रास के मुख्य और मौलिक लेखको, कवियो, कलाकारो तथा विद्वानो ने जो रुख अपनाया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है। फिर भी इसमें कोई सदेह नही कि कई विचार-प्रणालियो में परिवर्तन लाना आसान नही और कुछ मूल्यो के नये वर्गीकरण से लोगो को बहुत आश्चर्य होगा। इसलिये यह एक और कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर-महाद्वीपीय और अन्तर-साम्प्रदायिक विचारको को इकट्ठा होना चाहिये ताकि वे मिल कर ऐसे आध्यात्मिक आधार तैयार करें, जहाँ सामान्य सच्चाइयां मिल कर एक हो सकें।

मनुष्य की संकल्पना : पूरब-पच्छिम के देशों में

जाक दएप्फ

पूरब और पच्छिम की मनुष्य संबंधी कल्पनाओं की तुलना करने के पूर्व पहला प्रश्न यही उठता है, क्या पच्छिमी मनुष्य और पूरब में उसके प्रतिरूप में विशेषकर उनकी चिंतन प्रणाली में कोई भेद है या नही ?

वे सब पच्छिमी लोग जिन्होंने पूरब के लोगों के साथ काम किया है, पलभर भी हिचकिचाये बिना यह कह देंगे कि कुछ मोटी बातों को छोड़ कर सारी प्रणाली वही है। एक ही तरह की शिक्षा-दीक्षा और सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच पूरबी मनुष्य में उसी प्रकार की प्रतिक्रिया होगी जैसी कि किसी पच्छिमी मनुष्य में। उसकी 'विवेक शक्ति' के एक जैसे लक्षण हैं और उसके परिणाम भी एक ही होने हैं।

क्या इससे हमको यह परिणाम निकालना चाहिए कि आध्यात्मिक स्तर पर पूरब और पच्छिम में कोई भेद नही है ? मेरी राय में यह बहुत बडी गलती होगी।

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि कुछ बुनियादी प्रश्नों को हल करने के ढंग में ही बहुत बडा भेद है। यह भेद मानसिक क्रिया में अन्तर होने के कारण नही, बल्कि इस तथ्य के कारण है कि जिन 'विचार-समूहों' पर दोनो सभ्यताएँ आधारित हैं वे एक सामान्य स्थान से पृथक्-पृथक् हो जाने के कारण भिन्न भिन्न मार्गों पर ही बढती गई हैं[1]।

'पृथकता का सामान्य स्थान' से मेरा आशय है चिन्तन का वह आधार, जिस पर मनुष्य, बाह्य जगत को जानने के पहले अपने विचार जगत को ही पा लेता है।

मैं समझता हूँ कि यह निर्विवाद ही है कि प्राचीन सभ्यताएँ अपनी समस्त तेजस्विता के लिए बाह्य जगत की अपेक्षा मननशील व्यक्ति के अन्तर्जगत पर अधिक ध्यान देती रही है। विचारक अपने विचारों में पूर्णतया लीन हो कर

---

१ मैंने यह विचार समूह शब्द गणित और मास्य की विज्ञानों से, विशेषकर पियर आगर (पन्नमरियन) की *L'homme Microscopique* से लिया है।

बाह्य जगत की ओर से आँखें बिल्कुल ही बन्द कर लेता है और इस प्रकार सत्य के अधिकारी तत्व से, एक मात्र सच्चा ज्ञान निकाल लेने का प्रयास करता है, जो अतीन्द्रिय जगत के ज्ञान हैं। इस ज्ञान की वस्तु दैवी श्रुति द्वारा या ऐसे 'विचारों' द्वारा प्राप्त होती है, जिनको प्रजापति ने मनुष्य की प्रज्ञा के लिये गम्य बना दिया है।

क्या अरस्तू ने विचार को 'विचार का विचार' नहीं कहा था। और अलेक्ज़ेंड्रिया के क्लमेंट के मत से पूर्ण ज्ञान का संबंध उससे नहीं है, जो ब्रह्माण्ड के परे है और जिसको केवल प्रज्ञान से ही जाना जा सकता है और उन वस्तुओं से है जो इनसे भी अधिक आध्यात्मिक हैं[1]।

पूरब और पच्छिम की दार्शनिक और अधिदार्शनिक प्रणालियाँ आज भी सभी आदिम मनुष्यों की प्रणालियों की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान के इसी आधार पर टिकी हुई हैं[2]।

यही दोष प्रवृत्ति अरस्तू और अन्य मध्ययुगीन पंडितों के सिद्धान्तों में विस्तृत और व्यवस्थित हो कर पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है।

गिल्सन का कथन है 'मध्ययुगीन' पांडित्यवाद की अरस्तूवादी भौतिकी में यह स्पष्ट बताया है कि अगर हमारी इन्द्रियजन्य भावनामय अनुभूतियाँ ठोस पदार्थ होतीं तो इस सारे जगत का क्या रूप होता। हमने प्रारम्भिक युग में यह जो कल्पना कर ली थी कि हमारी अव्यवस्थित मानसिक अनुभूतियाँ ही वास्तविक रूप और वास्तविक गुण हैं, क्योंकि उनका निश्चित पदार्थों की ही भाँति वर्णन, वर्गीकरण और नामकरण किया गया था, इस भौतिकी में उसी मिथ्या कल्पना को व्यवस्थित किया गया है[3]।

इस प्रकार यह उपपत्ति कि 'अहं' ब्रह्माण्ड से सबद्ध है और कभी कभी ब्रह्माण्ड से उसका तादात्म्य भी हो जाता है, विकसित हुई। और ऐसा लगता है कि विशुद्ध तर्क और विवेकपूर्ण अध्यात्म पर आधारित यही कुशलता से विकसित उपपत्ति पूरब और पच्छिम के प्रश्नों का उत्तर देती है और उनकी चिन्ताओं को दूर करती है।

लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया पच्छिमी दर्शन भी नया रूप धारण करता गया, जिसका उसके प्रस्तावकों को लगभग भान भी नहीं हुआ, क्योंकि इस पांडित्य

---

1 VI, Strom 68

2 देखिये लेवी ब्रूहल La mentalite primitive

3 Etudes sur le role de la pensee medievale dans la formation du systeme cartesien. (पृ० 170)

प्रचुर क्षेत्र में एक नये सिद्धान्त का (अस्थायी रूप से यहूदीवाद द्वारा, बाद में विजयी ईसाई धर्म द्वारा) बीजारोप किया जा चुका था।

यह बीज फूटा और बढ़ा और मनुष्य की यह सकल्पना बनी कि वह मनुष्य अविभाज्य है, असमर्थ है, अपने चारो ओर के विश्व से भिन्न है, और अपना अस्तित्व उसी विश्व में, और यहाँ तक कि उसके विरुद्ध भी, स्थापित करता है, और अपने कर्मों के लिये अपने को केवल ईश्वर के आगे उत्तरदायी, मानता है।

सेन्ट टामस एक्विनास के एक कथन में स्वतन्त्र और मुक्त व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। वह कहते हैं 'वह प्राणी मुक्त कहा जाता है, जो अपना कारण आप हो।' इसलिये जब हम स्वेच्छा से अपनी इच्छा का पालन करते हुए, कार्य करते हैं तो यही हमारा मुक्ताचरण कहा जाता है। बाद में उसने इसी के आगे कहा है कि इसी प्रकार ईश्वर अपने प्राणियो में कारणत्व 'के गौरव की स्थापना करता है।'

यह विचारशील व्यक्ति ससार से भिन्न था और इसमें 'कारणत्व' का गौरव था इसलिये विचारशील मनुष्य को यही करना चाहिये था कि वह उन पर, अपने निर्णय करे और उनके प्रभाव पर विचार करे। इस तरह एक 'दोहरी धारा' चल पडी जो डेकार्ट और बेकन तक पहुँची। डेकार्ट ने तर्क प्रक्रिया को पूरा किया और बेकन ने मनुष्य को अधिक शक्तिशाली और प्रभावी कार्य के लिये सक्षम बनाने के उद्देश्य से उसका नाता बाह्य जगत से जोड दिया। डेकार्ट के दर्शन में आ कर मनुष्य के व्यक्तित्व की पृथकता और मुक्ति पूरी हो जाती है।

यह विवेक शक्ति आर्जित या दत्त नही होती, बल्कि मनुष्य की प्रकृति मे ही विद्यमान होती है। 'सुनिर्णय और सत् असत् में भेद समझने की शक्ति एक ऐसी वस्तु है जो हर व्यक्ति में समान मात्रा में पाई जाती है।'

यह शक्ति ऐसी नही है जो मनुष्य ने ससार से सीखी हो। वह उसे अपने साथ लाता है और वही उसका प्रयोग कर सकता है। डेकार्ट का कहना है 'इसे सिवा मेरे और कोई नहीं समझ सकता।' यह तर्क की महिमा पाडित्यवादी युग की सबसे बडी देन है। लेकिन अन्त यही नही था। यह तो शुरुआत ही थी। इधर तर्क प्रणाली धीरे धीरे विकसित हो रही थी, और उधर विचारशील मनुष्य केवल अपने अन्दर ही देखते रहना कम कर रहा था। फ्रांसिस बेकन ने कहा 'दूसरी गलती मानवीय बुद्धि के अत्यधिक सम्मान से, उसकी पूजा से पैदा होती है। इससे मनुष्य प्रकृति और अनुभूति पर मनन करना छोड देता है

और इसके स्थान पर अपने निजी चिन्तन और कल्पना स्वप्नो में लीन हो जाता है[1]।'

बेकन के साथ ही तर्क प्रणाली को प्रत्यक्ष क्रियाओ के अनुरूप ढाला जाने लगा। इससे यह पता चला कि यह तर्क प्रणाली उन क्रियाओ को कुछ ऐसे सरल सिद्धान्तो पर घटित कर सकती है जो इस तर्क के आधार है। इस प्रकार बिना वैज्ञानिको के जानकारी के ही विज्ञान अपना सच्चा स्वरूप ग्रहण करता चला जा रहा था।

विवेक वास्तव में उन समस्त क्रियाओ की एक तर्क प्रधान व्याख्या देता है जिनका हमारी इन्द्रियो को बोध होता है। वह कारणो की खोज नही, बल्कि उनका आविष्कार करता है। और इस क्रिया में वह जिसे स्वय बाह्य जगत कहता है उसमें कार्यत्व के स्थान पर कारणत्व की स्थापना करता है।

इसी बात से ससार में मनुष्य की परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है। अब वह कुछ सरल प्रस्थापनाओ, परिभाषाओ, स्वयतथ्यो और प्रधारणाओ के आधार पर दृश्य क्रियाओ की सम्पूर्ण प्रणाली तैयार कर सकता है। और चूँकि कार्य से कारण को निकाल लेने के प्रयत्न में पहले प्रमेयो का जो क्षेत्र का विस्तार कर लिया गया था, इसीसे कारणो से कार्य को बता देने की उल्टी रीति बहुत ही आसान हो जायगी।

इस प्रकार के प्रमेयो पर काम करते हुए मनुष्य प्रत्यक्ष क्रियाओ की अन्तर्क्रिया पहले ही से समझ सकता है और उनका नियन्त्रण में रख कर उपयोग कर सकता है। यद्यपि जगत उसको अब भी बाह्य ज्ञात होता है, परन्तु उस पर उसका अधिकार है। पहले वह उसका दास था अब उसका स्वामी हो गया है। प्रयोग की युक्ति ने मनुष्य को ससार के ऊपर एक शक्ति प्रदान कर दी है जैसे उसे पहले केवल अपने विचार के ऊपर प्राप्त थी।

मनुष्य को बाह्य जगत पर जो अधिकार प्राप्त हो गया है, जब वह उसकी ओर आश्चर्य में भर कर देखता है तो अपनी भौतिक विजयो के परिणामो से इतना पराभूत हो जाता है कि उसे यह भी नही याद रहता कि किस प्रकार से उसने यह प्रभुता प्राप्त की है।

'वैज्ञानिक विजय' का युग आ गया है। और अपनी नई विजय शक्ति के गर्व में मनुष्य उन मूल कारणो को भूल बैठता है जिनका उसने अपने ही उद्देश्य

---

[1] *De Augmentis*, I par 43, *Novum Organum* I 48-71, 79-124 और *Instaurati Magna* की भूमिका पृ० 130

के लिये आविष्कार किया था। वह अपने को समझा लेता है कि उसने ये 'कारण' खोजे हैं और ये उसे आसपास के जगत का सही वर्णन भी देते हैं। वह अपने बौद्धिक दर्प में यह भूल जाता है कि उसका विवेक-क्षेत्र वहीं तक उसे यथार्थ का ज्ञान करा सकता है जहाँ तक भौतिक जगत की क्रियायें अपने मस्तिष्क की प्रस्थापनाओं की ही भाँति आपस में मिली-जुली रहती हैं। वह विशुद्ध कृत्रिम व्याख्या प्रधान युक्तियों को ही परम और व्यापक सार्थकता प्रदान करती है।

यह वही युग है जिसमें नवयुवक रेनन ने लिखा था 'विज्ञान जहाँ तक श्रुति द्वारा प्रकट किए गए सत्यों की परीक्षा करता है वहीं तक लाभदायक है'[1]।

इस प्रकार यह 'विज्ञानवादिता' और 'भौतिकता' का युग ही पश्चिमी और पूर्वी चिन्तन में बहुत बडा अन्तर बन कर खडा हो गया है। और इसमें कुछ अंशों में 'विश्वव्यापी' तत्वों के विवाद की झलक मिलती है। पश्चिम ने अपनी विवेकात्मक साम्राज्यवादिता में उसी प्रकार के एक भोले निरपेक्ष 'यथार्थवाद' का परिचय दिया है। जिस प्रकार कोई बच्चा पौराणिक कथाओं को सच्चा समझने लगे, उसे यह भी याद न रहा कि यह साम्राज्यवाद उसी की ईजाद है। लेकिन यही भोलापन उसकी शक्ति का स्रोत भी बन गया और उन्नीसवीं शती के मनुष्य के लिये राष्ट्रवादिता का भ्रम मानवीय गलतियों में सबसे अधिक फलप्रद सिद्ध हुआ।

यह सही है कि विज्ञान की युवावस्था की स्फूर्ति थोडे ही दिन तक रही। जल्दी ही सच्चे वैज्ञानिकों ने अपने-अपने विज्ञान की व्याख्या करके उसकी सीमायें पहिचान ली और बहुत ही शीघ्र पश्चिमी विचारक उसके स्रोत की ओर मुड पडे।

दर्शन के प्रसिद्ध इतिहासकार एमिली ब्रेहियर ने कहा है 'यह मेरा सौभाग्य था कि मैंने एक दार्शनिक की हैसियत से उन्नीसवीं शती के अन्त में काम शुरू किया। वह एक सक्रिय बौद्धिक युग था। उस समय विज्ञान संबंधी संकीर्ण विचारों का और साथ ही पवित्र आशाओं और बडी-बडी उक्तियों से भरी हुई दिवालिया आध्यात्मिकता का बहिष्कार किया जा रहा था। विज्ञान और सामान्य रूप से समस्त मानसिक कार्यों में मौलिकता को स्थापित करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया जा रहा था। यह व्यावहारिकता, आधुनिकता और कर्मदर्शन का और मनुष्य के व्यावहारिक कार्यों पर विचार करने वाली बौद्धिकता के पुनर्जन्म का युग था। इस आन्दोलन पर बर्गसां के विचारों का बडा प्रभाव पडता था। अन्य समकालीन विचारकों के साथ ही उसी ने मुझे यह सिखाया कि आध्यात्मिकता

[1] L'avenir de la science, पृ० 39

को कैसे समझा जाये और इसको तर्क की एक विशेष प्रक्रिया द्वारा, जो पूर्ण रूप से मान्य भी नही है, अनुभव प्राप्त निष्कर्ष मात्र ही नही, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत जीवन की अभिव्यक्ति मानना चाहिये।[1]

यह प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्ति की प्रणाली दर्शन के क्षेत्र तक ही सीमित नही रही। गणितज्ञ आरी पुआनकारे ने देश और काल का अध्ययन करते समय 'सतत' की एक दार्शनिक विवेचना दी। इससे पता चलता है कि केवल तर्क शास्त्र पर्याप्त नही है, प्रदर्शनात्मक विज्ञान ही सम्पूर्ण विज्ञान नही है और सहज ज्ञान को अब भी तर्क[2] के पूरक के रूप मे, या मैं यह भी कह सकता हूँ, कि उसके प्रतिभार अथवा उसकी काट के रूप मे काम करना चाहिये।

अब वह समय है जब कला मध्ययुगीन बंधनो से मुक्ति प्राप्त कर रही है और मार्मेल प्रूस्त एक नई भाषा पर प्रयोग कर रहा है जिसमें वह अपने पात्रो के मनोवैज्ञानिक जीवन की अटूट निरन्तरता का वर्णन नही अपितु संकेत मात्र करता है। इसलिये मुझे यह लगता है कि पूरबी और पच्छिमी सभ्यता के बीच संघर्ष की बात करना, जहाँ पूरबी सभ्यता पूरी तरह से आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर स्थित हो, और पच्छिमी सभ्यता अपनी क्रिया मे केवल विवेक को प्रधानता दे रही हो, प्रश्न को अनुचित रूप से सरल बना देता है।

पच्छिमी मनुष्य यह समझता है कि यदि विज्ञान शक्ति देता है तो इसका कारण यह है कि उसकी सृष्टि इसी उद्देश्य से की गई थी। वह अब यह नही मानता कि विज्ञान पदार्थों के निहित स्वरूप को व्यक्त करता है। वह समझता है कि मनुष्य किसी वस्तु की उपस्थिति को अपने मस्तिष्क पर पड़नेवाली उसकी परछाई के माध्यम से जानता है। और यह परछाई शीशे पर उतनी ही निर्भर करती है जितनी कि परछाई डालनेवाली वस्तु पर।

इस प्रकार पच्छिम अपने कच्चे, अप्रौढ (क्योंकि उसमें नवयुवक का सा स्वाग्रह था) और अपूर्ण विज्ञान को छोड़ कर पूर्ण विज्ञान की ओर बढ़ आया है। अब वह सहज और प्रत्यक्ष ज्ञान पर फिर लौट कर आया है जिससे कि पूरब कभी भी नही हटा है।

पच्छिमी सभ्यता ने इसके साथ ही वैज्ञानिक खोज और रचनात्मकता को भी जोड़ लिया है जो अपनी ही ओर हमारी आँखों के सामने ही फैलती चली जा रही है।

---

1. *Comment je comprends l'histoire de la philosophie*, Emile Brehier in *Etudes philosphiques*, Presses universitaires de France, August 1947
2. *La valeur de la science*, P. 25 (Flammarion)

पूरब और पच्छिम

हिलमी जिया उल्केन

१

। और पच्छिम की पृथक् सत्ताएँ हैं, जिनकी परिचित रूपरेखाओं के भीतर
की विविधता अनेक तत्त्वों में अभिव्यक्ति हुई है। दोनों के ये विविध तत्व
। परस्पर समानान्तर विकसित हुए हैं तो कभी एक दूसरे से दूर हटते गये हैं।
तु उनकी मूल पृष्ठभूमियाँ इतनी भिन्न हैं कि यदि दोनों में कुछ समानता दीख
तो हमें अचरज होता है। और वास्तव में हमारा यह कहने को जी होता है
मानवता में समानधर्मा जैसी कोई चीज है ही नहीं। परन्तु जब हम समुदायों
सामाजिक जीवन और उनके आदर्शों की ओर देखते हैं तो इस प्रकार के समान
ों के अस्तित्व का पता चलता है। इसलिए पूरब और पच्छिम को एक दूसरे
निकट लाने के लिये जो आधार हमें चाहियें वह हमें केवल मानव आदर्शों
ही नहीं बल्कि लोगों के वास्तविक जीवन में भी खोजने होंगे जो वे रोजमर्रा
ताते हैं।

पच्छिम की ख्याति के मूल में उसका मिताचार और अन्वर्थता का बोध था,
रन्तु उसने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया। दूसरी ओर पूरब चिंतन
ी ओर झुका और वास्तविकता से दूर भागने में ही उसने अपना कल्याण समझा।
ालस्वरूप संसार के ये दो भाग एक-दूसरे के प्रति उदासीन हो गये, और सदियों से
ृसा ही चला आया है। यह ठीक है कि संसार के इन दोनों भागों में एक दूसरे
 निकट आने की भी एक प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु कई दृष्टियों से यह केवल
एक प्रवृत्ति ही रह गयी है। कुछ बातों में यह दोनों एक-दूसरे को समझते हैं,
पूरब अपनी कमियों के प्रति सजग है, और यूरोपीय सभ्यता को अपनाकर वह
अपने में आधुनिकता लाना चाहता है। *यद्यपि आधुनिकता की अनेक व्याख्याएं*
की गयी हैं, परंतु हम यह सकते हैं कि पूरब के सभी देश आज की सभ्यता से लाभ
उठाना चाहते हैं। वे सभी यूरोप के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की दीक्षा लेना
चाहते हैं। परंतु यह आन्दोलन सिर्फ एकतरफा नहीं है। वर्तमान नैतिक
संकट के कारणों की खोज करते हुए पच्छिम, आज के मनुष्य को जो युद्ध सिखाया
जाता है, उसकी ओर देखता है। संस्कृति के मूल्यह्रास के विरुद्ध काफी शक्ति-
ाली आन्दोलन हो रहा है, और इस आन्दोलन के द्वारा हम मनुष्य के विविध

न्यों और पहलुओं का जहां-जहां परस्पर संघर्ष होता है उन स्थलों की खोज करते हैं।

इस प्रवृत्ति को कभी कभी सामान्य वातावरण के बाहर की चीजों के प्रति हमारी रुचि तथा अपने से बाहर की संस्कृति के प्रति हमारे आकर्षण से भी बल मिलता है। इसलिए हम आशा करते हैं कि कुछ ही समय बाद पूरब और पश्चिम अथवा मानव जाति के दो परस्पर विसदृश पहलुओं के बीच कोई वास्तविक तनाव नहीं रह जाएगा।

२

मानव इतिहास का एक ऐसा भी युग रहा था जब इस प्रकार का कोई भेद नहीं था। उस समय तीन पृथक् भूखंड थे, जिनकी अपनी अपनी सभ्यताएं थीं—भारत, चीन और मध्यपूर्व। इन में से तीसरे की सभ्यता, जो मिस्र और मैसोपोटामिया पर आधारित थी, यूनान तक फैली। इन तीनों भूखंडों का विकास समांतर रूप से हुआ, इन सबने अपनी अपनी विभूतियों को जन्म दिया—बुद्ध, कन्फ्यूशस और सुकरात, और वे सभी एक समान प्रक्रियाओं से गुजरते हुए एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे। ये तीनों प्रदेश देव कथाओं, जड़-चैतन्यवाद, वितंडावाद की अवस्थाओं में से गुजरे और अंत में इन्होंने अंतःकरण की खोज की। भारत में अंतःकरण का अर्थ था तपस्या द्वारा दुःख से निवृत्ति, चीन ने इसको 'माता पिता के प्रति भक्ति और सेवा' के पवित्रभाव की व्यावहारिक नैतिकता के रूप में समझा, और यूनान ने इसे एक ऐसी बौद्धिक नैतिकता के रूप में देखा, जिसकी परिणति तत्वमीमांसा में हुई। इसके बाद यूनानी सभ्यता दूसरी दो सभ्यताओं से दूर हटती गयी, और ईसाई धर्म से युक्त होकर उसने पश्चिमी सभ्यता को जन्म दिया, दूसरी ओर इस्लाम, जोकि एक 'बाद का' धर्म था, ईसाई धर्म से लगभग छः शताब्दी बाद सामने आया। पूरब तथा पश्चिम को एक साथ लाने के लिए जेहाद करनेवाला यह पहला धर्म था।

३

सौ वर्ष पहले तुर्की ने पहली बार आधुनिक सभ्यता से संबंध स्थापित करने की दिशा में प्रयोग किये। सर्वदर्शन-ग्राही 'तंजीमात' ने पूरब और पश्चिम के अंतर को पहले देही और देह, गुण और परिमाण का अंतर माना। 'तंजीमात' एक सुधारवादी आन्दोलन था, और उसमें हमें उन्नीसवीं शती की 'द्वैतवादी

विचारधारा' का प्रतिबिम्ब मिला। क्या यह परिस्थिति अनुकूल कही जा सकती थी? निश्चयपूर्वक यह एक शंका का विषय है।

दूसरे क्षेत्रों के लिए, पश्चिम केवल भौतिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधि था, उनके लिए आध्यात्मिक जगत की कुंजी पूरब के हाथों में थी। उनका विश्वास था कि पश्चिम दृष्टिकोण प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की महत्वकांक्षा का परिणाम है, पूर्व की विचारधारा रहस्यवादी मानी गयी, जो विचारधारा अपने विशिष्ट प्रतीकों के द्वारा दृश्यमान जगत से धीरे-धीरे दूर होती गयी। इस 'द्वैतवाद' के बाद, जो कि लगभग एक प्रतिक्रियावादी संकल्पना थी, इसका विकास पश्चिम सभ्यता की दिशा में बड़ी तेजी के साथ होने लगा।

नये दृष्टिकोण ने पूरब और पश्चिम में भेद करते हुए यह इंगित किया कि पश्चिम में 'मानव व्यक्तित्व' ही सर्वोपरि है, क्योंकि पश्चिम की सामाजिक व्यवस्था उन स्वतंत्र मानवों के आचरण पर आधारित है जिन्होंने अपनी पहल करने की शक्ति को व्यावहारिक रूप दिया है, जब कि पूरब में व्यक्ति समुदाय में खो जाता है। यह भेद सिर्फ इन दो प्रकार के सामाजिक प्राणियों को जो पृथक्-पृथक् शिक्षा मिली है उस पर आधारित है। यद्यपि यहां प्रश्न केवल विभिन्न प्राकृतिक हेतुओं का था परंतु मनुष्य अपने वातावरण की परिस्थितियां का प्रभावित कर सकता था और सामाजिक शोध तथा शिक्षा के बल से अपनी स्थिति बदल सकता था (शाहजादा शबाहुद्दीन)।

अंत में इस द्वैतवादी विचारधारा का परिणाम इस्लाम, राष्ट्रवाद तथा पश्चिम के बीच समझौते के प्रयत्नों के रूप में सामने आया, इस प्रयत्न के फलस्वरूप ही संस्कृति और सभ्यता म भेद किया गया। तब यह पता चला कि संस्कृति का जन्म पूरब में हुआ और सभ्यता वह उद्देश्य है जिसे कि हमें अब प्राप्त करना है—दूसरे शब्दों में पश्चिम। यह अंतर विषयवस्तु और उसके रूप के अंतर के समान है। इस प्रकार यह द्वैतवाद, अर्थात पूरब और पश्चिम के बीच का अंतर, 'संस्कृति और सभ्यता का द्वैत बन गया (जिया गोकाल्प)।

इस समस्या का हल निकालने का आखिरी तरीका यह जान पड़ा कि यूरोपीय सभ्यता का एकबारगी समूल स्वीकार कर लिया जाय। इसके मानी यह होने हैं कि सर्वोपरि सभ्यता एक थी, जिसके बारे में कोई बहस संभव नहीं थी। संस्कृति और सभ्यता सर्वथा एक चीज थी। यदि कोई किसी नई सभ्यता में दीक्षित हो जाय तो उसके मानी थे उसके सभी गुणों और दुर्गुणों का ग्रहण कर लेना। कोई भेद करना संभव नहीं था, न ही पूरब और पश्चिम के बीच समझौता हो सकता था। पूरब के लोगों के लिए पाश्चात्य विराग का एक

अवश्यभावी परिणाम था। यह वह क्रांतिकारी आन्दोलन था, जिसके जन्मदाता अतातुर्क थे।

४

अब हमारे आगे नीचे लिखी समस्या आ खड़ी होती है। गत शती में विज्ञान ने दावा किया था कि मनुष्य एक पशु है, परंतु मनुष्य अपने को अपने माहौल के अनुरूप ढालने के बजाय अपने संसार का निर्माण स्वयं करता है। पिछली पीढ़ियों द्वारा अर्जित अनुभव को आत्मसात करने के लिए उसे बहुत लंबे अरसे तक शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती है। इससे उसके अनुभव ग्रहण करने की क्षमता या, उसके इतिहास अर्जित अस्तित्व का जन्म होता है। लंबी शिक्षा के बाद ही वह 'सामाजिक' प्राणी हो पाता है। इस प्रकार मनुष्य को एक शिक्षित प्राणी कहा जा सकता है, और इसलिए एक ऐसा प्राणी भी जिसने न केवल मूल्यों के जगत पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है अपितु वास्तव में उनका सृजन किया है।

इस युग में बराबर मनुष्य के क्रिया कलाप पशुओं के क्रियाकलापों से पूर्णतया-विपरीत रहते हैं, क्योंकि

(क) वह भविष्य दर्शी करके अपने विचारों का विकास करता है,

(ख) वह अपनी स्मरण शक्ति और अपने व्यक्तित्व के स्वरूप की सहायता से अतीत के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है, और

(ग) वह वास्तविकता और अनंत आकाश में प्रक्षेप करके अपनी संकल्पनाओं और अपने उपकरणों का विकास करता है। इसलिए सिद्ध है कि मानव अवस्था महामानव की अवस्था से पहले की है। प्रवृत्तियाँ क्रियाकलापों में परिणत होती हैं, जिससे मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का निर्माण होता है, प्रवृत्तियां एक विकास क्रम में बंधी हैं यथार्थ से पलायन, मूल्यों की खोज, और तकनीकों का सृजन। तकनीकें बहुत-सी हैं और उनमें प्रत्येक किसी दिये हुए मूल्य के अनुरूप है। सौंदर्यात्मक मूल्य के लिए सौंदर्यात्मक तकनीक, प्राणिक मूल्य के लिए प्राणिक तकनीक, आदि आदि।

हम इसे मनुष्य की प्रमुखतम विशेषता न भी मानें फिर भी मनुष्य की एक प्रमुख विशेषता है उसका अपने विरुद्ध संघर्ष, आत्मोत्सर्ग के रूप में यह विशेषता है जिसमें यह विशेषता न हो। इसलिए कहा जा सकता है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो आत्मोत्सर्ग द्वारा अपना निर्माण करता है। मुझे लगता है कि इस प्रश्न पर पूरब और पश्चिम सहमत हैं। मनुष्य पशु से इसलिए भिन्न नहीं

है कि उसमें बुद्धि और कर्म का स्वातन्त्र्य प्राप्त है, क्योंकि इनके मूल तो पशुओ में भी वर्तमान हैं।

मनुष्य-स्वभाव के मूल मे एक ऐसा तत्व है जो जीवन और उसके विकास से पृथक् रहा है—वह है आत्मा। मनुष्य अपने आसपास के माहौल में न रह कर ससार के बीच रहता है। मानव प्रवृत्तियो का जन्म स्वय व्यक्ति के ही भीतर से होता है, जब कभी किसी एक अतर्वृत्ति का निरोध होता है तब ये प्रवृत्तिया प्रकट होती हैं। यह धारणा तभी पूर्ण हो सकती है जब हम इसके साथ ही मनुष्य की 'वास्तविक एकता' की धारणा को भी लें। द्वैत की धारणा ने एक तरह से उन दो विश्वव्यापी तत्वो के परस्पर सघर्ष को दर्शाने का कार्य किया है जिनके चिर अत सघर्ष की भूमिका स्वय मानव का मन है।

परतु यह निश्चित है कि मूल्य सबधी द्वैत का जन्म होने के पहले ही मानव में विकलता की चेतना का जन्म हो चुकता है। जो विरोधी तत्व मनुष्य की शक्ति के परे हैं और जिनके सबध म वह अपने को अशक्त पाता है, उन विरोधी तत्वो के परस्पर सघर्ष का उद्घाटन करने के स्थान पर पहले उस विकलता को ही लेना चाहिए जिसका अनुभव मनुष्य का पार्थिव व्यक्तित्व, ससार में रहता हुआ अपनी नियति और अपने अस्तित्व के सबध में करता है। इसके बाद वह स्थिति आती है जहा वह स्वय अपनी प्रवृत्तियो का प्रतिरोध प्रारभ करता है, जिससे उसके अस्तित्व के वे दो पहलू सामने आते हैं जिन्हे हम शरीर और आत्मा कहते हैं।

इस प्रकार हम उस सकल्पना पर पहुँचते है, जो सबसे पहले यह प्रमेय रखती है कि मनुष्य अपनी एकता में स्वायत्त है, और फिर उसमें जो 'द्विगुणता' है उसकी ओर, तथा उन प्रकारो की ओर जाती है जिनके द्वारा उसका शारीरिक और आध्यात्मिक रूप से वाह्यकरण होता है।

मनुष्य की वास्तविक एकता जिसके गुणो की परिभाषा नही की जा सकती, उसका दूसरे प्राणियो से भेद करती है, और यह इन गुणो के विकास अथवा सयोजन से नही बल्कि, दूसरे प्राणियो की अपेक्षा, स्वायत्तता की ओर उसकी अपनी प्रगति के द्वारा।

५

मनुष्य अपने हाथ मे भिन्न भिन्न अवस्थाओ से गुजरा है हमें उन्हे समझ लेना चाहिए।

आदिम मानव सृष्टि के दूसरे स्वरूपो से पृथक् नही रहता था। वह समष्टि के भीतर रहता था। और यही वह अपनी परेशानियो और अन्तर्द्वन्द्वो का प्रक्षेप

करता रहता था। उसके मनस्तत्व में एक आदिम विशुद्धता देखने में आती थी, जिसमें तर्कशक्ति का अभाव रहता था, बाद में जाकर उसमें विचार शक्ति और अंत:करण का उदय हुआ है।

सभ्यता के तीन खंड एक ही प्रकार से विकसित हुए हैं, जो बुद्धिगोचर हैं। यूनान ने उसे ही अपना लक्ष्य बनाया, और तर्कशक्ति को सभी समस्याओं की कुंजी माना। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर ही दूसरे प्राणियों से भिन्न है। यह मानवतावाद और बुद्धिमत्ता का युग था। मनुष्य की प्रभुता जन्मजात मानी गयी पर साथ ही उसकी दासता भी। अरस्तू का आर्गेनन (ज्ञान-यंत्र) जो प्रारंभ में साधन था अंत तक पहुंचते-पहुंचते साध्य हो गया।

भारत ने अंत:करण की खोज प्रकृति को तर्क द्वारा समझाने के लिए नहीं की। उसका उद्देश्य था आध्यात्मिक जगत का रहस्योद्घाटन करना। ईसाई धर्म, ब्राह्मणधर्म दोनों ही उस मनुष्य की रक्षा करना चाहते हैं जो अपने परमपद से च्युत हो गया है। वे उसे आत्मोत्सर्ग का पथ दिखलाकर सब पापों से मुक्त करना चाहते हैं, मनुष्य के चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व में प्राकृतिक और नैसर्गिक तत्वों के सम्मिलन को खोजने के लिए दोनों ने विवेक और अवतारवाद के आधार पर एकसी संकल्पना की प्रतिष्ठा की। परंतु हिन्दू रहस्यवाद ने इस रूप में अभिव्यक्ति पायी है कि उसमें अंतकेन्द्रित आध्यात्मिकता पर अत्यधिक बल दिया गया है, जब कि ईसाई धर्म ने नैतिक आधार की दिशा में ही प्रयत्न किया है। योगी परमात्मा से मिलने की साधना करता है,—प्राणायाम द्वारा शरीर का नियंत्रण करता है और इसी के द्वारा वह अपने आदिस्रोत तक पहुंच जाता है।

इस्लामी तथा भारतीय रहस्यवाद की कुछ विशेषताएँ सामने हैं। इसलाम सामूहिक तन्मयता को महत्व देता है, ऐसी गुह्य साधनाओं को जिनका परिणाम होता है आत्माओं का समागम, अहं से विरक्ति और एक बढ़ती हुई अध्यात्मीकरण की प्रक्रिया द्वारा परमात्मा से समागम अर्थात् आत्मा और परमात्मा का आंतरिक संभाषण। इस आंतरिक संभाषण की अंतिम परिणति 'वस्ल' है जिसमें दो सत्ताएं एक दूसरे में लीन होकर एक रूप हो जाती है। एक सच्चा आध्यात्मिक योग साधित होता है।

'पितृसत्तात्मक' परिवार की सर्वोपरिता पर आधारित सामंतवादी साम्राज्य की अवस्था तक पहुंच कर चीन ने निम्नवर्ग को उच्चवर्ग के अधीन रखकर जो व्यवस्था बनायी थी, उसके भीतर 'अपरिवर्तनशील' मानव के आदर्श को खोज निकाला था।

यूनान ने चिंतन शक्ति को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया, उसे अधि-नैसर्गिक जगत के समक्ष रखकर पौराणिक देवताओं का स्थान दे दिया। उसने एक ऐसे मानव का विकास किया जिसे साधु की संज्ञा दी गयी, जो वासना को तर्क-बुद्धि से अनुशासित करके वस्तुओं के सहज स्वरूप से समस्वर होकर रहता था। ईसाई-धर्म की जो कुछ भी देन थी उससे यूनानी चिंताधार का सामंजस्य स्थापित करने में इस वर्ग के व्यक्ति का प्रभाव सबसे अधिक प्रकट हुआ। यूनान के लोगो से (शब्दब्रह्म) और ईसाईधर्म के 'वरबुम' (शब्दब्रह्म) के बीच, तर्क-बुद्धि और अंतःकरण के बीच, और न्याय तथा उदारता के बीच का द्वन्द्व यूरोपीय सभ्यता में एक संश्लेषण के रूप में हल हुआ-यद्यपि तर्क-बुद्धि और श्रद्धा का परस्पर पूर्ण समंजन सदा संभव नहीं है, और इनमें एक न एक को कुछ हद तक दबाना पड़ता है।

'धार्मिक' मानव के विकास के लगभग छः शतियों बाद इस्लाम ने एक विश्व-व्यापी नियम का प्रतिपादन किया, जो कि भागवत इच्छा के प्रति समर्पण पर आधारित था और पुरुषविधता से रहित था। यहाँ मनुष्य को केवल उतनी ही सीमित स्वतन्त्रता प्राप्त थी जो उसे भगवद्कृपा से मिल सकती थी। कुछ शिक्षक इस्लाम ने अंतःकरण की शुद्धि को महत्व दिया, उसने घोषणा की कि वह 'शरीया' के द्वारा एक साथ ही अंतःकरण और सामाजिक जीवन दोनों का परित्राता है।

इस्लाम की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसने सांसारिक जीवन का नैसर्गिकता के साथ सामंजस्य स्थापित किया। इसलिये उसने यूनानी चिंताधारा से बौद्धिक तर्कों को ग्रहण कर लिया। संन्यासी को 'पूर्ण पुरुष' माना गया जो कि 'आलम अल-शहीद' का संबंध 'आलम अल-गैब' से स्थापित करता है। परंतु इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि एक सूफी के लिए 'फना फि अलहक' (परमात्मा में लय) ही अंतिम अवस्था नहीं है, बल्कि 'बका बि अल्लाह' (परमात्मा से चिर-सायुज्य) प्राप्त करके फिर संसार में लौट आने के लिए एक संक्रांति अवस्था है। सूफी सिर्फ अपनी ही मुक्ति नहीं चाहता है, उसका एक उपदेशक का मिशन है, और इसलिए वह ईसाई मठ के भिक्षुओं के निकट है। यूनानी आदर्श को छोड़ कर बाकी ये सब आदर्श 'परमात्मा' की संकल्पना पर आधारित थे, जो आत्मोत्सर्ग द्वारा अपने पापों से मुक्ति पाता था।

६

यूरोप में यद्यपि समन्वय के अनेक प्रयत्न किये गये फिर भी सोमोस और परमात्मा के बीच में द्वन्द्व के कारण आत्मा की स्थिति अस्थिर हो गई। इसमें हम

पश्चिम की निराकुलता में ह्रास के लक्षण देख सकते हैं। पश्चिम ने जो कुछ बनावटी ढंग से बनाया उसके कारण वह प्रकृति से दूर होता गया। फलस्वरूप वह आदिम मानव की ओर लालसा से साथ देखने लगा। पश्चिम का मानव फिर से अपने मानसिक जगत में लौट आया जहाँ कि वह पहले से रहने का आदी था, इसलिए दूसरी जातियों से उसका सारा संपर्क टूट गया या फिर सिर्फ उनसे विशुद्ध शिष्टाचार का संबन्ध ही बना रहा। फलस्वरूप वह 'मनोमय मानव' की दिशा में बढ़ता गया। अंत में आधुनिक मानव एक आदर्शहीन अहंवादी बन गया। प्राकृतिक विज्ञान के विकास के कारण एक ऐसे मानव का जन्म हुआ है जो सब कुछ अस्वीकार कर रहा है। सबसे पहले उसने अपने अतीत को, संसार में अपनी स्थिति को और अपनी नियति को अस्वीकार किया या उसे त्याग दिया है। उसने मूल्यों के मानदंड को नष्ट कर डाला, उसने अपने को महत्वकांक्षा के हाथों सौंप दिया और आशा की कि उनके द्वारा वह अपनी समस्त बुराइयों का उपचार ढूंढ लेगा। यह एक नकारात्मक प्रवृत्ति थी। इसका फल सिर्फ यह हुआ कि इस नकारवाद की प्रतिक्रिया के रूप में वह अपने को मूल्यों का स्रष्टा समझने लगा। इससे उसकी धारणा ऐसी बन गयी कि वह दूसरों को मानव न समझ कर केवल यंत्र समझने लगा। मानव की यह संकल्पना, सिर्फ इस सीमा तक संगत है कि वह मूल्यों का ह्रास करती है और भौतिकवादी शासन को उसका समर्थन करना पड़ता है, और ऐसा करने में उसे प्रत्येक मानव आदर्श की बलि देनी पड़ती है। इस संकल्पना को आज सामाजिक और विकार संबंधी गतिरोध का सामना करना पड़ रहा है, और फल यह हुआ कि मानवता के अभी तक उपेक्षित तथा तिरस्कृत वर्गों की सहायता से अपनी कमी को पूरा करके 'पूर्ण मानव' की खोज की इच्छा प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। चूंकि मानव की प्रमुख विशेषता उसकी ऐतिहासिकता है, इसलिए वह आज मानव जाति के बीते अनुभवों पर निर्भर रह सकता है, जिनको विभिन्न सभ्यताओं ने विविध परिस्थितियों में अर्जित किया था, और वह उस 'पूर्ण मानव' को आदर्शरूप में स्वीकार कर सकता है जिसमें पूरब का गंभीर चिंतन और तकनीकी शक्ति का एक समान समावेश होगा।

७

इस अन्तर को मिटाने के कई प्रयत्नों का इतिहास साक्षी है। प्रथम था यूनानी-बौद्ध धर्म, दूसरा था मेनिकेइज्म (दैत्यादित्यवाद) और तीसरा था इस्लाम, जिसने यूनान की 'नित्यता' की संकल्पना का शामियों की 'सृष्टिवादी' संकल्पना से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। अंत में, जापानी और

उस्मानी साम्राज्य दोनों ने ही यूरोपीय सभ्यता का पूरब के मनस्तत्व से संयोग कराने का प्रयत्न किया।

आज तुर्की और मध्यपूर्व के कुछ अन्य देशों ने सभी तरह के समझौतों को ठुकरा दिया है। वे आधुनिकता लाने के पक्ष में दृढ़ हैं, और पश्चिमी संस्कृति को ग्रहण किये बगैर वे कैसे एक आधुनिक स्वतंत्र राष्ट्र बन सकते हैं, यह उनकी समझ में नहीं आता। इसके लिए जो सुधार करने होंगे वे ऐसे होंगे जो आधुनिक सभ्यता में प्रवेश करने के लिए किसी भी देश को करने पड़ेंगे। ऐसे समझौतों को स्वीकार करने से कुछ नहीं होगा जो आज पुराने पड़ गये हैं। फिर भी पूरबी देशों को चाहिये कि आवश्यक सुधारों द्वारा अपने को आधुनिक बना लेने के बाद वे अपने प्राचीन मूल्यों को पुनरुज्जीवित करके अपने वर्तमान जीवन में घटायें। उन्हें पुरानी-धुरानी आदतों और प्रथाओं को ग्रहण नहीं करना है। वास्तविक महत्व इस बात का है कि राष्ट्र की आत्मा की छाप आधुनिक सभ्यता पर होनी चाहिये। जिस सभ्यता को ग्रहण किया गया है उसके मौलिक मूल्यांकन से ही सच्ची राष्ट्रीयता का जन्म हो सकता है। जो भी हो, राष्ट्रीय गर्व की टक्करें नये मूल्यों को जन्म देने के बजाय उन राष्ट्रों की संस्कृतियों के एक दूसरे पर प्रभाव डालने से रोकती हैं। आधुनिक संसार पर अनुभव, चिंतन तथा कार्य करने के अपने तरीकों को दूसरों पर लादने में पूरब उतना ही सक्षम है जितना कि पश्चिम। व्याख्याओं की अनेकरूपता सिर्फ राष्ट्रों की स्वतंत्रता की नींव ही नहीं है, बल्कि प्राचीन सभ्यताओं के लिए यह एक ऐसी आध्यात्मिक औषधि भी है जो उनका कायाकल्प कर देगी।

इन दो संसारों के बीच अन्तःप्रवेश न हो सका इसका कारण है पूर्वाग्रहों की अनन्त शृंखला। इन स्पष्ट कठिनाइयों में साथ-साथ उन विचारों को भी जोड़ देना चाहिए जो कि विभिन्न 'बन्द संस्कृतियों' के संबंध में प्रकट किये गये हैं—अर्थात् यह कि उन संस्कृतियों में प्रवेश करना असंभव है, देशभक्ति का परस्पर संघर्ष और प्राचीन जातियों के पतन में विश्वास।

परन्तु, संस्कृतियाँ कभी बन्द नहीं रह सकतीं। उनका जन्म ही विभिन्न मानव समाजों के परस्पर आदान-प्रदान से हुआ है। यह संबंध जितना विस्तृत होगा, सभ्यता उतनी ही अधिक व्यापक होगी। यदि यह संबंध कमज़ोर पड़ जाता है या टूट जाता है, तो सभ्यता गतिहीन हो जाती है और पाखण्डवादी युग का आरम्भ हो जाता है।

प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र अपने आध्यात्मिक और भौतिक उत्पादनों को बाहर भेजना चाहता है। परन्तु जो भी देश इन उत्पादनों को ग्रहण करते हैं, वे दूसरे

की बनाई वस्तुओं की केवल तभी तक नकल करते हैं जब तक वे नौसिखिये होते हैं, अन्त में तो वे स्वय ही कुशल स्रष्टा बन जाते हैं। सस्कृति का गुरुत्व केन्द्र बदल जाता है, सस्कृति की सीमाएँ फैलने लगती हैं, और प्रदान करने वाला देश स्वय ही ग्राहक बन जाता है। बहुत से आविष्कारों को ठोक-बजा कर देखा जाता है, कुछ पुराने पड जाते हैं, पर अनेक ज्यों के त्यों बने रहते हैं। प्रदाता देश और ग्राहक देश के बीच जो प्रतिद्वन्द्विता उठ खडी होती है वह कुछ हद तक एकदलवाद और स्वतन्त्रता के बीच का सघर्ष है। प्रदानता देश प्रतिरोध करता है, ताकि वह स्वय केन्द्र बना रहे। प्राचीन सस्कृति अपने को अपने ही अन्दर समेट लेती है, वह एक प्रगतिहीन परम्परा बन जाती है, और अतीत पर गर्व करने लगती है जिसमें वास्तविकता की चेतना बिल्कुल नहीं होती।

प्राचीन सभ्यताएँ तीन प्रकार से फैल सकती हैं (क) सचार के सहज साधनों की सहायता से, (ख) युद्ध और प्रवास के समय में आबादी के हटने से, और (ग) विश्व धर्म के विकास में।

यही बस नहीं है कि विभिन्न देशों की अपनी स्वायत्तता पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति को आधुनिक सभ्यता सिर्फ अवसर ही देती हो, वह वास्तव में इस प्रवृत्ति के पनपने की सुविधाएँ देती है। हमारी वर्तमान सभ्यता न केवल राष्ट्रों को दृढ करती है, बल्कि उनकी सृष्टि करती है। वह विध्यात्मक और नकारात्मक दोनों साधनों से उनको जन्म देती है। और वह इस प्रकार (क) तकनीकी सुधार के लिए विभिन्न क्षेत्रों की जो आवश्यकताएँ हैं उनके द्वारा, (ख) लोकतन्त्रीय विचारों के प्रसार से, जिससे न केवल सुविधा प्राप्त ही स्वतन्त्रता की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। बल्कि सुविधाहीन भी, (ग) जन शिक्षा के विकास और देशी भाषाओं के सास्कृतिक उद्धार से (घ) अपने यूरोपीय पूर्ववृत्तियों द्वारा प्रेरित रूमानी तथा राष्ट्रवादी आन्दोलनों से, और (ङ) शक्तिशाली के प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया द्वारा। यूरोपीय सभ्यता जो स्वय लोकतन्त्रीय विचारधारा का परिणाम है अपने ही समान दूसरे राष्ट्रों को जन्म देती है।

मनुष्य शिक्षा का परिणाम है, और इसी कारण शिक्षा पूरब और पच्छिम को एक साथ लाने का सरलतम साधन है।

शिक्षा से हमारा मतलब दो बातों से है सस्कृति के ज्ञान-भण्डार से वह बातें सीखना जिनसे जीवन सफल हो सके, और अपने अन्तर से समस्वर हो कर अपने सह-मानवों के निकट सम्पर्क में रहना।

शिक्षा के इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हर सभ्यता ने किसी न किसी योजना का विकास किया है। हमारा युग ऐसी विश्व सभ्यता का युग है जिसमें

सभी राष्ट्रों की मौलिक संस्कृतियों का समावेश है। ऐसे युग को जिस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है उसका स्वरूप राष्ट्रीय होना चाहिये। यह सिर्फ यूनानी-रूमी मानवतावाद पर आधारित न हो कर एक ऐसे व्यापक मानवतावाद पर आधारित होनी चाहिये जो कि संसार की सभी संस्कृतियों के बीच सद्भाव के मिश्रण से बना हो। एक स्वतंत्र सदस्य के रूप में हर देश राष्ट्रों की इस 'गोष्ठी' को अपनी विशेषताएँ और अपनी जीवन-दृष्टि देगा। हमारे लिए महत्व की बात संबंधित राष्ट्रों के असमान पर साथ ही पूरक तत्वों पर ध्यान देना है। यदि संस्कृतियाँ अलग-अलग हो जायें तो कुछ तत्वों की क्षति हो जाती है। किसी संस्कृति की अतिवृद्धि होगी तो किसी का अतिह्रास, परन्तु शिक्षाविद् को चाहिये कि वह ऐसे अवांछनीय विकास पर नजर रखे, ताकि शिक्षा-प्रणाली में आवश्यक सुधार किए जा सकें। बहुधा ऐसा भी होता है कि शिक्षा के जो दो पहलू हमने ऊपर बताए हैं उनमें संबंध बदल जाता है, जिससे पहले वाला पहलू यदि सब कुछ न भी रहे तो वह प्रमुख अवश्य हो जाता है। यह संस्कृति में संकट स्थिति पैदा होने का लक्षण है। आज हमारे सामने ऐसी ही संकट स्थिति उपस्थित हो गई है। कुछ लोग इसे सिर्फ अस्थायी संकट मानते हैं, परन्तु दूसरों के विचार में वर्तमान सभ्यता को इसका समाधान अपने से बाहर जा कर खोजना होगा।

पूरब में शिक्षा अन्तर्जीवन के विकास अध्यात्म पर आधारित थी। भारत में योगियों ने इसे ध्यान और एकाग्रता द्वारा खोजना चाहा। इस्लाम में सूफियों ने इसका रहस्यवादी गुणों की प्राप्ति से तादात्म्य कर दिया, ताकि परमात्मा से योग साधित करके वह एक उपदेशक का मिशन ले कर फिर दैनिक जीवन में लौट आये। इसीलिए 'उरूजे' और 'नुजुल' (आरोहण और अवतरण) की प्रक्रिया को महत्व दिया गया, जैसा कि इब्न अरबी का विचार है। इसका उद्देश्य आत्म प्रेरणा की प्रक्रिया से आध्यात्मिक जगत के साथ एकता स्थापित करके अन-अहम् के द्वारा अहम् और अहवाद का समूल विनाश करना था।

पश्चिम में शिक्षा बौधिकता के विकास पर आधारित थी—अर्थात् सिर्फ शिक्षण पर। परन्तु पांडित्यवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसने प्रयोगवादी प्रणाली को जन्म दिया, और बाद में उस विधि को जिसे प्रयोगात्मक विधि कहते हैं। इस प्रणाली में प्रमुख तत्व संकल्प-शक्ति है, इसमें बाह्य संसार पर सचेष्ट प्रयत्न का प्रयोग किया जाता है।

आत्म प्रेरणा, उत्तेजन और तन्त्रिका-तन्त्र के द्वारा काम करता है, संकल्प-शक्ति तथा प्रयत्न में पेशियाँ प्रभावित होती हैं। ये मानव-शरीर की दो संपूरक

परन्तु विरोधी प्रक्रियाएँ हैं, जिस हद तक हम अपने सकल्प-शक्ति का प्रयोग करते हैं, वहाँ तक प्रेरणा का विरोध होता है, क्योंकि आत्म-प्रेरणा के लिये कोई स्थान न छोड कर जहाँ चेष्टा द्वारा प्रयत्न किया जाता है वहाँ एक प्रतिप्रेरणा की सृष्टि होती है। इसी प्रकार यदि हम अपने मन को शिथिल छोड दें और अचेतन मन म किसी विचार को जड पकडने दें, तो हमारी सकल्प-शक्ति का इसमें कोई हाथ नहीं होगा। किन्तु सकल्प-शक्ति और आत्म-प्रेरणा चाहे एक दूसरे का स्थान नही ले सकते हैं, फिर भी इन दोनों का कार्य कुछ ऐसा है कि वे हमारे भीतर एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं। आत्म-प्रेरणा से रहित कर्म का परिणाम होगा थकान और श्रान्ति, जिससे शरीर और आत्मा दोनों नष्ट हो जाएँगे, सकल्प-शक्ति से रहित प्रेरणा मन को रोगी कर देती है और शरीर को निष्क्रिय बना कर हर काम के लिए बेकार कर देती है।

एक 'स्वायत्त' मानव में ये दोना प्रक्रियाएँ एक दूसरे को पूरा करती हैं और उसे एक 'व्यक्ति' बनाती हैं। दूसरी ओर उसकी उस स्वायत्तता का दुरुपयोग होने पर इनमे से किसी न किसी प्रक्रिया को क्षति पहुँचती है। योगवादी और 'क्रियाशीलतावादी' एक दूसरे से विरोधी मत रखते हैं, और दोनों ही मत अपने में अपूर्ण हैं। एक विशेष दिशा में अत्यधिक झुकाव होने के नियम को खोज निकाला है उसने इसका प्रयोग करने का प्रयत्न किया है और इसकी ऐसी परम्परागत त्रुटियों को मान लिया है, जिससे मन के सारे प्रयत्न प्रकृति पर विजय पाने के लिए होते हैं। पूर्व ने सदियो तक आत्म प्रेरणा और उसके साथ की साधनाओ का अभ्यास किया है और यहाँ तक कि उनका दुरुपयोग भी किया है, जिससे उसकी अपनी ही भौतिक उन्नति को क्षति पहुँची है। शिक्षक को चाहिये कि वह मानव को उसके समग्र रूप में ले और शिक्षा के एक ऐसे स्वरूप को पेश करे जो हृदय तर्क-बुद्धि और सकल्प-शक्ति तीनो को एक में समेट सके। इस सबध में उसे किसी प्रकार का समझौता नही करना चाहिये। यद्यपि ऊपर से देखने पर डेकार्ट की प्रणाली का पास्कल की सूक्ष्म बौद्धिक प्रणाली से सामजस्य नहीं बैठता तथापि भविष्य की शिक्षा में उसका स्थान अवश्य होना चाहिये।

शिक्षा का पूरबी ढग हमें अपने 'मूल' अस्तित्व तक ले जाता है। इसलिए उसका उद्देश्य है आत्मा से तृप्त हो जाना, न कि दूसरो के प्रति बाहर अभिव्यक्ति होना। अपने 'आन्तरिक सम्भाषण' की सहायता से एक रहस्यवादी अपने बाह्य आत्मा का उन्मूलन और अपनी अन्तरात्मा या 'हृदिस्था' की खोज करता है। दूसरी ओर पश्चिमी शिक्षा जो कुछ गोचर है उसकी ओर जाती है इसलिए अभिव्यक्ति के एक ऐसे स्वरूप की खोज करती है जिसे दूसरे समझ सकें।

निष्क्रिय शिक्षा में अस्तित्व और गोचर जगत का सम्मिलन नहीं होता, मनुष्य का अस्तित्व कुछ और भी चाहता है जिसे उसका बाह्य जगत उसे देने में असमर्थ है। ऐसी निष्क्रिय शिक्षा स्वभावत झूठे व्यक्तियों को जन्म देगी। इसके परिणाम हैं निराशा, पाखंड और विकृति। दूसरी ओर सक्रिय शिक्षा के अन्तर्गत व्यक्ति तत्काल विश्व के सम्पर्क में आ जाता है, वह उसके अन्तरतम में पहुँच जाता है, वह उसका सृजन करता है। चूँकि दूसरे लोग उसके अन्त करण में प्रवेश नहीं कर सकते, इसलिए आधुनिक मानव ने उनके साथ संविदात्मक संबंध स्थापित कर लिया है। खुले अन्त करण का फल होता है आध्यात्मिक विनिमय। इस तथ्य को शुद्ध समाज शास्त्रीय दृष्टि से लम्लाय और तोनीज ने समझा था, परन्तु एक अधिक व्यापक दृष्टि से देखने पर हमें इसमें मानव अस्तित्व के दो अनुपूरक पहलू देखने को मिलगे।

शिक्षा-दर्शन म दो पृथक् संकल्पनाओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है. (क) वह शिक्षा जिसका संबंध आदर्श मूल्यों से है, और जो बच्चों में मानवता के आदर्शों को रोपने के लिये है, (ख) वह शिक्षा जिसका संबंध सामाजिक वास्तविकताओं से है। हर युग और हर समाज के अपने-अपने 'असल मानव' प्रकार होते हैं। परन्तु ये सभी प्रकार ऐसे नहीं हैं जो भिन्न भिन्न परिस्थितियों में बदल जायें और अस्थायी हों। कुछ प्रकार ऐसे हैं जो विभिन्न सभ्यताओं या संस्कृतियों म भले ही पैदा हुए हैं, पर उनकी कुछ सामान्य विशेषताएँ एक-सी हैं। दस्तकार, योद्धा, पुजारी-पुरोहित व्यापारी, किसान, नगर-वासी, पड़ोसी और नातेदार समाज के हर स्वरूप में देखने को मिलगे, चाहे वह समाज बड़ा हो या छोटा, आदिम हो या विकसित प्राचीन हो या आधुनिक। चाहे ये मानव समाज स्वयं ही क्यों न बदल जाय परन्तु मनुष्यों के इन प्रकारों की प्रमुख विशेषताएँ ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। एक दस्तकार, या पुरोहित या किसान की शिक्षा उन मूलभूत सिद्धान्तों के अनुसार होनी है जो लगभग सभी सभ्यताओं में एक से हैं। इसलिये यह बहुत सम्भव है कि सामाजिक दशा के पहले भी एक स्वायत्त शिक्षा विज्ञान का निर्माण कर लें, प्रयास में लाया जा सके। ये प्रकार-भेद इतने अधिक हैं कि एक जाति विशेष के भीतर, या रक्त अथवा भौतिक हितों द्वारा परस्पर बँधे किसी समुदाय के भीतर जो उप भेद वर्तमान हैं उनकी गिनती करना असम्भव है। यह शिक्षक का कार्य होगा कि वह सर्वप्रथम एक सामाजिक प्रकार के प्रमुख तत्वों का अध्ययन करे, और यह समाजशास्त्री का कार्य होगा कि देश और काल के अन्तर से जो भेद उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें स्पष्ट करे।

सामाजिक समवायों का विस्तृत अध्ययन करने के लिए शिक्षा समाज-शास्त्रियों की सहायता लेगी। समाज विशेष के ढांचे की सही जानकारी के बिना किसी भी शिक्षा प्रणाली का उपयोग ठीक ढंग से नहीं किया जा सकता। भविष्य की शिक्षा पूरब और पश्चिम की पारस्परिक सद्भावना पर तभी आधारित की जा सकती है जब समाज के सामान्य ढांचे के भीतर विद्यमान हर एक मानव समवाय का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाय।

तितिम्मा : पूरब और पश्चिम के अन्तर-सांस्कृतिक संबंध

प्राचीन समय में संसार के दो भागों में जो सांस्कृतिक और दार्शनिक संबंध रहे हैं यहाँ पर मैं उनकी संक्षिप्त चर्चा करना चाहूँगा। हिन्दू विचारधारा पर सिकंदर के समय में जो यूनानी प्रभाव पड़ा था उसकी चर्चा मैं ऊपर कर आया हूँ। अशोक के समय में यूनानी-बौद्ध संस्कृति, और बाद में यूनानी-ईरानी संस्कृति के प्रभाव से ऐसी रचनाएँ हुईं जो दो सभ्यताओं का मिश्रण थीं। और पाली-बौद्ध मत को तो अपने जन्मस्थान से बाहर ही अधिक अंगीकार किया गया। फान ल काक, मूलर, गृनवेदेल, आरेल स्टाइन जैसे विद्वानों ने जो पुरातत्व संबंधी खुदाइयाँ करवाईं उनके इस सभ्यता से संबंधित जो मालूमातें हुईं हैं उनमें से अधिक का अभी तक विधिवत् अध्ययन नहीं हुआ है।

इन विद्वानों के प्रयत्नों से १९१४ के बाद से हम मेनिकेइज्म (दैत्यादित्यवादी) बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म के धर्म ग्रंथों से परिचित हुए। उनसे पता चलता है कि मध्य एशिया में इन धर्मों का जन्म और प्रसार कैसे हुआ। बाबुल (बेबिलोनिया) के धर्म-विरोध समन्वय के उत्तराधिकारी, 'मेनिकेइज्म' ने यहूदी धर्म को छोड़ कर मध्य तथा निकट पूरब के सभी धर्मों को अपने में मिला लिया था, इसमें ईसाई धर्म के त्रिदेव, अवतारवाद, ब्राह्मण धर्म के पुनर्जन्मवाद और पारसी धर्म के द्वैतवाद, इन सभी भावनाओं का समावेश था। इसका मानव का आदर्श-बुर्कान–चौथी और पाँचवीं शताब्दी में तुर्किस्तान से अबीसीनिया तक फैल गया, और ईसाई धर्म के भीतर द्वैतवादी विधर्म के रूप में प्रकट होकर पोलीशियनों, बोगोमिलों, पैटेरिनों और कैथेरिस्टों के साथ कुस्तुन्तुनिया के रास्ते रूस और सारे मध्य यूरोप में घर कर गया।

आगस्टस का आधा जीवन इस धर्म के प्रभाव में बीता। इस्लाम ने 'जिन्दीक़' कह कर इसका खंडन किया, यद्यपि इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार सभी धार्मिक विश्वासों का आदर किया जाना चाहिये। प्रारंभ के अब्बासी खलीफाओं ने, जो कि स्वतंत्र विचारों के थे, सभी मतों के प्रति सहिष्णुता दिखलाई

थी, और पूरब में एक नव-जागरण का प्रयत्न किया था। इसलिये उन्होंने सीरियाई और यहूदी धार्मिक नेताओं के साथ साथ मैनिकियनों को भी बैतुल-खलीफा में सुरक्षित रखा। परन्तु इस उदार सहिष्णुता के कुछ ही समय बाद 'जनादिका' ने भर्त्सना शुरू कर दी। इस्लाम ने 'मेनिकेइज्म' को इसलिए अपना शत्रु माना क्योंकि उसमें एक परात्मा को एक विश्वव्यापी और सृजनकारी सत्ता के रूप में अस्वीकार किया, और इसलिए कि उसका झुकाव साम्यवाद की ओर था। सिकंदर के बाद सीरियन और याकूबी सम्प्रदायों के प्रभाव से एक ऐसे युग का जन्म हुआ जिसकी रुचि ग्रंथों का अनुवाद और उनका भाष्य करने और यूनान और यूनानी सभ्यता की विचारधारा की व्याख्या करने में रही है। यहाँ पर हिन्दू प्रभाव की चर्चा भी कर देनी चाहिये, यद्यपि यह प्रभाव अपेक्षाकृत बहुत कम था।

नवीं शती के बाद के युग में इस्लामी विचारधारा का विकास हुआ। यूनानी विचारधारा का प्रभाव तो जारी रहा, परन्तु उसमें धर्म और अरस्तू के दर्शन का एक सम्मिलित रूप भी जुड़ गया। धर्म-शास्त्रियों ने 'समझौते' की इन सभी वृत्तियों को शीघ्र ही अस्वीकार कर दिया। इस्लामी विचारधारा वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से नवीं और ग्यारहवीं शती के बीच विकास के शिखर पर पहुँच गयी थी, इस्लाम का यह कार्य बगदाद से बहुत आगे तक बढ़ गया और समरकन्द अल-काहिरा, सेवील्ल, तोलेदो और सिसली के समान दूर देशों में भी इसकी स्थापना हुई। मध्ययुग के आरम्भ में मानवी विद्याओं की एकमात्र भाषा अरबी थी, और, हजरत मोहम्मद के देशवासियों के अलावा ईरानियों और तुर्कों ने भी वैज्ञानिक कार्य में भाग लिया। पश्चिम के निवासियों ने भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्दलूसिया, उत्तरी अफ्रीका और सिसली की इस्लामी संस्थाओं की यात्रा की। इस प्रकार एक ऐसा युग आया जिसमें अनेक यूनानी ग्रंथों का उनके अरबी भाष्यों के साथ अरबी से लैटिन में अनुवाद हुआ और साथ ही मौलिक इस्लामी ग्रंथों का भी। कुछ उल्लेखनीय नाम ये हैं—अलबतानी, अलहजेने, अलराजस, अलबुबाटूर, अलखुरासानी, अलगोरिज्मी, इब्नजोअर, इब्नबतूर, इब्नसिना, अलफराबी, अलगजाली इत्यादि। मध्ययुग में जब ईसाई धर्म का नव-जागरण हुआ, उस समय तेरहवीं शताब्दी तक यह अनुवाद-कार्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

जिहादी युद्धों से उत्पन्न शत्रुता के बावजूद भी संसार के दोनों भागों ने चौदहवीं शताब्दी तक अपने सांस्कृतिक और बौद्धिक संबंधों को बनाये रखा। एच० एच० शेडर ने इब्न अरबी के 'पूर्ण मानव' का मूल मेनिकेन्स के 'दुर्नान' में खोजा

है, मार्विन का मत है कि प्रकाशवादी विचारधारा का स्रोत पारसी धर्म में है। एम० ए० पैलेसियोस ने अल गज़ाली का सूक्ष्म प्रभाव पास्कल तक में देखा है। यह प्रभाव स्पेन के पादरी रामरोम मार्ती से आया जिसने पास्कल को प्रेरित किया था और जिसने स्वयं गज़ाली से प्रेरणा पायी थी (यद्यपि उसने गज़ाली के शब्दों को उद्धृत नहीं किया है)। जब जर्मनी के सम्राट् और नेपल्स के राजा फ्रेडरिक द्वितीय ने यूनानी दर्शन से संबंधित कुछ प्रश्न किये तो इब्न सबईन ने उसका उत्तर देने के लिये अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'द सिसलियन रिपब्लिक' रचा। अंत में, पैलेसियोस के अनुसार दान्ते ने अपनी 'डिवाइन कामेडी' का आदर्श इब्न अरबी द्वारा किये गये लोकान्तरवादी वर्णन के 'रहस्यवादी आरोहण' (फ़ुतुहतो अल-मक्किया) में पाया।

जहाँ तक भारत का संबंध है, यहाँ सभी युगों में ईरानी प्रभाव पड़ा, इस्लाम का प्रभाव महमूद गज़नवी (११७५-१२४०) के आक्रमण से आरम्भ हुआ। तुर्कमंगोल सम्राटों के नीचे, धर्म की दृष्टि से, शासन अत्यधिक उदार था, और शाह अकबर और अकबर-नामा को एक ऐसे मंदिर के निर्माण का श्रेय है जिसका प्रत्येक भाग एक पृथक् धर्म के लिए बनाया गया था। प्रारम्भ से ही भारत में इस्लाम का विरोध हुआ, वहाँ पर प्रचलित बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा ने इस्लामी एकेश्वरवाद को अस्वीकार कर दिया। मुसलमानों का बुतशिकन दृष्टिकोण और वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनकी अरुचि दोनों धर्मों के बीच एक ऐसी खाई बन गयी जिसे पाटना असम्भव था, और भारत में इस्लाम का वास्तविक प्रभाव वहाँ पर मुस्लिम धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के बाद पड़ना शुरू हुआ (नक्विया, नूरबहचिया, रुखनिया आदि में न केवल मुसलमान हिन्दी ही दीक्षित हुए अपितु ब्राह्मण भी)। अलबेरूनी की भारत संबंधी पुस्तक (किताब मलिल हिन्द) में पातंजलि के विषय में जो कुछ लिखा गया है वह इस प्रभाव का साक्षी है। कोई भी मनुष्य योगी के उतने निकट नहीं था जितना कि सूफी, जिसका संन्यास अहम् के विनाश और ईश्वरोन्मुख प्रेम का समर्थक था। एक बार सूफीमत के प्रभाव में आ जाने पर भारत ने उसमें एक अपने ही एक आदर्श को पाया। साधना में इस्लाम का 'फना' और बौद्ध मत का 'निर्वाण' समान हो गये। प्रेरणा का यह स्रोत इसके अंतिम प्रतिनिधि महात्मा गांधी में उस सर्वेश्वरवाद के रूप में प्रतिफलित हुआ, जो उनके सत्याग्रह का प्राण था।

ईसाई धर्म ने भारत में बहुत धीरे धीरे प्रवेश किया और धर्म-परिवर्तन बहुत कम हुआ। पश्चिम को हिंदू 'आक्रमणकारी मिशनरियों का जन्मस्थान मानते थे। आधुनिक सुधारक टैगोर और गांधी तक ने पश्चिम का विरोध

किया और भारतीयों में देशीय संस्कृति के प्रति प्रेम और आध्यात्मिक कर्तव्य की प्रतीति का आरोपण करने का प्रयत्न किया। परन्तु आज आधुनिकतावाद और रूढ़िवादी हिन्दू दृष्टिकोण के सम्मिश्रण से—यद्यपि इन दोनों के बीच का अंतर समझौते के परे है—भविष्य में एक राष्ट्रीय संबंध की सम्भावना है।

सिकन्दर की 'सांस्कृतिक चढ़ाई' के प्रारम्भिक प्रयास के बाद पश्चिम ने दूसरा प्रयत्न धार्मिक-युद्धों के साथ किया, जो कि व्यर्थ हुआ, परन्तु बाद में पश्चिम ने विशाल महाद्वीपों और प्रदेशों को ढूँढ निकाला और समस्त विश्व को जीत लिया, जिसका फल यह हुआ कि यूरोपीय सभ्यता विश्व-सभ्यता बन गयी। यदि चढ़ाई करने की इस प्रवृत्ति के साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा न होती तो यूरोपीय संस्कृति के विस्तार का कोई अर्थ न होता। खैर, इस दशा में मानव-संबंधी विज्ञानों का जन्म हुआ और प्राकृतिक विज्ञान विकसित हुए।

विजय-मद से पश्चिम का विवेक गर्व रंजित हो उठा। फल यह हुआ कि पूर्वाग्रह के अनेक विषबीज उत्पन्न हो गये, जैसे—प्राचीन सभ्यताओं का विनाश अवश्यम्भावी है, सामाजिक अहम् को अत्यधिक मूल्य देना, जाति श्रेष्ठता, अथवा जाति के किसी वर्ग की श्रेष्ठता को मानना, मानवता का विकास एक ही दिशा में होना अनिवार्य है, तमाम मूल्यों को अस्वीकार करना (यह कह कर कि वे पुराने पड़ गये हैं), मूल्यों के मानदंड का उलट जाना, और मानसिक मूल्यों के स्थान पर सुखवाद के मूल्यों को रखना।

फिर भी, ज्ञान की पिपासा और शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही—जो कि अनेक सांस्कृतिक संबंधों का फल और सारे अतीत की एकमात्र सच्ची देन है—इस नैतिक संकट से संसार का, समस्त संसार का परित्राण करने में समर्थ है।

मानव के विकास में सबसे मौलिक क्रान्ति की अवस्था वह रही है जब जातिगत (राष्ट्रीय) धर्म का विश्वधर्म में संक्रमण हुआ। 'नैसर्गिक' धर्मों की स्थापना व्यक्ति की स्वायत्तता का मूल है, और साथ ही उसकी धर्म निरपेक्षता का भी (अर्थात् धार्मिक पवित्रता के बन्द सम्प्रदाय से लौकिकता और पेगनवाद की ओर संक्रमण), इससे साधुओं, नबियों, संतों, धर्म के लौकिकीकरण और अन्तःकरण की परीक्षा—इस सब की बाढ़ आ गयी।

इस प्रकार समानता, भ्रातृत्व, न्याय तथा मानव-स्वतन्त्रता के विचारों का दोनों ही महाद्वीपों में विकास हुआ। हम अपने चतुष्टय का उद्गम विश्व के धर्मों में पाते हैं, और यह एक ऐसे विश्वधर्म का मार्ग प्रशस्त करता है, जो पूजा और कर्मकांड के स्थानीय भेदों का अतिक्रमण कर चुका हो। इस आदर्श को ठोस आधार पर रख कर वास्तविक रूप देने का उत्तरदायित्व स्वयं उन राष्ट्रों

पर है, जो स्वयं अपनी संस्कृतियों के निर्माता है। यह विश्व-सहयोग का मार्ग नहीं रोकेगा। क्योंकि मानवता पूर्ण रूप मे अनुन्मत्त होकर ही इस कार्य को पूरा करेगी और सामाजिक विविधता में एकता को अपना लक्ष्य बना कर राष्ट्रों को मानव के एकमात्र आदर्श और एकमात्र शिक्षा-प्रणाली की ओर ले जायेगी।

मनुष्य की संकल्पना और शिक्षा दर्शन, पूरब और पच्छिम के देशों में

ए० आर० वाडिया

यूनेस्को सचिवालय ने जो बुनियादी-दस्तावेज़ तैयार किया है उसकी प्रेरणा एक ऐसे जीवन-दर्शन का विकास करने की इच्छा से मिली है, जो राष्ट्र सघ और यूनेस्को के मूल मे निहित एक विश्व के आदर्श का आधार बन सके। उसके श्रेय में यह कहा जा सकता है कि उसने पूरब और पच्छिम के बीच के अतर को भुलाये बिना आज के राजनीतिक और आर्थिक विकास में वह भविष्य की विश्व-सभ्यता की सभावना देखी है, और इसके लिए वह उन विचार-विमर्शों से मार्ग-दर्शन चाहता है जिन को उच्च दार्शनिक स्तर पर प्रारभ कराने का विचार है।

किसी दार्शनिक विवाद को उठाने से पहले हमें शब्दावली के ठीक-ठीक अर्थ को स्पष्ट कर लेना जरूरी है जिसका कि प्रयोग किया जाएगा, विशेष रूप से उस हालत में जब उनके मुख्यार्थों और लक्ष्यार्थों के सबध में सहज ही भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पूरब और पच्छिम का केवल भौगोलिक अर्थ बहुत सरल है। परन्तु सास्कृतिक इकाइयो के रूप में जब उन्हें एक दूसरे के विरोध में खडा किया जाये तो गड़बडी होना अवश्यभावी है। हर एक समाजशास्त्री यह जानता है कि देश विशेष के लोगो के विकास पर भूगोल और जलवायु सवन्धी स्थितियो का क्या प्रभाव पडता है,और हम देखते हैं कि यूरोप के विभिन्न राष्ट्रिको के बीच अपनी-अपनी विशेषताएं उसी प्रकार पाई जाती है जिस तरह एशिया जैसे विस्तृत भूखंड के राष्ट्रिको मे। इन में शामी मुसलमान हैं, आर्य ईरानी और हिन्दू हैं, और मगोल चीनी और जापानी है।

इधर कुछ वर्षो से पूरब और पच्छिम के दर्शनो की असमानता दिखलाने का कुछ ऐसा फैशन हो गया है मानो ये दोनो ही एक-एक अलग और सरल सत्ता को दर्शाती हों। यूनेस्को के बुनियादी दस्तावेज़ में यह ग़लती नही की गयी है कि पूरब और पच्छिम के दर्शनों को केवल एक दूसरे से भिन्न मान लिया जाय। उसमें इस तथ्य को नही भुलाया गया है कि लैटिन वर्ग के देश स्लाव देशो से भिन्न है, और यह कि चीनी संस्कृति भारतीय सस्कृति से स्पष्टतया भिन्न हैं, तथा जापान ने, भारत से धर्म का दान और चीन सस्कृति का दान लेकर भी एक अपना पृथक् धर्म विकसित किया है, जिसे चीन और भारत में से कोई अपना मानने को तैयार नही

होंगे। इसी प्रकार मध्यपूर्व ने, जो कि मुख्यत इस्लामी क्षेत्र है, ऐसे जीवन-मूल्यों का विकास किया है जो उसके पूरब और पश्चिम के पड़ोसियों के नवीन मूल्यों से स्पष्ट रूप से भिन्न है। पश्चिम के एक औसत व्यक्ति को 'पूरब' शब्द से भारत और चीन दोनो का बोध होता है, जिन्हें कि एक ही सास्कृतिक इकाई माना जाता है, यद्यपि चीन की प्रवृत्ति अपने निकट पड़ोसी भारत से उतनी अधिक नहीं मिलती जितनी कि परपरागत पश्चिम से। अनेक प्रसिद्ध भारतीय भी चीन को बौद्ध मानते हैं जब कि स्वय चीन के लोग बुद्ध की अपेक्षा कनफ्यूशस से अधिक प्रेरणा लेते है, और जिस किसी हद तक उन्हों ने बुद्ध को स्वीकार किया भी है, तो बौद्धमत के मूलतात्विक पक्ष के कारण नहीं बल्कि उसके नैतिक पक्ष के कारण।

जिसे हम पूरब और पश्चिम का अतर कहते हैं वह वास्तव में यूरोप और भारत का अतर रह जाता है, क्योंकि भारत ने एक ऐसी तत्व मीमासा को जन्म दिया है जो अपने म अद्वितीय है और ससार में कही अपना सानी नही रखती। ऐसा कहते हुए यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि यह मुख्यत अद्वैत वेदात या शकराचार्य के विषय में सत्य है, अन्य भारतीय तत्वमीमासा की पद्धतियो के विषय में नहीं। यदि भविष्य में एक सार्वभौम सस्कृति का विकास करते समय हमें पश्चिम और अद्वैतवादी भारत के असमान दर्शनो को स्थान देना पड़े, तो इस विषय में अपने विचार स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि यह असमानता किस हद तक और कितनी गहरी है।

पश्चिम दर्शन का लक्ष्य सदा ही विश्व के बाह्य रूप को और या उसके पीछे सत्य को जानना रहा है। प्रत्येक युग में ज्ञान के लिए ही ज्ञान प्राप्त करना उसका उद्देश्य है और यही कारण है कि दो सौ वर्ष पहले तक उसने विज्ञान और दर्शन में कोई भेद नही किया। दूसरी ओर भारत में, उपनिषद् काल से ही/ उस 'ज्ञान' को महत्व दिया गया है जिसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, और इस 'ज्ञान' का सबन्ध सत्य की जानकारी से है एक शाश्वत, अपरिवर्तनशील सत्य। स्वभावत सामान्य जीवन की अनित्यता का कोई महत्व नही रह गया, और रहा भी तो दिन प्रतिदिन के जीवन के लिए साधारण सा महत्व। इसने आसपास के ससार से अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना को जन्म दिया है। यहाँ तक की इसमें एक उदासीनता की प्रवृत्ति भी आ गयी है, जिसे मैथ्यू आर्नल्ड ने अपनी इन अमर पक्तियो में बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है —

'आँधी के सामने पूरब सतोषपूर्ण, गहरे तिरस्कार के साथ झुक गया। गरजती हुई सेनायें गुजर गई और वह फिर से चितन में लीन हो गया।' यह केवल कविता नही है, परतु एक ऐसा सत्य है जिससे भारतीय इतिहास का हर पृष्ठ रगा हुआ है।

इससे धर्म के प्रति दर्शन के दृष्टिकोण में एक और भी विशेष अतर आ गया है। यदि सुकरात महान यूरोपीय दार्शनिको की परपरा में प्रथम रहा है तो अपने देश के धर्म-पुरोहितो और परपरागत देवो के विरुद्ध क्राति करने मे भी प्रथम रहा है। वह शहीद हुआ—यूरोप के इतिहास के अनेकानेक शहीदो में सब से प्रमुख। अपने ज्ञान के प्रसार का मूल्य दार्शनिको की तरह ही वैज्ञानिको को भी कारावास, अत्याचार और मौत से चुकाना पड़ा है। भारत में ऐसा कोई भी सघर्ष देखने में नही आया है। वशानुगत मत के रूप में दर्शन धार्मिक परपरा के अन्य सहायक अगो के समान ही एक अग रहा है, और विज्ञान ने एक विनम्र और गौण सहयोग की भाति कभी कोई विरोध नही खड़ा किया। दो प्रतिद्वद्वी सप्रदायो के बीच सघर्ष हुआ है, परतु बात शायद ही कभी शास्त्रीय के आगे बढी हो। जब कभी कोई धार्मिक अत्याचार हुए भी है तो वे व्यक्ति या परिवार को जाति-बाहर करने तक ही सीमित रहे, और यह भी जाति-वर्ण के नियम न मानने के कारण हुआ है नकि पथ-विरोध के कारण। 'अद्वैतवाद' ईश्वरवादी धर्म से सर्वथा मेल खाता है या नहीं, यह एक गभीर प्रश्न है, जिस पर इस छोटे से निबन्ध में विचार नही किया जा सकता। इतना कह देना काफी होगा कि दार्शनिक सिद्धात के रूप में जहा अद्वैतवादी ईश्वर तक को माया जगत में ले आया है, वैसा प्रयोग में वह उतना ही धार्मिक रहा है जितना कि रामानुज या माधव के अनुयायी स्पष्ट ईश्वरवादी।

यदि पश्चिम में दर्शन का अत ज्ञान में है तो अद्वैतवादी भारत में अन्य भारतीय दर्शनो के समान उस ज्ञान का अत आवागमन के चक्र से मुक्त होने में ही है। दूसरे शब्दो में भारतीय दर्शन व्यवहार-पक्षी है। जन्म-मरण के बधनो की यह लौह-शृखला सहज ही नही टूटती। यह तो जन्मजन्मान्तर की साधना है: भक्ति अथवा कर्म या एक अथक परिश्रम, जिसकी परिणति ज्ञान में होती है। दर्शन अपने मे साध्य नही है। वह किसी ऊचे पद को प्राप्त करने का साधन है, अर्थात् जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष। इससे साधन-उपकरणो मे भी अतर आ जाता है, क्योकि यह परमोच्च ज्ञान तर्क शक्ति, या जिसे पश्चिम में सकल्पनाए कहते है, उनके द्वारा साध्य नहीं है। यह एक सहज ज्ञान है, एक दर्शन है, सत्य का अतर्दर्शन है, जो कि शब्दो के परे है, और इसलिये अनिर्वचनीय है। यह एक रहस्यमय तत्व है, जिसका मल है विश्वास। यही कारण है कि भारत में दर्शन के सप्रदाय अनेक है, और उससे भी अधिक है धार्मिक पथ, जो कि मूलत किसी जीवित अथवा दिवगत गुरू पर व्यक्ति विशेष के विश्वास पर आधारित है।

होगे। इसी प्रकार मध्यपूर्व ने, जो कि मुख्यत इस्लामी क्षेत्र है, ऐसे जीवन-मूल्यो का विकास किया है जो उसके पूरब और पच्छिम के पडोसियो के नवीन मूल्यों से स्पष्ट रूप से भिन्न है। पच्छिम के एक औसत व्यक्ति को 'पूरब' शब्द से भारत और चीन दोनों का बोध होता है, जिन्हें कि एक ही सास्कृतिक इकाई माना जाता है, यद्यपि चीन की प्रवृत्ति अपने निकट पडोसी भारत से उतनी अधिक नही मिलती जितनी कि परपरागत पच्छिम से। अनेक प्रसिद्ध भारतीय भी चीन को बौद्ध मानते हैं जब कि स्वय चीन के लोग बुद्ध की अपेक्षा कनफ्यूसस से अधिक प्रेरणा लेते हैं, और जिस किसी हद तक उन्हो ने बुद्ध को स्वीकार किया भी है, तो बौद्धमत के मूलतात्विक पक्ष के कारण नही बल्कि उसके नैतिक पक्ष के कारण।

जिसे हम पूरब और पच्छिम का अतर कहते हैं वह वास्तव में यूरोप और भारत का अतर रह जाता है, क्योकि भारत ने एक ऐसी तत्व मीमासा को जन्म दिया है जो अपने में अद्वितीय है और ससार में कही अपना सानी नही रखती। ऐसा कहते हुए यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि यह मुख्यत अद्वैत वेदात या शकराचार्य के विषय में सत्य है, अन्य भारतीय तत्वमीमासा की पद्धतियो के विषय में नहीं। यदि भविष्य में एक सार्वभौम सस्कृति का विकास करते समय हमें पच्छिम और अद्वैतवादी भारत के असमान दर्शनो को स्थान देना पडे, तो इस विषय मे अपने विचार स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि यह असमानता किस हद तक और कितनी गहरी है।

पच्छिम दर्शन का लक्ष्य सदा ही विश्व के बाह्य रूप को और या उसके पीछे सत्य को जानना रहा है। प्रत्येक युग में ज्ञान के लिए ही ज्ञान प्राप्त करना उसका उद्देश्य है और यही कारण है कि दो सौ वर्ष पहले तक उसने विज्ञान और दर्शन में कोई भेद नही किया। दूसरी ओर भारत में, उपनिषद् काल से ही, उस 'ज्ञान' को महत्व दिया गया है जिसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, और इस 'ज्ञान' का सबन्ध सत्य की जानकारी से है एक शाश्वत, अपरिवर्तनशील सत्य। स्वभावत सामान्य जीवन की अनित्यता का कोई महत्व नही रह गया, और रहा भी तो दिन प्रतिदिन के जीवन के लिए साधारण सा महत्व। इसने आसपास के ससार से अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना को जन्म दिया है। यहाँ तक की इसमें एक उदासीनता की प्रवृत्ति भी आ गयी है जिसे मैथ्यू आर्नल्ड ने अपनी इन अमर पक्तियो में बडी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है —

'आँधी के सामने पूरब गर्वोक्तिपूर्ण गहरे तिरस्कार के साथ झुक गया। गरजती हुई सेनायें गुजर गई और वह फिर से चिंतन म लीन हो गया।' यह केवल कविता नही है, परतु एक ऐसा सत्य है जिससे भारतीय इतिहास का हर पृष्ठ रगा हुआ है।

इससे धर्म के प्रति दर्शन के दृष्टिकोण में एक और भी विशेष अतर आ गया है। यदि सुकरात महान यूरोपीय दार्शनिकों की परपरा में प्रथम रहा है तो अपने देश के धर्म-पुरोहितो और परम्परागत देवो के विरुद्ध क्राति करने मे भी प्रथम रहा है। वह शहीद हुआ—यूरोप के इतिहास के अनेकानेक शहीदो में सब से प्रमुख। अपने ज्ञान के प्रसार का मूल्य दार्शनिकों की तरह ही वैज्ञानिकों को भी कारावास, अत्याचार और मौत से चुकाना पडा है। भारत में ऐसा कोई भी सघर्ष देखने मे नही आया है। वशानुगत मत के रूप मे दर्शन धार्मिक परपरा के अन्य सहायक अगो के समान ही एक अग रहा है, और विज्ञान ने एक विनम्र और गौण सहयोग की भाति कभी कोई विरोध नही खडा किया। दो प्रतिद्वद्वी सप्रदायो के बीच सघर्ष हुआ है, परतु बात शायद ही कभी शासनीय के आगे बढी हो। जब कभी कोई धार्मिक अत्याचार हुए भी है तो वे व्यक्ति या परिवार को जाति-बाहर करने तक ही सीमित रहे, और यह भी जाति-वर्ण के नियम न मानने के कारण हुआ है न कि पथ-विरोध के कारण। 'अद्वैतवाद' ईश्वरवादी धर्म से सर्वथा मेल खाता है या नही, यह एक गभीर प्रश्न है, जिस पर इस छोटे से निबन्ध मे विचार नही किया जा सकता। इतना कह देना काफी होगा कि दार्शनिक सिद्धात के रूप में जहा अद्वैतवादी ईश्वर तक को माया जगत मे ले आया है, वहा प्रयोग में वह उतना ही धार्मिक रहा है जितना कि रामानुज या माधव के अनुयायी स्पष्ट ईश्वरवादी।

यदि पश्चिम में दर्शन का अत ज्ञान मे है तो अद्वैतवादी भारत मे अन्य भारतीय दर्शनो के समान उस ज्ञान का अत आवागमन के चक्र से मुक्त होने में ही है। दूसरे शब्दो में भारतीय दर्शन व्यवहार-पक्षी है। जन्म-मरण के बधनो की यह लोह-शृखला सहज ही नही टूटती। यह तो जन्मजन्मान्तर की साधना है' भक्ति अथवा कर्म का एक अथक परिश्रम, जिसकी परिणति ज्ञान मे होती है। दर्शन अपने में साध्य नही है। वह किसी ऊचे पद को प्राप्त करने का साधन है, अर्थात् जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष। इससे साधन-उपकरणों मे भी अतर आ जाता है, क्योकि यह परमोच्च ज्ञान तर्क शक्ति, या जिसे पश्चिम में सकल्पनाए कहते हैं, उनके द्वारा साध्य नही है। यह एक सहज ज्ञान है, एक दर्शन है, सत्य का अतर्दर्शन है, जो कि शब्दों के परे है, और इसलिये अनिर्वचनीय है। यह एक रहस्यमय तत्व है, जिसका मूल है विश्वास। यही कारण है कि भारत में दर्शन के सप्रदाय अनेक हैं, और उससे भी अधिक हैं धार्मिक पथ, जो कि मूलत किसी जीवित अथवा दिवगत गुरु पर व्यक्ति विशेष पर आधारित है।

पश्चिम में श्रौर भारत में एक चौथा अंतर भी है। जब धर्म प्रबल होता तब नैतिक पहलू की अपेक्षा कर्म काड पर अधिक बल दिया जाता है। इस उच्चतम स्तर पर भारत के नैतिक विश्वास किसी भी देश से कम नहीं है। वर्णव्यवस्था, धार्मिक विश्वास की प्रबलता श्रौर अज्ञान तथा उसके साथ चलनेवाले अंधविश्वास, श्रौर सदियो से चली आती राजनीतिक गुलामी ने वर्णव्यवस्था की परपरागत नैतिकता को प्रमुखता दे दी है।

इन बातो के आधार पर हम शायद यह निष्कर्ष निकालने लगें कि पूरब श्रौर पश्चिम सदा एक दूसरे से अलग रहेंगे। कहा जाता है कि किपलिंग ने यही सिखलाया था, यद्यपि उसने दरअसल जो कुछ सिखलाया वह इससे सर्वदा भिन्न था

'जब दो किसी शक्तिशाली जन एक दूसरे के समुख खडे होते हैं तब चाहे वे ससार के किसी भी छोर से क्यो न आये हो उनके आगे पूरब, पश्चिम, सीमा जाति श्रौर जन्म इनमें से कोई भी व्यवधान नहीं बन सकता।'

यद्यपि किसी एक दार्शनिक सम्प्रदाय को देख कर यह धारणा बन सकती है कि भारत ठोस धरती पर नहीं रह कर कहीं बादलो में विचरण करता है तथापि कई दूसरे सम्प्रदाय भी हैं जो ठोस धरती को स्वप्न नहीं मानते। चाहे सारा भारतीय दर्शन ही ससार के रागरगो को विकट माया-जाल कह कर हमें उनसे मुख मोडने का उपदेश क्यो न दे, फिर भी भारतीय जीवन का एक दूसरा पक्ष है जो काव्य, सगीत श्रौर नृत्य में अभिव्यक्त हुआ है, श्रौर जिसने पत्थर श्रौर सगमरमर में भी जीवन का रस भर दिया है। साथ ही भारत के राजाओ ने ऐसा वैभव प्रदर्शित किया है कि वह ससार के कोने-कोने म एक कहानी बन गया है। इसलिये एक ऐसा भी स्थान है जहा भारतीय सस्कृति पश्चिम के सर्वाधिक धर्म निरपेक्ष शिक्षा तक का मुकाबला करती है श्रौर पश्चिम जगत के आर्थिक, राजनीतिक श्रौर चिकित्सा सबधी विचारो से पग-पग पर मुकाबला करने का दावा करती है।

प्राचीन समय में जब कि लबे फासले ऊँचे पहाड श्रौर गहरे समुद्र एक देश को दूसरे से अलग कर देते थे, तब किसी एक सस्कृति के लिये सम्भव था कि वह सबसे अलग अलग रहे जाये। इसका फल यह होता था, कि उसमें श्रेष्टता श्रौर पार्थक्य की भावना आ जाती थी। यह अवश्य है कि नबियो ने सदा से ही मानव-एकता का पाठ पढाया है श्रौर दार्शनिको ने तर्क द्वारा एक उच्च सार्वभौम नैतिकता का विकास किया है, परन्तु गत दो शतियो की वैज्ञानिक प्रगति से ही यह सम्भव हो सका कि आज फासले मिट गये हैं श्रौर ससार के लोग एक दूसरे के इतन निकट

[गये है जितने पहले कभी नही थे। भौतिक विज्ञान ने जो कुछ प्राप्त किया ह तो है ही, पर जातीय तथा राष्ट्रीय श्रेष्ठता के दकियानूसी विचारो को खत्म रने में जीव विज्ञानो और समाज-विज्ञानो का भारी हाथ रहा है। आनुवशिकता [ा प्रभाव पडता है और वह भी अपना काम करती है, परन्तु माहौल में सुधार [ाने से इतना कुछ तो अब भी किया जा चुका है कि, उससे मानवता के लिये एक [ई आशा का सचार हो गया है। हब्शी जाति की हीनता का पक्ष लेनेवाले इस [ात की शायद कल्पना भी न करते होगे कि गुलामो के गर्भ से जार्ज वाशिंगटन [ार्वर या बुकर वाशिंगटन के समान प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति पैदा हो सकते है, और [ह कि एक सदी के भीतर हब्शी जाति जीवन के हर क्षेत्र को एक नेता दे सकेगी। [यों ही गौरागो की श्रेष्ठता की कल्पना मिथ्या सिद्ध हो जायेगी और राजनीतिक [मन का जोर इस हद तक कम हो जायेगा कि अफ्रीका के आदिवासियो को शिक्षा [अवसर प्राप्त होने लगगे, तो अमेरिका में जो चमत्कार हुआ है वही अफ्रीका [ें भी सभव हो जायेगा।

एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न हो सकता है, पर प्रत्येक में अच्छाई के तत्व वर्तमान [ै, जिनका पूर्ण विकास करने की आवश्यकता है—हाँ, उन कमियो को हमें छोड [देना होगा जिनका कारण शारीरिक अस्वस्थता और अस्वस्थ वातावरण है। किसी माहौल को सुधारने के लिये शिक्षा में सुधार करने के समान आवश्यक कोई दूसरा तत्व नही है। मानव जाति का सुधार करने के लिये यह सब से जबरदस्त शक्ति है, और मानव का भविष्य शिक्षा के प्रश्न से ही बँधा हुआ है। परन्तु शिक्षा पर ही ठीक तरह से विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि हम शिक्षा की वर्तमान प्रणाली की बुराइयो के प्रति सजग हो लें। मैं सिर्फ शिक्षा पद्धति की बुराइयों की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। ये तो सिर्फ बारीकियां है, जिनका कोई आन्तरिक महत्व नही है, क्योकि शिक्षा के बुरे तरीको ने भी अच्छे व्यक्तियो और अच्छे विद्वानो को जन्म दिया है। मेरे मन में जो बात है वह इससे गहरी है, वह है शिक्षा की विषय-वस्तु। इस सबध में तीन दोष नजर आते हैं।

जहरीली धार्मिक कट्टरता अब सभी देशो में लगभग मर चुकी है। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे जीवन में धर्म का सम्भवत यह महत्व नही रहा है जो कि पहले था। साधारण तौर पर यह आलोचना की जाती है कि आधुनिक शिक्षा का झुकाव अधार्मिकता की ओर हो गया है, कम-से-कम मेरे देश में तो ऐसा ही है, और भारत के शिक्षाविदों में सामान्यतया धार्मिक शिक्षा के प्रति गहरा अविश्वास है। उनका यह भय है कि इससे पुराने पूर्वाग्रहो को बढ़ावा मिलेगा और पिछड़ी हुई धारणाओ को भी बल मिलेगा, जिससे अन्त में अच्छाई होने के

आ गये है जितने पहले कभी नही थे। भौतिक विज्ञान ने जो कुछ प्राप्त किया वह तो है ही, पर जातीय तथा राष्ट्रीय श्रेष्ठता के दकियानूसी विचारो को खत्म करने में जीव-विज्ञानो और समाज-विज्ञानो का भारी हाथ रहा है। आनुवंशिकता का प्रभाव पडता है और वह भी अपना काम करती है, परन्तु माहौल में सुधार होने से इतना कुछ तो अब भी किया जा चुका है कि, उससे मानवता के लिये एक नई आशा का सचार हो गया है। हब्शी जाति की हीनता का पक्ष लेनेवाले इस बात की शायद कल्पना भी न करते होंगे कि गुलामो के गर्भ से जार्ज वाशिंगटन कार्वर या बुकर वाशिंगटन के समान प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति पैदा हो सकते हैं, और यह कि एक सदी के भीतर हब्शी जाति जीवन के हर क्षेत्र को एक नेता दे सकेगी। ज्यो ही गौरागो की श्रेष्ठता की कल्पना मिथ्या सिद्ध हो जायेगी और राजनीतिक दमन का जोर इस हद तक कम हो जायेगा कि अफ्रीका के आदिवासियो को शिक्षा के अवसर प्राप्त होने लगेंगे, तो अमेरिका में जो चमत्कार हुआ है वही अफ्रीका में भी सभव हो जायेगा।

एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न हो सकता है, पर प्रत्येक में अच्छाई के तत्व वर्तमान हैं, जिनका पूर्ण विकास करने की आवश्यकता है—हाँ, उन कमियो को हमें छोड देना होगा जिनका कारण शारीरिक अस्वस्थता और अस्वस्थ वातावरण है। किसी माहौल को सुधारने के लिये शिक्षा में सुधार करने के समान आवश्यक कोई दूसरा तत्व नही है। मानव जाति का सुधार करने के लिये यह सब से जबरदस्त शक्ति है, और मानव का भविष्य शिक्षा के प्रश्न से ही बँधा हुआ है। परन्तु शिक्षा पर ही ठीक तरह से विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि हम शिक्षा की वर्तमान प्रणालों की बुराइयो के प्रति सजग हो लें। मै सिर्फ शिक्षा पद्धति की बुराइयो की चर्चा नही कर रहा हूँ। ये तो सिर्फ बारीकिया हैं, जिनका कोई आन्तरिक महत्व नही है, क्योंकि शिक्षा के बुरे तरीको ने भी अच्छे व्यक्तियो और अच्छे विद्वानो को जन्म दिया है। मेरे मन में जो बात है वह इससे गहरी है, वह है शिक्षा की विषय-वस्तु। इस सबध में तीन दोष नजर आते हैं।

जहरीली धार्मिक कट्टरता अब सभी देशो में लगभग मर चुकी है। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे जीवन में धर्म का सम्भवत· वह महत्व नही रहा है जो कि पहले था। साधारण तौर पर यह आलोचना की जाती है कि आधुनिक शिक्षा का झुकाव अधार्मिकता की ओर हो गया है, कम-से-कम मेरे देश में तो ऐसा ही है, और भारत के शिक्षाविदों में सामान्यतया धार्मिक शिक्षा के प्रति गहरा अविश्वास है। उनको यह भय है कि इससे पुराने पूर्वाग्रहो को बढ़ावा मिलेगा और पिछड़ी हुई धारणाओ को भी बल मिलेगा, जिससे अन्त में अच्छाई होने के

पश्चिम में और भारत में एक थोथा अतर भी है। जब धर्म प्रबल होता है तब नैतिक पहलू की अपेक्षा धर्म काड पर अधिक बल दिया जाता है। अपने उच्चतम स्तर पर भारत के नैतिक विश्वास किसी भी देश से कम नहीं है। परतु वर्णव्यवस्था, धार्मिक विश्वास की प्रबलता और अज्ञान तथा उसके साथ चलनेवाले अधविश्वास, और सदियो से चली आती राजनीतिक गुलामी ने वर्णव्यवस्था की परपरागत नैतिकता को प्रमुखता दे दी है।

इन बातो के आधार पर हम शायद यह निष्कर्ष निकालने लगें कि पूरब और पश्चिम सदा एक दूसरे से अलग रहेंगे। कहा जाता है कि किपलिंग ने यही सिखलाया था, यद्यपि उसने दरअसल जो कुछ सिखलाया वह इससे सर्वथा भिन्न था

'जब दो किसी शक्तिशाली जन एक दूसरे के समुख खडे होते है, तब चाहे वे ससार के किसी भी छोर से क्यो न आये हो, उनके आगे पूरब, पश्चिम, सीमा, जाति और जन्म इनमें से कोई भी व्यवधान नही बन सकता।'

यद्यपि किसी एक दार्शनिक सप्रदाय को देख कर यह धारणा बन सकती है कि भारत ठोस धरती पर नही रह कर कही बादलो में विचरण करता है, तथापि कई दूसरे सप्रदाय भी हैं जो ठोस धरती को स्वप्न नही मानते। चाहे सारा भारतीय दर्शन ही ससार के रागरगो को विकट माया-जाल कह कर हमें उनसे मुख मोडने का उपदेश क्यो न दे, फिर भी भारतीय जीवन का एक दूसरा पक्ष है जो काव्य, सगीत और नृत्य में अभिव्यक्त हुआ है, और जिसने पत्थर और सगमरमर में भी जीवन का रस भर दिया है। साथ ही भारत के राजाओ ने ऐसा वैभव प्रदर्शित किया है कि वह ससार के कोने-कोने में एक कहानी बन गया है। इसलिये एक ऐसा भी स्थल है जहा भारतीय सस्कृति पश्चिम के सर्वाधिक धर्म निरपेक्ष शिक्षा तक का मुकाबला करती है और पश्चिम जगत के आर्थिक, राजनीतिक और चिकित्सा सबधी विचारो से पग-पग पर मुकाबला करने का दावा करती है।

प्राचीन समय में जब कि लबे फासले ऊँचे पहाड और गहरे समुद्र एक देश को दूसरे से अलग कर देते थे, तब किसी एक सस्कृति के लिये सम्भव था कि वह सबसे अलग-अलग रहे आये। इसका फल यह होता था कि उसमें श्रेष्ठता और पार्थक्य की भावना आ जाती थी। यह अवश्य है कि कवियो ने सदा से ही मानव-एकता का पाठ पढ़ाया है और दार्शनिको ने तर्क द्वारा एक उच्च सार्वभौम नैतिकता का विकास किया है, परन्तु गत दो शतियों की वैज्ञानिक प्रगति से ही यह सम्भव हो सका कि आज फासले मिट गये हैं और ससार के लोग एक दूसरे के इतने निकट

होगा राष्ट्रीयता की इस प्रवृत्ति को रोक कर काबू में करना। एक पीढी में दो विध्वसकारी युद्ध और क्षितिज पर तीसरे युद्ध की घटाएँ इसकी पुष्टि करती हैं, और यूनेस्को के लिये, जो कि लोगो के मनो में शान्ति के बीज बोना चाहता है, इससे बडा और कोई काम नही होगा कि वह अपनी सारी सच्चाई के साथ इस प्रश्न को हल करे। यह उचित ही है कि हर एक बच्चा अपने देश और अपने देशवासियो का इतिहास जाने, परन्तु यह अब तक कुछ इस तरह से किया गया है कि अपने देश को अत्यधिक महत्व दे दिया गया और दूसरे देशो के इतिहास का एक विकृत चित्र खीचा गया। मैं सोचता हूँ कि इस समस्या पर यूनेस्को ने काम करना शुरु कर दिया है। विभिन्न देशो का इतिहास लिखना कोई खेल नही है। इस दोष को दूर करने का सरल तरीका शायद एक विश्व इतिहास लिखना होगा, जिसमें विभिन्न लोगो और राष्ट्रो की महानताओ को ठीक पृष्ठभूमि में रखा जायेगा। इस प्रकार की पुस्तक को स्कूल में पढाने से एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति का जन्म होगा जो सारी मानवता को एक समझेगी, और पूरब तथा पच्छिम मे फैली उसकी विभिन्न शाखाओ को ऐसे सह परिवारो के रूप में जानगी जिन्होंने अपने अपने ढग पर मानव प्रगति के लिये प्रयत्न किया है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि ऐसा इतिहास युद्धो और राजाओ पर कम बल देगा और साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन, नैतिकता और धर्म के क्षेत्र मे सभी राष्ट्रो के महान् व्यक्तियो की सफलताओ पर अधिक।

हमारी आज की शिक्षा का तीसरा दोष आज ससार भर में फैल गया है और वह है अत्यधिक विशिष्टीकरण। ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो चुका है कि जो लोग अनुसधान में लगे हुए हैं उनके लिए विशिष्टीकरण अवश्यम्भावी है। पर सभी वर्गो के लिए उस प्रकार की शिक्षा को बढावा देना जरा विचारणीय होगा, क्योकि उनमें से कुछ ही लोग विशेषज्ञ होना चाहेंगे और अधिकतर लोगो को तो रोजमर्रा की जिन्दगी का भार ही ढोना पडेगा। हम यह जानते हैं कि उद्योगवाद से तो हमें सिर्फ लाभ ही नही हुआ है। इसने काम में ऐसी वैचित्र्य-शून्यता ला दी है कि जिसने शिल्पकारो की सहज सृजनशीलता को नष्ट कर दिया है। जीवन की इस नीरसता को कम करने का कोई साधन अवश्य होगा और उस साधन को वही शिक्षा प्रणाली दे सकती है जो सम्पूर्ण मानव को अपनी दृष्टि में रखती है शिल्पकार के रूप में मनुष्य, जो काम करने में आनन्दित रहता है, चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला और सगीत में छिपे सौन्दर्य से प्रेम करनेवाला मनुष्य, विचारक मनुष्य, सामाजिक मनुष्य, भागवत सत्य की खोज में लगा करता हुआ मनुष्य।

स्थान पर बुराई ही होगी। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिये कि हृदय से मनुष्य आध्यात्मिक या धार्मिक है। डाक्टर राबर्ट मिलिकन के स्तर के व्यक्ति ने, जो कि नोबेल पुरस्कार विजेता हैं, चोटी के भौतिक शास्त्रियों में आगे बताया कि जीवन भर वैज्ञानिक शोध करने के बाद वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि एक दैवी शक्ति है जो मनुष्य की नियति को चला रही है। उन्होंने आगे कहा 'एक शुद्ध भौतिकवादी दर्शन को मैं बुद्धिहीनता की हद समझता हूँ।' अक्सर ऐसा हुआ है कि धर्म ने मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति हमारा दृष्टिकोण सकुचित कर दिया है। मानव जाति का इतिहास इसका बहुविध साक्षी है। कदम-कदम पर नैतिकता ने ईश्वर की सकल्पना को गहरा किया है और उस सकल्पना ने हमारे जीवन के नैतिक आधार को पक्का किया है। ससार में धर्म के विकास का समष्टि रूप में अध्ययन करने से अधिक दिलचस्प और कोई चीज़ नहीं है। परन्तु हमारे स्कूलों में और घरों में जो धार्मिक शिक्षा दी जाती है वह सकुचित दायरे के भीतर ही चलती है, इसमें सच्चाई हो सकती है पर इसका क्षेत्र सीमित होता है। तब इसमें क्या अचरज है कि यह अगर कुछ व्यक्तियों में ससार को बदलने का जोश भर देती है तो दूसरों में अभिमान-जन्य उदासीनता का भी जन्म देती है। सच्चा धर्म वही है जो हर व्यक्ति में एक अतिक्रान्त तथा शुभकारी शक्ति की श्रद्धापूर्ण चेतना को जन्म दे, चाहे उस शक्ति तक पहुँचने के लिए व्यक्ति विशेष उपासना की किसी भी पद्धति को क्यों न अपनाता हो। इस प्रवृत्ति का विकास तभी हो सकता है जब बचपन से ही हमारे लडके-लडकियों को यह सिखलाया जायेगा कि परमात्मा एक है, और सभी-महात्मा एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं। ऐसी सिखलाई मिलने पर बच्चा में सहिष्णुता और परख का विकास होगा और इस चेतना का भी कि मनुष्य ईश्वर प्राप्ति की ओर जानेवाला एक यात्री है। और यह अनुभव होगा कि 'जिस ज्योति ने दूसरी अनगिनत ज्योतियों में अपना प्रकाश भरा है, वह द्वेष की निकृष्ट भावना से अवश्य ही घृणा करती रही होगी।' फिर वे खोज के पथ पर सह-यात्रिक की भाँति एक हो कर आगे बढ़ेंगे। विशाल हृदयता के जो उदार सस्कार बचपन में अर्जित होंगे वे ही पक्की उम्र में अपना फल दिखायेंगे।

आज राष्ट्रीयता एक खतरनाक रोग बन गया है और उसे रोकना ज़रूरी है। यह खतरा अचानक आ खडा हुआ ऐसी बात नहीं है। इसे उन्नीसवी शती की सब से बडी राजनीतिक खोज समझा जाता था, परन्तु इस पर भी एक बुद्धिमान राजनीतिक विचारक ने दूरदर्शिता के साथ कहा था कि बीसवी शती का काम

शिक्षा को हमारे युग के नर-नारियों का फिर से निर्माण करना है। पूरब और पश्चिम के बीच की पुरानी असमानता आज अपनी पिछला द्वन्द खो चुकी है। पश्चिम के 'वालस्ट्रीट' के दिखावटी रग ढग के प्रभाव भी, जिसकी अब भारत, ईरान और चीन में कमी नहीं है, हमें पूरब के करोड़ो व्यक्तियो के जीवन पर पश्चिम का प्रभाव दीख पड़ता है। वैज्ञानिकता की नयी भावना, स्वतन्त्रता का नया सुमार, जीवन की नयी उमग और जिस पूरब को अपरिवर्तनशील कहा जाता है उसमें नारी के नये मान का जो विकास हम देख रहे है, इन सब से हमें भविष्य का पूर्वाभास होता है। इस भविष्य में पश्चिम और 'पूरब' भौगोलिक शब्द मात्र रह जाऐंगे जो किसी पृथक् नैतिक, राजनीतिक, और धार्मिक गुणो का द्योतन नहीं करेंगे। लोकतन्त्र सब को समानता देता है और उसका सब से बडा अस्त्र है शिक्षा।

इस बदली हुई दुनिया में दर्शन को भी बदल जाना होगा ताकि वह पूरबी या पश्चिमी न कहलाये। और हो सकता है कि पश्चिम कर्म और पुनर्जन्म की मूलभूत भारतीय सकल्पनाओं को अब भी स्वीकार कर ले, और शायद पश्चिम की वैज्ञानिक प्रतिभा इन्हें विश्वासो के रूप में स्वीकार करने के स्थान पर उन्हें एक वैज्ञानिक आधार देने में सफल हो सके। इस प्रकार हो सकता है कि भारतीय रहस्यवाद के रहस्यो को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परख कर पश्चिम को जीवन की अनन्त रूपता का अधिक स्पष्ट ज्ञान और जीवन के रहस्यों में अधिक गहरी पैठ मिल सके। इसी तरह से प्राणवान पश्चिम के सम्पर्क से भारत को भी यह सीखना होगा कि जीवन केवल स्वप्न नहीं है। वह एक ऐसी वास्तविक चीज है जिसे यो ही नहीं टाला जा सकता। यदि भारत के नवजात लोकतत्र को केवल राजनीतिक लक्ष्य न बन कर एक वास्तविकता बनना होगा तो उसे समृद्धिशाली जीवन के प्रति एक नयी उमग पैदा करनी होगी। भारत ने जिस शाति का उपदेश दिया है वह सिर्फ युद्ध का प्रतिकार नही है वह भीतरी शान्ति है जिसका अर्थ है आत्मा में और दूसरो के साथ हमारे सबधो में एक सामजस्य, चाहे वे पूरब के हों चाहे पश्चिम के। हमारा प्राप्तव्य होना चाहिये एक ऐसे ससार का निर्माण जिसमें मानव को आत्मा के मदिर और मन के आधार रूप में शरीर की पवित्रता का बोध हो सके, ताकि वह उसे स्वच्छ रखे और उसे सुन्दर और रोग-मुक्त बना सके। उसके मन को सभ्यताओ के समस्त निधि से वैभवशाली बनाना है और उसकी चेतना को उसकी आध्यात्मिक नियति के प्रति सजग करना है। परम सत्य को ही अपना लक्ष्य बना कर हम अपने प्राप्तव्य को पा सकते हैं। यद्यपि व्यावहारिक मनुष्यो के नाते हम गेटे के 'जल्दी किये बिना, परन्तु रुके बिना' वाले से अति सुन्दर कथन के भाव से गिन कर नपे-तुले ही कदम रख सकते हैं।

गोष्ठी के औपचारिक अंतिम अधिवेशन में भाषण

स्थान पर बुराई ही होगी। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिये कि हृदय से मनुष्य आध्यात्मिक या धार्मिक है। डाक्टर राबर्ट मिलिकन के स्तर के व्यक्ति ने, जो कि नोबेल पुरस्कार विजेता हैं, चोटी के भौतिक शास्त्रियों के आगे बताया कि जीवन भर वैज्ञानिक शोध करने के बाद वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि एक दैवी शक्ति है जो मनुष्य की नियति को चला रही है। उन्होंने आगे कहा - 'एक शुद्ध भौतिकवादी दर्शन को मैं बुद्धिहीनता की हद समझता हूँ।' अक्सर ऐसा हुआ है कि धर्म ने मनुष्य और ईश्वर दानों के प्रति हमारा दृष्टिकोण सकुचित कर दिया है। मानव जाति का इतिहास इसका बहुविध साक्षी है। कदम-कदम पर नैतिकता ने ईश्वर की सकल्पना को गहरा किया है और उस सकल्पना ने हमारे जीवन के नैतिक आधार को पक्का किया है। ससार में धर्म के विकास का समष्टि रूप में अध्ययन करने से अधिक दिलचस्प और कोई चीज नहीं है। परन्तु हमारे स्कूलों में और घरो में जो धार्मिक शिक्षा दी जाती है वह सकुचित दायरे के भीतर ही चलती है, इसमें सच्चाई ही सकती है पर इसका क्षेत्र सीमित होता है। तब इसमें क्या अचरज है कि यह अगर कुछ व्यक्तियों में ससार को बदलने का जोश भर देती है तो दूसरो में अभिमान-जन्य उदासीनता को भी जन्म देती है। सच्चा धर्म वही है जो हर व्यक्ति में एक अतिक्रान्त तथा शुभकारी शक्ति की श्रद्धापूर्ण चेतना को जन्म दे, चाहे उस शक्ति तक पहुँचने के लिए व्यक्ति विशेष उपासना की किसी भी पद्धति को क्यो न अपनाता हो। इस प्रवृत्ति का विकास तभी हो सकता है जब बचपन से ही हमारे लडके-लडकियो को यह सिखलाया जायेगा कि परमात्मा एक है, और सभी-महात्मा एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं। ऐसी सिखलाई मिलने पर बच्चो में सहिष्णुता और परख का विकास होगा और इस चेतना का भी कि मनुष्य ईश्वर प्राप्ति की ओर जानेवाला एक यात्री है। और यह अनुभव होगा कि 'जिस ज्योति ने दूसरी अनगिनत ज्योतियो में अपना प्रकाश भरा है, वह द्वेष की निकृष्ट भावना से अवश्य ही घृणा करती रही होगी।' फिर वे खोज के पथ पर सह-यात्रिक की भांति एक हो कर आगे बढ़ेंगे। विशाल हृदयता के जो उदार सस्कार बचपन में अर्जित होंगे वे ही पक्की उम्र में अपना फल दिखायेंगे।

आज राष्ट्रीयता एक खतरनाक रोग बन गया है और उसे रोकना जरूरी है। यह खतरा अचानक आ खड़ा हुआ ऐसी बात नहीं है। इसे उन्नीसवी शती की सब से बडी राजनीतिक खोज समझा जाता था, परन्तु इस पर भी एक बुद्धिमान राजनीतिक विचारक ने दूरदर्शिता के साथ कहा था कि बीसवी शती का काम

होगा राष्ट्रीयता की इस प्रवृत्ति को रोक कर काबू में करना। एक पीढी में दो विध्वसकारी युद्ध और क्षितिज पर तीसरे युद्ध की घटाएँ इसकी पुष्टि करती हैं, और यूनेस्को के लिये, जो कि लोगो के मनो में शाति के बीज बोना चाहता है, इससे बडा और कोई काम नही होगा कि वह अपनी सारी सच्चाई के साथ इस प्रश्न को हल करे। यह उचित ही है कि हर एक बच्चा अपने देश और अपने देशवासियो का इतिहास जाने, परन्तु यह अब तक कुछ इस तरह से किया गया है कि अपने देश को अत्यधिक महत्व दे दिया गया और दूसरे देशो के इतिहास का एक विकृत चित्र खीचा गया। मैं सोचता हूँ कि इस समस्या पर यूनेस्को ने काम करना शुरू कर दिया है। विभिन्न देशो का इतिहास लिखना कोई खेल नही है। इस दोष को दूर करने का सरल तरीका शायद एक विश्व इतिहास लिखना होगा, जिसमें विभिन्न लोगो और राष्ट्रो की महानताओ को ठीक पृष्ठभूमि में रखा जायेगा। इस प्रकार की पुस्तक को स्कूल में पढाने से एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति का जन्म होगा जो सारी मानवता को एक समझेगी, और पूरब तथा पच्छिम में फैली उसकी विभिन्न शाखाओ को ऐसे सह-परिवारो के रूप में जानेगी जिन्होने अपने अपने ढग पर मानव-प्रगति के लिये प्रयत्न किया है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि ऐसा इतिहास युद्धो और राजाओ पर कम बल देगा और साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन, नैतिकता और धर्म के क्षेत्र में सभी राष्ट्रो के महान् व्यक्तियो की सफलताओ पर अधिक।

हमारी आज की शिक्षा का तीसरा दोष आज ससार भर में फैल गया है और वह है अत्यधिक विशिष्टीकरण। ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो चुका है कि जो लोग अनुसधान में लगे हुए हैं उनके लिए विशिष्टीकरण अवश्यम्भावी है। पर सभी वर्गों के लिए उस प्रकार की शिक्षा को बढावा देना ज़रा विचारणीय होगा, क्योकि उनमें से कुछ ही लोग विशेषज्ञ होना चाहेंगे और अधिकतर लोगो को तो रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का भार ही ढोना पडेगा। हम यह जानते हैं कि उद्योगवाद से तो हमें सिर्फ लाभ ही नही हुआ है। इसने काम मे ऐसी वैचित्र्य-शून्यता ला दी है कि जिसने शिल्पकारो की सहज सृजनशीलता को नष्ट कर दिया है। जीवन की इस नीरसता को कम करने का कोई साधन अवश्य होगा और उस साधन को वही शिक्षा प्रणाली दे सकती है जो सम्पूर्ण मानव को अपनी दृष्टि में रखती है : शिल्पकार के रूप में मनुष्य, जो काम करने में आनन्दित रहता है, चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला और सगीत में छिपे सौन्दर्य से प्रेम करनेवाला मनुष्य, विचारक मनुष्य, सामाजिक मनुष्य, भागवत सत्य की खोज में यात्रा करता हुआ मनुष्य।

भारत के प्रधान मंत्री
माननीय श्री जवाहरलाल नेहरू
का भाषण

सभापति महोदय, परमश्रेष्ठगण, बहिनो और भाइयो,

आपने मुझे इस गोष्ठी के अन्तिम अधिवेशन में बोलने का अवसर दिया, उसके लिए मै आपका आभारी हूँ। प्रारम्भिक अधिवेशन में आप सब का स्वागत करने के लिए मै यहाँ उपस्थित न हो सका, इसकी मै माफी चाहता हूँ। मुझे इसकी बडी उत्सुकता थी और जब मै न आ सका तो मुझे बडी निराशा हुई। मै केवल औपचारिक उद्घाटन समारोह के लिए नही आना चाहता था, बल्कि, जैसा कि अध्यक्ष ने कहा है, मै आपके वाद-विवादो व वार्तालापो में किसी-न-किसी ढंग में भाग लेना चाहता था, और उन विवादो से कुछ प्रेरणा लेना चाहता था। आपने मुझे यहाँ बोलने के लिए कहा परन्तु मुझे कुछ सकोच होता है, क्योकि यहाँ दूर-दूर के देशो से आये प्रतिष्ठित मित्र, विशेषज्ञ और बडे अनुभवी पुरुष और स्त्रियाँ मौजूद है। मगर आपके वाद-विवाद के महान् विषय के बारे में मेरा कुछ कहना धृष्टता ही होगी। यदि मुझे आपके कुछ अधिवेशनो में उपस्थित होने का अवसर मिलता तो उस समय जो कुछ कहा गया था, उसे सुनता, शायद कभी उसमें भाग लेता या कोई प्रश्न करता। परन्तु सामान्य रूप से मै सुनता ही रहता, क्योकि आपके दिलो मे क्या है उसे जानने के लिए मै उत्सुक हूँ और उससे हमारे सामने जो समस्याएँ है, उनके समझने में मुझे क्या सहायता मिल सकती है यह जानना चाहता हूँ। क्योकि मेरे विचार मे से अधिकाश लोग समस्याओ की जटिलता से दबे हुए है। हम अपनी दैनिक दिनचर्या में लगे रहते है और प्रतिदिन की कठिनाइयो का सामना करते है, परन्तु यह काफी नही है। यदि कोई, विशेषकर वह जो परिस्थितिवश किसी बडे जिम्मेदार पद पर बैठा हो, इस दैनिकचर्या से पीछे हट कर यह जानना चाहे कि सारे ससार पर प्रभाव डालने वाली समस्याओ को कैसे हल किया जा सकता है तो इन समस्याओ के बारे में सोचे बिना नही रहा जा सकता। पिछले कुछ सप्ताहो में मै इस महान् देश का दौरा कर रहा था और अपने देश की स्त्रियो, पुरुषो और लहरो की तरह उमडते हुए विशाल जन-समूहो को देखता था। और हर समय मेरे मन में यह विचार उठता था कि इन लोगो का क्या बनेगा, वे क्या सोच रहे है, वे और हम किस ओर जा रहे है ? क्योकि हम एक ही किश्ती में सवार है। तब मुझे दूसरे

देशों के जन-समूहों का ख्याल आया। मनुष्यों के इन विशाल समूहों की क्या परिस्थिति है? हम में से कुछ राजनीतिक स्तर पर काम कर रहे हैं, और राष्ट्रों के भाग्य का फैसला करने की कल्पना करते हैं। किसी हद तक हमारे फैसला का प्रभाव इन जन-समूहों पर पड़ता है क्या हम उनका विचार भी करते हैं अथवा पत्रों का आदान-प्रदान करते हुए और कभी-कभी एक दूसरे के विरुद्ध कटु शब्दों का प्रयोग करके हम राजनीतिक और राजनीतिज्ञों के ऊपरी स्तर पर ही विचरते हैं। इस बड़े संसार और उसके विशाल जन-समूहों तथा संक्रमण-काल की जिस भीषण अवस्था में से हम गुजर रहे हैं, इनके प्रसंग में राजनीति एक तुच्छ-सी वस्तु रह जाती है। इसलिये जिन समस्याओं पर आप विचार कर रहे थे, उनके संबंध में मुझे कुछ विशेष नहीं कहना। बल्कि मैं तो आपके सामने उन समस्याओं को रखना चाहता हूँ जो मेरे मन में हैं। बेशक, जब मैं आपके आदमी बहुत की रिपोर्ट पढ़ूंगा तो शायद उससे इन समस्याओं को हल करने की पद्धतियों को समझने में मुझे सहायता मिले।

मेरी बड़ी समस्याओं में से एक यह है कि मुझे ऐसा लगता है कि आज के संसार और जिसे हम मानसिक जीवन कह सकते हैं, इन दोनों में पूर्ण असंगति होती जा रही है—आत्मा के जीवन को अभी मैं नहीं ले रहा हूँ। लेकिन आज का संसार मानसिक जीवन का ही परिणाम है। आखिरकार जो कुछ भी हम अपने चारों ओर देखते हैं या महसूस करते हैं, वह मानव के मन द्वारा ही बनाया गया है। सभ्यता को मानव के मन ने बनाया, परन्तु अचम्भे की बात है कि अब हमें ऐसा लगता है कि आज के संसार में मन का काम कम होता जा रहा है, कम-से-कम उतना नहीं रह गया जितना कि पहले था। कहने का तात्पर्य यह है कि अब मन का मूल्य उतना नहीं रहा। विशेष क्षेत्र में मन की बड़ी कीमत हो, इसमें कोई सन्देह नहीं, इसीलिए हम जीवन के इन विशेष क्षेत्रों में बहुत प्रगति करते हैं। परन्तु आम तौर पर यदि सारे जीवन को देखें तो मन का मूल्य बहुत कम होता जा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है। यदि यह सच है तो इस सभ्यता में, जो हम बना रहे हैं या बना चुके हैं और जो हर दम बदल रही है, कोई बुनियादी गलती है। इतनी तेजी से जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे जीवन की दूसरी स्थितियों को सामने लाते हैं और किसी तरह मन को उस तरह काम नहीं करने देते जैसा कि उसे करना चाहिए, या शायद उस तरह जैसा कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में वह काम किया जाता होगा। अगर यह सच है तो संसार के लिए यह अच्छा दृष्टिकोण नहीं है, क्योंकि इससे हमारी सभ्यता का सारा आधार जिसके बल पर मनुष्य एक-एक कदम करके इतनी ऊँचाई पर

चढ़ा है, और आज जहाँ वह खड़ा है उस भवन का आधार ही नष्ट हो जायेगा।

हम कई आवश्यक चीजो के सबध में बातचीत करते हैं। मैं यहाँ भारत में हर एक चीज के लिए चिंतित हूँ, परन्तु अपने लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओ की मुझे विशेष रूप से चिंता है। मुझे लोगो के आहार, उनके कपडे, उनके आश्रय स्थान व मकान, उनकी शिक्षा, उनका स्वास्थ्य आदि के बारे में चिंता है। लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं और जब तक इन प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति न हो तब तक मन व आत्मा के जीवन के सबध में चर्चा करना मुझे व्यर्थ-सा लगता है। आप किसी भूखे आदमी के साथ ईश्वर सबधी चर्चा नही कर सकते, उसको पहले खाना अवश्य ही देना होगा। इसलिए यह सच है कि हमें इन प्राथमिक आवश्यकताओ का सामना करना पडता है। फिर भी इनका सामना करते हुए भी हमारे सामने एक दूर-स्थित आदर्श या उद्देश्य रहता है। यदि उस आदर्श अथवा उद्देश्य का मनुष्य के मानसिक विकास से सबध कम होता जाये तो अवश्य ही कही कुछ चीज गलत है। मैं नही जानता कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ, वह सच है या आप इससे सहमत हैं। और मुझे यह भी पता नही कि अगर यह सच है तो इसको कैसे सुधारा जा सकता है।

मैं आधुनिक सभ्यता के कारनामो, विज्ञान के विकास, विज्ञान के प्रयोग और तकनीक की उन्नति का बडा प्रशसक हूँ। मानवता को इन पर गर्व होना ही चाहिए। परन्तु यदि इन कारनामो के कारण भविष्य में विकास की क्षमता कम हो जाय (यदि मन बिगड गया तो ऐसा होगा ही) तो निश्चय ही इस पद्धति में अवश्य ही कोई खराबी है। क्योंकि मैं सोचता हूँ कि यह तो स्पष्ट ही है कि अन्त में सब कुछ मन द्वारा शासित होना चाहिए। मैं फिर आत्मा का कोई उल्लेख नही कर रहा हूँ, परन्तु उसका ध्यान अवश्य आ जाता है। यदि ससार को मानसिक ह्रास अथवा नैतिक पतन के कारण कष्ट पहुँचे तो सभ्यता अथवा सस्कृति के मूल पर ही आघात पहुँचता है। सभ्यता चाहे काफी लम्बे समय तक जीवित रहे, यह प्रतिदिन कम होती जायेगी और एक दिन इसका सारा भवन ढह जायगा। जब मैं इतिहास के बीते कालो पर विचार करता हूँ तो कई काल विशिष्ट रूप से मेरे सामने आते हैं, जो निस्सन्देह आज के समय से बहुत भिन्न थे। उन कालों मे मनुष्य के मन ने कई कारनामे दिखाये। दूसरे युगो म ऐसा नही हुआ। हम यह भी देखते है कि कुछ जातियो ने शुरू मे बडे ऊँचे स्तर स्थापित किये और बाद में वे मिट गयी, कम-से-कम अपने कारनामो के दृष्टिकोण से मिट गयी। मुझे अचम्भा होता है कि जिन कारणो से अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर की सस्कृति

मिट गयीं क्या वे आज फिर मौजूद नहीं है, और हमारी सभ्यता के आधुनिक ढाँचे को भीतर से कमज़ोर नहीं कर रहे हैं।

फिर मुझे यह ख्याल आता है कि किस माहौल में आदर्श मानव पनप सकता है। आप शिक्षा की बात कहते हैं, निस्सन्देह वह भी बहुत ज़रूरी है। परन्तु स्कूल और कालेज की शिक्षा के अलावा हमारे चारो ओर का माहौल मनुष्य के विकास पर अपना असर डालता है। आज से पहले कैसे माहौल में इतिहास के स्वर्ण युग बन पाये ? क्या मूलतः आज वैसा माहौल पाया जाता है ? यद्यपि हमने मानव के कई क्षेत्रो में प्रगति की है, परन्तु क्या हम वैसे माहौल की ओर अथवा उसके विरुद्ध जा रहे है। औद्योगिक क्रान्ति जो १७० या २०० साल पहले आरम्भ हुई थी और उसने जो इतने बड़े परिवर्तन किये, जिनमें अधिकतर भलाई के लिए ही थे उनका क्या प्रभाव पड़ा ? मेरे विचार में यह प्रक्रिया अभी तक जारी है और उसकी गति—परिवर्तन की गति— तेज़ होती जा रही है। यह हमें किस ओर ले जा रही है ? इसने हमें एक ही मार्ग दिखाया है और वह है बड़ी लड़ाइयो और शायद इससे भी बड़ी लड़ाई का मार्ग, जिसमें मानवता का एक बड़ी भाग एक नागहानी सर्वनाश की लपेट में आ सकता है।

इन सब बातो में अवश्य ही एक सारभूत विरोध है। क्योंकि अब एक ओर प्रगति व निर्माण और दूसरी ओर विनाशकारी तत्वो के बीच एक होड़ लग गई है, जिसके कारण जो कुछ हमने अब तक बनाया है, उसके नाश होने की सम्भावना है। हम म से अधिकतर लोग इस विश्वास में रह रहे हैं मानो दोनो बाते अनिवार्य हो और हमें उनको सहना ही है। मुझे यह बात बड़ी अजीब लगती है कि एक ओर तो हम निर्माण ही निर्माण कर रहे है, परन्तु साथ ही जो कुछ हम निर्माण कर रहे है, उसके सभावित नाश की भी कल्पना करते जाते है। और इन नाश के बाद मन व आत्मा के बाहरी चिह्न भी नष्ट हो सकते है। मुझे अचम्भा होता है कि क्या यह औद्योगिक क्रान्ति के विकास का परिणाम तो नही है जो कि अपने म नही समा रहा। क्या हमारा उन मूलो के साथ सबध नही रहा जो जाति, मानवता या व्यक्ति को बल देती है। शायद यह उसी तरह है जैसे शहर का रहनेवाला अपनी ज़मीन और कभी-कभी सूरज से भी अपना सबध तोड़ लेता है, और तब आराम ही नही ऐयाशी के साथ कृत्रिम जीवन बिताता है। परन्तु उसमें किसी चीज़ की कभी कमी रह जाती है, वह चीज़ जो मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार ज़मीन और सूरज से अलग हो कर समस्त जातियाँ बनावटी जीवन बिताने लग जाती है ? क्या ऐसा नहीं हो रहा ? यह विचार मुझे परेशान करते है। और मैं देखता हूँ कि यान्त्रिक सभ्यता, जिसने निस्सन्देह

कई सफलताएँ प्राप्त की है और ससार का बहुत उपकार किया है, धीरे-धीरे मनुष्य और उसके मन को प्रभावित कर रही है। जिस मन ने अपनी सहायता के लिए मशीन को बनाया, धीरे-धीरे वह स्वय उस मशीन का दास बन गया है और हम धीरे-धीरे जातीय रूप में यन्त्रचलित से बनते जाते हैं।

मेरे विचार में किसी वर्ग, व्यक्ति अथवा समाज की जीवन-शक्ति इस बात में है कि उसके अन्दर सृजनात्मक कल्पना, साहस आदि किसी हद तक पाये जाते हैं। परन्तु सब से बडी चीज़ सृजनात्मक कल्पना ही है। यदि यह न हो तो हमारा विकास कम होता जाता है और यह नाश का चिह्न है। तो फिर आज क्या हो रहा है? क्या हम इसको सुधारने की कोशिश कर रहे हैं या केवल काम चलाते जा रहे हैं और उस वास्तविकता तक पहुँच ही नही पाते जिसने ससार को क्लेश मे डाला हुआ है और जो राजनीतिक झगडो, आर्थिक सघर्ष अथवा विश्व-व्यापी युद्ध का रूप ले सकता है।

अत जब पूर्वी आदर्श व पश्चिमी आदर्श के रूप में मनुष्य की समस्या के सबध में विवाद होता है तो वह मुझे ऐतिहासिक और सास्कृतिक दृष्टिकोण से दिलचस्प मालूम पडता है, यद्यपि मैंने ससार को पूरब व पश्चिम के दो भागो में बाँटने का सदा विरोध किया है। मेरे विचार में यह तो केवल कहने मात्र से अपने को दो विभागो में विभक्त कर लेना है। मैं इस प्रकार के विभाजनो में विश्वास नही करता। यह जरूर समझता हूँ कि जातीय और राष्ट्रीय दृष्टिकोणो व आदर्शों में भेद रहे हैं, परन्तु पूरब और पश्चिम की अलग-अलग बात सोचना निरर्थक है। पश्चिम, अर्थात् आधुनिक पश्चिम ने—जिसका तात्पर्य यूरोप के एक बडे भाग और दो अमेरिकाओ से है—पिछले दो सौ साल से एक विशेष प्रकार की सभ्यता का विकास किया है जो नि सन्देह रोम या यूनान की कुछ मूलभूत परम्पराओ पर आधारित थी। परन्तु जिस विशाल वैज्ञानिक औद्योगिक विकास की मैं चर्चा कर चुका हूँ उसने ही यूरोप को जो कुछ आज वह है, बनाया है। औद्योगिक और अनौद्योगिक देशो के अन्तर को मैं समझता हूँ। मेरे विचार में मध्य युग में भारत और यूरोप के बीच इतने से अधिक अन्तर नही था जितना एशिया के किन्ही भी दो देशो के बीच पाया जाता था। मुझे लगता है कि पूरब-पश्चिम को अलग-अलग समझने की प्रणाली ठीक नहीं है। इससे हम ठीक प्रकार से सोच नही सकते। औद्योगीकरण और यन्त्रीकरण के द्वारा ही, जिससे भौतिक आराम भी बहुत पहुँचा है और जो मानवता के लिए एक वरदान है, ये अन्तर पैदा हो गये हैं या पहले के अन्तर बढ गये हैं। परन्तु यदि पहले नही तो अब किसी न किसी तरह मानसिक जीवन का क्रमिक नाश

हो रहा है और इस प्रकार मनुष्य आत्म-विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। इस समय मेरा ध्यान युद्धों आदि की ओर नहीं है। हमने इतिहास में देखा है कि एशिया, यूरोप और दूसरे प्रदेशों में जातियाँ ऊपर उठती हैं और फिर मिट जाती हैं। क्या हम भी आज ऐसी ही कोई चीज देख रहे हैं ?

सम्भव है कि यह हमारे जीवन-काल में न हो। पहले समय में इस बात से तसल्ली होती थी कि दुर्घटनायें संसार के किसी विशेष भाग में ही होती हैं। यदि संसार का एक भाग एकाएक निःशक्त भी हो जाता था तो दूसरा भाग अपना काम करता रहता था। परन्तु अब तो जीवन और मृत्यु में सारा संसार एक ही डोरी से बँधा है। यदि सभ्यता मिट जाती है या टूट जाती है तो लगभग सारा संसार उसके साथ नष्ट हो जायेगा। संसार का कोई भाग पुराने समय की तरह अलग नहीं रह सकता था, बच नहीं सकता। जब यूरोप तथाकथित अन्धकार युग में गुजर रहा था तो उस समय एशिया, चीन, भारत, मध्य पूर्व और दूसरे स्थानों में सुवर्ण युग था। इस प्रकार प्राचीन काल में यदि समृद्धि सीमित थी तो अपनी तीव्रता और विस्तार में उस समय विनाश भी सीमित था। अतः अब जब कि हम महान् समृद्धि को पा गये हैं तो बड़े भारी विनाश के भी समीप पहुँच गये हैं। हमारे लिए कोई बीच का रास्ता अपनाना भी जरा कठिन है जिससे थोड़ी प्रगति हो और उससे विनाश का खतरा भी सीमित हो जाय। क्या हम इस विनाश से बच सकते हैं ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन जाता है। मनुष्य की कल्पना की आदर्शवादी कल्पनायें आदि सैद्धान्तिक रूप धारण कर लेती हैं यद्यपि उनका महत्व कम नहीं होता। अतः जिस मनुष्य पर दायित्व का भार हो, उसके लिए इस प्रश्न की व्यावहारिक स्थिति काफी चिन्ता का कारण बन सकती है। मुझे इस बात की खुशी होती कि अगर यह सम्मेलन इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डालता। औद्योगिक क्रान्ति के विकास से जो स्थिति पैदा हो गयी है उससे व्यक्ति को सोचने का समय नहीं मिलता, उसे वह अवसर ही नहीं मिलता है। इसलिए क्या मेरा यह कहना न्याय-संगत है कि संसार का मानसिक जीवन पतन के पथ पर है। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि आज भी कई बड़े विचारक हैं। परन्तु यह सम्भव है कि न सोचने वाले विशाल जन-समूह के आगे उनकी कुछ न चले।

और फिर हम लोकतन्त्र के बारे में बहुत कुछ कहते हैं और उसके साथ हमारा वास्ता भी पड़ रहा है। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं होता कि मनुष्यों पर शासन करने के लिए हमारे पास जो भी पद्धतियाँ हैं, लोकतन्त्र उन सब में श्रेष्ठ है। परन्तु साथ ही हम आज यह भी देख रहे हैं—आज से मेरा मतलब पिछले दस या बीस

बरस से है—लोकतन्त्र एक बड़े पैमाने पर, परन्तु कुछ अनियमित ढंग से फैल गया है। जब हम लोकतन्त्र के बारे में विचार करते हैं तो हमारा विचार आमतौर पर उसकी उस सीमित अवस्था की ओर जाता है, जो उन्नीसवीं शती या बीसवीं शती के शुरू में पायी जाती थी, परन्तु अब उसके बाद यह हुआ है कि तकनीक के विकास के कारण लोकतन्त्र ने बालिग मताधिकार या ऐसे दूसरे उपायों का रूप ले लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण ऐसे लोगों का विशाल जन-समूह पैदा हो गया है जो भौतिक सुविधाओं की दृष्टि से अपने से पहले की पीढ़ियों की अपेक्षा कहीं अधिक आराम से रह रहा है, परन्तु वे शायद ही कभी सोचते हैं या शायद ही कभी उन्हें सोचने का अवसर मिलता है। परन्तु साथ ही साथ यह भी है कि लोकतन्त्र की पद्धति में मनुष्यों के इस विशाल जन-समूह को ही शासन करना है या उन लोगों को चुनना है जो शासन करेंगे।

तो क्या यह हो सकता है कि वे ठीक प्रकार के, या कमोबेशी ठीक प्रकार के व्यक्ति चुनें ? यह कुछ शकवाली बात है। मेरे विचार में यह बात बिना किसी कटुता के कही जा सकती है—और मैं तो इसे जरूर कह सकता हूँ, क्योंकि मैं राजनीतिज्ञों के वर्ग में से हूँ—कि बालिग मताधिकार की पद्धति से जो आदमी चुने जायेंगे उनकी योग्यता धीरे धीरे घटती जायेगी। कई योग्य आदमी भी चुने जाते हैं, इसमें कोई शक नहीं। परन्तु धीरे-धीरे न सोचने की आदत के बढ़ने से और प्रचार की आधुनिक पद्धतियों के विकास के कारण योग्यता में कमी अवश्य आ जायेगी। इश्तहारबाजी के इस शोर-शराबे की पद्धति से आदमी सोच नहीं पाता। इस शोर-शराबे की प्रतिक्रिया उस पर होती है और वह या तो एक तानाशाह और या एक नितांत राजनीतिज्ञ को चुन लेता है। जो संवेदनशील नहीं है, जो इस सब शोर शराबे को सह सकता है और अपनी स्थिति कायम रख सकता है, वही चुनाव में सफल होता है। परन्तु जो इसको सहन नहीं कर सकता वह रह जाता है। यह एक अजब स्थिति है। लोकतन्त्र के विकास की प्रशंसा हम कर सकते हैं, परन्तु जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह लोकतन्त्र को लेकर नहीं, अपितु इस तथ्य को ले कर है—और यहाँ मैं अपनी पहली बात पर फिर आता हूँ—कि आधुनिक जीवन मानसिक जीवन का प्रोत्साहित नहीं करता। यदि स्थिति यही है, अर्थात् मन के जीवन का प्रोत्साहन नहीं मिलता, तब मेरे विचार से अनिवार्य रूप में इसका यह परिणाम निकलता है कि सभ्यता का ह्रास होता है, ग्लानि या ह्रास होता है और अन्त में या तो यह किसी आकस्मिक स्थिति में नष्ट हो जाती है या सिर्फ क्षीण होती जाती है। अत मैं आशा करता

हूँ कि इस सम्मेलन के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि जो यहाँ आये हैं, वे मेरे मन में जो सन्देह और कठिनाइयाँ उठती हैं उनका हल ढूंढने में सहायता करेंगे। और मेरा विचार है कि ये कठिनाइयाँ केवल मेरे मन में ही नहीं बल्कि दूसरे प्रदेशों के बहुत लोगों के मनों में भी हैं।

परिशिष्ट १

बुनियादी दस्तावेज . प्रोफेसर ग्रालिवियेर लाकोम्ब तथा स्वामी सिद्धेश्वरानन्द के सुझावों के आधार पर युनेस्को सेक्रेटेरियेट द्वारा तैयार किया गया।

प्रस्तावित विवाद-विषय · 'मानव की सकल्पना और पूरब तथा पश्चिम का शिक्षा-दर्शन।'

सामान्य समस्या : पूरब और पश्चिम

व्यर्थ के वरोध में न फँसा कर पूरब और पश्चिम दोनो ही अपनी विशिष्ट प्रतिभा की रक्षा कर सकते हैं। अक्सर यह ठीक ही कहा जाता है कि एक पक्ष के लिये अपने को दूसरे पक्ष की विकृत और अतिसरल सकल्पनाओ के विरुद्ध रख देना अपने अत्यन्त महत्वहीन मूल्यो को छोड कर बाकी सभी मूल्यो को खो देन का खतरा मोल लेना है। साथ ही हम एक ऐसी परम्परा के गतिरोध में पड जाने का भी खतरा मोल लेगे जिसका बाह्य ससार के नवजीवनदायी सम्पर्क के अभाव में ह्रास होना निश्चित है। यही कारण है कि इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही अनेक बैठकें हुई है, विचार-विमर्श और परिसवाद हुए है, जाँच-पडताले हुई है और लोगो का आना-जाना हुआ है, ताकि दोनो पक्षो के बीच में सद्भावनाएँ अधिक गहरी हो जायें।

यूनेस्को इस समस्या के प्रति उदासीन नही रह सकता, ससार की वर्तमान परिस्थितियो में उसे इस समस्या का सामना करना ही था—जिन परिस्थितियो को उत्पन्न करने के कारण हैं एकीकरण की तेजी से बढती हुई प्रक्रिया, दूरियो का कम हो जाना, टेक्नालोजी का बढता हुआ महत्व, समस्त लोगो द्वारा धीरे-धीरे राजनीतिक स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की प्राप्ति, और सबसे बढ कर अतीत की दो महान् सभ्यताओ के बीच फैली हुई शाति और विक्षोभ जो कि भविष्य की एक सभ्यता को जन्म दिया चाहते हैं, पर एक ऐसे विश्व-सकट की आशका से भयभीत है जिसको रोक सकना उनके बस के बाहर है।

यह यूनेस्को का काम था कि वह इन दोनों सभ्यताओं में से प्रत्येक को इस बात में सहायता दे कि वे पारस्परिक संबंधों को ठीक प्रकार से समझें और साथ ही सभी राष्ट्रों के आगे जो समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं उनके प्रति अपनी नीति निर्धारित करें। इन समस्याओं की माँग है कि वे अपने परम्परागत ज्ञान का फिर से मूल्यांकन करें, ताकि मानव उस वातावरण में अपनी जाति की सभी अन्त शक्तियों को विकसित कर सकें, जिस वातावरण का निर्माण उसने स्वयं किया है पर जिसे वह आत्मा की शक्ति से शासित नहीं कर सका है। यदि शान्ति की प्रतिष्ठा एक दृढ़ आधार पर करनी है तो पूरब और पश्चिम के प्राचीन आदान-प्रदान को अवश्य ही पुनर्जीवित करना है, और उनमें परस्पर सद्भावना उत्पन्न करने के प्रयत्न जल्दी से जल्दी किये जाने चाहिये। यह भविष्य की उस सभ्यता के लिये एक तैयारी होगी जो सभी मानवों की सम्पत्ति होनी चाहिये और साथ ही उनकी एकता की ओर उस आदर्श की अभिव्यक्ति होनी चाहिये जिसके लिये वे जीवित हैं।

इन्हीं कारणों से भारतीय सरकार और राष्ट्रीय कमीशन की सहायता से विचारकों और दार्शनिकों के बीच इस विचार-विमर्श का आयोजन किया गया है। ऐसा विचार-विमर्श यदि दार्शनिक चिन्तन के उपयुक्त उन्मुक्त तथा पक्षपात-रहित वातावरण में किया जाय तो विभिन्न देशों के बीच अधिक गहरी सद्भावना उत्पन्न करने की प्रेरणा बन सकता है।

विचार-विमर्श का उद्देश्य और ढंग : व्यावहारिक केन्द्राभिमुखता की खोज

ऐसे विचार-विमर्श के लिये कौन से उद्देश्य और कौन-सी विधि का प्रस्ताव किया जा सकता है? पहले जिस धोखे से हमें बचना होगा वह है एक दिखलावटी समरूपता या छिछले सामंजस्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने का सुझाव। इसी तरह का दूसरा खतरा यह हो सकता है कि हम पांडित्यपूर्ण विचार-विमर्श में अपने प्रयत्न को नष्ट कर दें और समझौते तक पहुँचने की सम्भावनायें बहुत फीकी पड़ जायें।

इन दोनों खतरों से बचने के लिये यूनेस्को द्वारा आयोजित इस विचार-विमर्श को उन विचारों से मर्म ग्रहण करना चाहिये जिन्हें श्री जाक मारीता ने यूनेस्को की जनरल कान्फ्रेंस के दूसरे अधिवेशन में व्यक्त किया था। उसे चाहिये कि वह अधिक से अधिक पारस्परिक सद्भावना के प्रकाश में उन स्थलों को खोजने का प्रयत्न करे जहाँ पर कि सभी दर्शन व्यावहारिकता की दृष्टि से एक दूसरे से मिल सकते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हर दार्शनिक को अपना दृष्टिकोण समझाने से किसी भी प्रकार रोका जायेगा।

विचार-विमर्श के विषय का चयन

विचार-विमर्श को चलाने के लिये एक सामान्य भूमि खोजने के लिये यह आवश्यक समझा गया है कि खास विषय का सुझाव दिया जाये, जिससे सिर्फ असम्बद्ध विचारो का ढेर न लग जाय; और दूसरी ओर यह उचित था कि प्रस्तावित विषय इस योग्य हो कि वह सभी प्रतिनिर्धारित सभ्यताओ के महत्वपूर्ण पहलुओ का प्रतिनिधित्व कर सके। इन दो आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ही यूनेस्को ने यह विषय चुना—'मनुष्य की सकल्पना और पूरब तथा पश्चिम का शिक्षा-दर्शन।'

हर सभ्यता में, मनुष्य क्या है, इस विषय में शिक्षा-दर्शन की जो समस्याएँ है वे भागवत तत्व ससार, प्रकृति, समाज तथा अतीत और वर्तमान में कार्य के व्यवहारिक क्षेत्र से सबधित मनुष्य की अनेक मूलभूत सकल्पनाओ को स्पष्ट करने में वास्तविक रूप से सहायता देती है। इसके लिये आध्यात्मिक तथा नैतिक आदर्शो के विविध स्वरूपो की तुलना करनी होगी और साथ ही उसके समाज के सगठन तथा व्यावहारिक मूल्यो से सबधित अधिक तात्कालिक प्रश्नो पर भी विचार करना होगा, जिस समाज मे टैक्नालोजी का हाथ आवश्यक रूप से अधिक से अधिक होता जा रहा है। अत इसके लिये उन विभिन्न तरीको पर विचार करना होगा जिनसे इतिहास द्वारा उत्पन्न वास्तविक परिस्थितियो में आदर्शों को कार्य रूप दिया जा सके, और साथ ही उन तरीको पर भी विचार करना होगा जिनसे वर्तमान समय में विकसित समाजो से उत्पन्न समस्याओ का मुकाबला करने की विधि का ज्ञान प्राप्त करके हर एक सभ्यता अन्य दूसरी सभ्यताओ को समझ सके।

यह विचार विमर्श अन्त में हमें इस प्रश्न की ओर ले जायेगा 'हर सभ्यता में वे कौन से तत्व होते है जो एक सुसतुलित शिक्षा के सास्कृतिक और दार्शनिक आधारो की परिभाषा दे सकते है, जिन्हे तत्कालीन मानव की आवश्यकताओ के अनुरूप बनाया जा सके और जो देशो के बीच में सद्भावना, मानव-अधिकारो के प्रति आदर और शान्ति, इन सब की वृद्धि करने के योग्य हो ?'

यूनेस्को द्वारा आयोजित विचार-विमर्श, पिछले ५० वर्षो में किये गये इसी प्रकार के अन्य प्रयत्नो मे जिस बात में भिन्न है वह यथार्थ में सभ्यता के मूल्यो की फिर से परिभाषा करने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न स्वय उन मूल्यो के विषयो मे उतना नहीं करना है जितना कि उनके व्यावहारिक रूप के विषय में, उनके पारस्परिक सबधो के रूप के विषय में और समष्टि रूप में मानव की तात्कालीन समस्याओ के सबधो में।

पूरब और पश्चिम में मानव की संकल्पना : उनके बीच की परम्परागत विसदृशता
जब हम पृथक् रूप से मानव की सकल्पना पर विचार करते हैं तो हम पूरब और पश्चिम की विसदृशता को प्रकार किस प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं? इन सकल्पनाओं के परम्परागत स्वरूपो का हम यहाँ सक्षिप्त साराश देंगे, यद्यपि इस प्रकार अति सरल बना देने से हम यथार्थ में जो कुछ हैं उसकी एक सच्ची तस्वीर नहीं दे सकेंगे।

पहली बात यह है कि ऐसा लगता है कि पश्चिमी मानव की कुछ विशेषताओ ने विशेष रूप से उसे पूरब के मानव के विरोध में खड़ा कर दिया है और वास्तव में लोग मानते आये हैं यह विशेषताएँ ही पश्चिमी सभ्यता के सार को अभिव्यक्त करती हैं। पश्चिम अहम् और अनहम् के भेद पर जोर देता है, और प्रकृति को मानव का कार्य-क्षेत्र और उसके हाथों में सौंपा हुआ एक अस्त्र मानता है। यह कारण है कि वहाँ ऐसी चिन्ताधारा का विकास हुआ है जिसकी सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति विज्ञान में हुई है, और जो विकल्पनात्मक तर्क बुद्धि का उपयोग करती है तथा विश्लेषण द्वारा एक वस्तु की सत्ता को दूसरी से पृथक् करती है। इसी कारण से स्व और स्वार्थ दोनों को, वैयक्तिक मौलिकता की खोज को, निजी कल्याण और शक्ति प्रयोग के उद्देश्य से स्वतन्त्रता पर जोर देने को, और सामाजिक सस्थाओ द्वारा इन स्वतन्त्रताओ और निजी इच्छाओ को नियमित करने की आवश्यकता को महत्व दिया गया है। यह कहा जाता है कि पश्चिम का मानव स्वभावत बाह्य ससार को उस पर अधिकार करने की दृष्टि से देखता है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति चिन्तन की ओर नहीं है। इसलिये जो कुछ तकनीकी है वह आध्यात्मिक पर, तर्कमुक्त विश्लेषण स्फुरित तादात्म्य पर, और बुद्धि-प्रयोग अधिदार्शनिक अनुभव पर आग्रत्व प्राप्त करना चाहता है। दिव्य और अदिव्य के बीच का यह स्पष्ट अन्तर, सामान्य कल्याण के लिये जिसे वैयक्तिक हितो का समूह कह सकते है, दैनिक जीवन को व्यवस्थित करने का उत्तरदायित्व तर्क-बुद्धि और विज्ञान को सौंप देता है। यह भी कहा जाता है कि साधारणतया पश्चिम का मानव अनित्य के बधन तोड कर शाश्वत में पलायन नही करता। वह परम्परा से अधिक प्रगति पर विश्वास करता है और वह सदा ही नये विचारो, आविष्कारो और नये-नये अन्वेषणो की खोज मे रहता है। यह सब एक ऐसी चिन्ताधारा, एक ऐसे जीवन-पथ और एक ऐसे कर्म म फलीभूत होता है जिसमें विज्ञान पर आधारित टेकनालोजी का बहुत बडा हाथ होता है, जिससे भौतिक पदार्थों पर अधिकार हो जाने से हमारे सामने अनन्त कार्य-क्षेत्र खुल जाता है और सरकार की सहायता से बडे-बडे कार्य सिद्ध होते हैं। परन्तु पूरब का मानव

पच्छिमी मूल्यों की अस्थिरता और मानव विकास में प्रमुख रूप से हाथ बँटाने में उन मूल्यों की अक्षमता से फौरन अचरज में पड जाता है। उसकी दृष्टि में पच्छिमी सभ्यता अपने में इतनी समर्थ नही है कि वह मानव को शान्ति, यथेष्ट सन्तोष और पृथ्वी पर पैर जमाने का आधार दे सके।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूरब अपनी सभ्यता का समस्त साराश एक शब्द आध्यात्मिकता में दे देता है। अधिकतर सभ्यताओं में, खास कर उनमें जिन्हें हम पूरबी कह सकते हैं (यहाँ पर बहुत बारीकी से भेद करना जरूरी है) पूरब का मानव प्रकृति को तकनीकी कौशल और बलपूर्वक हस्तक्षेप से पद-दलित करने के स्थान पर सब से पहले उसमें अपना स्थान खोजने और उससे अधिक से अधिक तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इसलिये पच्छिम के तर्क-प्रधान विज्ञान के विपरीत आध्यात्मिकता के ऐसे स्वरूपों का विकास हुआ जिन मे व्यक्तित्व के एक गभीर एकत्व के स्फुरित अनुभव पर या आत्मा के दैनिक स्पर्श पर जोर दिया गया। इसमे सब चीजो को एक ऐसे मूलभूत सत्य की अभिव्यक्ति माना जिसे विश्लेषण द्वारा हम सिर्फ विकृत कर सकते हैं, या फिर एक भागवत-तत्व की अभिव्यक्ति माना जिसके नियमो से समस्त स्थावर-जगम ससार शासित होता है। इसीसे एक आध्यात्मिक जगत के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो के बीच एक आवश्यक बधन का विचार उत्पन्न हुआ और ऐसे आध्यात्मिक आरोहण के प्रयत्न हुए जिसमे जगत के निम्न स्तर छूट जाते हैं और उच्च आध्यात्मिक जीवन का पथ प्रशस्त होता है। यह कहा जाता है कि इस कारण पूरब का मानव स्वभावत अन्तर्मुख होता है, वह अपने बाह्य स्वरूप को छोड कर अपने सच्चे स्वरूप की खोज करता है, और ससार की भौतिक सभ्यता का प्रगल्भता पूर्वक तिरस्कार करता है। उसके दिव्य तत्व सर्वव्यापी हैं और जो अदिव्य है वह भी उसके स्पर्श के विना नही टिक सकता। विकास मात्र एक मिथ्याभास है और सत्य जीवन शाश्वत में ही स्थिति है। एक आध्यात्मिक व्यक्ति का मन नये आविष्कारो और फार्मूलो की खोज से अधिक एक परम्परागत सत्य के ध्यानन एक ऐसे जीवन पथ और एक ऐसे कर्म मे प्रकट होता है जिसमें प्रकृति के साथ समस्वरता और भागवत चेतना के साथ तादात्म्य प्रमुख हो जाते हैं और इन दोनो का आधार होता है आध्यात्मिक चिन्तन। साथ ही, जिसमें पवित्रता और ज्ञान के आदर्शो की उपलब्धि अक्सर उन समाजो के भीतर ही उपलब्ध हो जाती है, जो सर्वसाधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के प्रश्न पर बहुत कम विचार करते हैं। परन्तु जहाँ तक पच्छिम के मानव से सबध है वह पूरब की परम्परा में अवश्य ही सभावित गतिरोध के बीच पाता है उसके त्याग की उर्वरता,

और उसके अधिआर्धातिक स्फुरण की अप्रदर्शनीयता और अदेयता को देखना है। उसकी दृष्टि में पूरवी सम्यता अपने आप में इस योग्य नहीं है कि वह प्रगति के, संस्कृति के, और यहाँ तक कि आध्यात्मिकता के लाभों को भी मानव जाति को प्रदान कर सके।

सरलीकरण की भूल

अभी तक जो कहा गया है उसमें पूरब और पश्चिम के विरोध का जो परम्परागत रूप है वही दिखलाया गया है। इसमें थोड़ा सत्य अवश्य है जिसे हम इन्कार नहीं कर सकते, विशेष रूप से जहाँ तक सभ्यता के इन दो स्वरूपों की अति स्पष्ट बाहरी विशेषताओं से संबंध है।

यदि हम इन असमानताओं को बहुत दूर तक खींच ले जायें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि पूरवी दृष्टिकोण और पश्चिमी दृष्टिकोण ठीक एक दूसरे की कमी को पूरा करते हैं, परन्तु असमानता के उन थोड़े से स्थलों की कमी है जिनके कारण वे एक दूसरे की देन से लाभ नहीं उठा सकते। इस प्रकार एक दूसरे को न समझ सकने के कारण मानव की हैसियत से मानव का जो आदर्श है उसकी पूर्णता हमेशा के लिये दोनों पक्षों की पहुँच के बाहर ही रह जायेगी, और उस तक पहुँच सकने की कोई आशा भी नहीं रह जायेगी।

फिर भी, बहुत वर्ष हुए, इस विचार का विकास हुआ था कि इस विरोध को इस तरह इतना सरल और तीव्र कर देना ठीक नहीं है। पहली बात यह है कि इन दोनों सभ्यताओं में से हर एक में इतने विरोधी तत्व वर्तमान हैं कि इनमें से किसी को भी एक सरल, एक-जातीय वस्तु में परिणत कर देना उचित नहीं होगा। पूरब का आदमी भी सांसारिक जीवन को व्यवस्थित करने और प्रकृति का रूपान्तरण करने के लिए कदम उठाता है। कुछ बौद्धिक अन्वेषणों के लिये, विशेषकर गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में, विज्ञान उसका ऋणी है, जिन अन्वेषणों के अभाव में विश्लेषणात्मक तर्क-बुद्धि आगे बढ़ कर अन्त में भौतिक जगत पर अपना अधिकार न कर पाती। पूरब के मानव पर ही कुछ उन तकनीकी अन्वेषणों का भी श्रेय है जिन पर मानव-जाति का भविष्य निर्भर है, और एशिया के राष्ट्रों का इतिहास यह भी बतलाता है कि कुछ युगों में सार्वजनिक हित और व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास के लिये समाज संगठन की कला वहाँ किस ऊँचाई पर पहुँच चुकी थी।

दूसरी ओर पश्चिम ने भी ऐसे सन्तों और महात्माओं को जन्म दिया है जिनके उपदेशों का प्रभाव आज भी जीवित है, वहाँ बड़े-बड़े दार्शनिक और आध्यात्मिक आन्दोलन हुए हैं और हो रहे हैं, रहस्यवादी तादात्म्य, अस्तित्व के एकत्व का सहज

बोध, शाश्वत पद की कामना, विश्वजनीन प्रेम, त्याग आदि सभी उसकी परम्परा के अंग रहे। उसका विज्ञान और तदुजन्य टेक्नालोजी मुख्य रूप से तटस्थ अनुसन्धान के ही फल हैं जिसमें बौद्धिक शक्ति का एक अत्यन्त सूक्ष्म पहलू विकसित हुआ। पश्चिम ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण मानवीय मूल्यों को खोजा और ग्रहण किया है, विचार-स्वातन्त्र्य, कानून का सर्वत्र प्रयोग, और व्यक्ति का गौरव पश्चिमी मानववाद के आधार स्तम्भ हैं, स्वयं ईसाई मत में, सन्त फ्रांसिस की परम्परा समस्त प्रकृति में प्रेम का प्रसार करती है, जो प्रेम सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और परमात्मा के बीच की कड़ी का प्रतीक है।

दूसरे, पूरब की सभ्यता और पश्चिम की सभ्यता की बात करना असम्भव है, दोनों शब्दों की परिधि में सभ्यताओं के वे समूह आ जाते हैं जिनसे परस्पर बहुत गहरा अन्तर है। उदाहरण के लिये क्या हम लैटिन और स्लाव देशों की संस्कृतियों को एक समझ सकते हैं? क्या मूलतः ईश्वरवादी सम्प्रदायों के साथ ही साथ एशिया में ऐसे धर्म नहीं हैं जो सगुण ईश्वर को नहीं मानते? क्या राज्य के प्रति हिन्दुओं की नकारात्मक प्रवृत्ति और चीनियों की शताब्दियों पुरानी सरकार चलाने की कला में हम परस्पर भेद नहीं करेंगे? जब इस्लामी और बौद्ध सभ्यताओं के लिये पूरबी शब्द का प्रयोग होता है तो क्या उसका एक ही अर्थ होता है?

इतिहास हमें बतलाता है कि इनमें से प्रत्येक संस्कृति विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं का संगम है, पश्चिम में, भूमध्यसागरीय सांस्कृतिक देन को बर्बर जातियों के आक्रमण को झेलना पड़ा, एशिया में, महान् नदियों की घाटियों के कृषि प्रधान समाजों को एक के बाद एक खानाबदोश जातियों के प्रवेश का सामना करना पड़ा। यहाँ हमें एक आश्चर्यजनक अनुरूपता दिखायी देती है। इतनी ही आश्चर्यजनक अनुरूपता हमें युद्धों और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की धूप-छाँह में दिखाई देती है। यही नहीं बहुत हद तक यूरोप आज जो है वह एशिया का ही बनाया हुआ है, यद्यपि यूरोप जो हो गया है, उसमें एशिया स्वयं अपने को नहीं देख पाता है। इसके बहुत पहले कि पश्चिमी विस्तार के प्रति पूरब कोई दृष्टि-कोण निश्चित करता, पश्चिम—जिसका धर्म संयोगवश पूर्व से ही आया—मध्ययुगों में सबसे पहले अपनी पूर्व से पृथक् सत्ता के प्रति सजग हुआ। इस पूरब से उन्हें आक्रमण का भय था, यद्यपि पूरबी ज्ञान, प्रज्ञान और पूरबी सभ्यता का परिष्कार उन्हें सदा आकर्षित करता रहा। अरब लोग फ्रांस में दूर तक फैल गये और स्पेन में जा बसे। मंगोलों ने स्लाव देशों के एक बहुत बड़े भाग में अपना कानून चलाया, और बहुत समय तक तुर्कों का डेरा वियना के निकट

पड़ा रहा। दूसरी ओर धार्मिक युद्ध ने मध्ययुग में बीच जा कर ईसाई राज्यों को स्थापित कर दिया। यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि अरबी सभ्यता ने यूरोप का सिर्फ प्रेम की वह कल्पना ही नहीं दी जिसने सामाजिक सबंधा और साहित्यिक प्रेरणा को नवजीवन मिला, वरन् एक ऐसा ज्ञान और दर्शन भी दिया जो प्रमुख यूनानी चिन्ताधाराओं से निकले हैं। इस प्रकार मध्ययुगो में पश्चिमी सभ्यता ने समन्वय का जो पहला प्रयत्न किया, अर्थात् प्राचीन दर्शन और ईसाई धर्म के विश्वासों के बीच सामजस्य लाने की जो खोज की, वह अरब दर्शन के विकास द्वारा ही सम्भव हो सका। और यह दर्शन स्वय भूमध्यसागरीय चिन्ताधारा का परिणाम था। साधारण तौर पर देखा जाये तो यूरोपीय और एशियाई सभ्यताओं के इतिहास में पुनर्जागरण की जो बडी लहरें आयी हैं वे सुदूर देशो के किसी आकस्मिक विस्फोट का ही परिणाम थी उदाहरण के लिये बौद्ध धर्म, जिसका जन्मस्थान भारत है, दूसरे एशियाई देशा में बहुत गहरी जडें डाल चुका था।

इसलिये परस्पर अधिकाधिक एव निकटतर आदान-प्रदान के फलस्वरूप आज सभ्यता का पुनरुत्थान करना और उसके लिये एक सामान्य धरातल खोज सकना सरल होगा। बहुत से मामला में विभिन्न परम्पराओ को माननेवाले व्यक्ति मिल कर एक दूसरे को समझ सकते हैं, सब में तर्क-बुद्धि वर्तमान होने से विचारो का आदान-प्रदान और उनकी तुलना सम्भव है, महान् धर्मों में नैतिक सिद्धान्तो की जो समानता पाई जाती है वह इस बात का प्रमाण है कि आध्यात्म की ओर सब देशा में समान भाव से अभीप्सा पाई जाती है, सभ्य मानव के पीछे जो हमारे पूर्वजों की मनोवृत्ति वर्तमान है, उसने उनके जीवन को ऐसी कपोल-कथाओ से भर दिया है जिनम हमे गहरी समानता दीख पडती है, जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ खाने-पीने और रहने की सामान्य आवश्यकताएँ, प्रकृति के बीच मानव परिश्रम द्वारा अर्जित अनुभव, एक ही तरह की कार्य-प्रणालिया, सभी विश्व की वास्तविक एकता के प्रतीक हैं। एक दूसरे की सस्कृति के प्रति पारस्परिक सद्भावना, और इतिहास के प्रवाह में उनमें हुए सम्पर्कों की जानकारी से देशा के लिये यह सम्भव हो गया है कि वे एक दूसरे के साथ रह सकें और आदान प्रदान द्वारा लाभ उठायें। अन्त में, एक ऐसे समार मे, जिसके विभिन्न अग एक दूसरे पर बहुत अधिक आश्रित हो गये हैं, शान्ति पूर्वक रहने की आवश्यकता लोगो को इस बात के लिये बाध्य करती है कि वे सगठन के एक ऐसे स्वरूप और ऐसी सतुलित प्रणाली के विषय में समझौता करें जिससे सभी देशो और सभी समझौताओ को स्थान मिल सके।

विसंवाद का ऐतिहासिक उद्भव

इसलिये यदि हम पूरब और पच्छिम की सभ्यताओं में से प्रत्येक का अपने आप में और उसकी सारी जटिलता के साथ अध्ययन करें तो उनके बीच एक आन्तरिक सद्भावना हो सकना सम्भव जान पड़ता है। परन्तु एक सीधी सादी आपसी गलतफहमी को दूर करना ही काफी नहीं होगा, सामाजिक इतिहास के अनुभव और उस इतिहास में जो नये-नये सम्पर्क हुए हैं उनसे उत्पन्न भयानक गड़बड़ी को दूर करना भी आवश्यक है।

इधर कुछ शताब्दियों के भीतर पच्छिमी विज्ञान और टेकनालोजी संसार के सभी देशों में पहुँच गये हैं। इसका कारण उनका सहज आकर्षण ही नहीं है, परन्तु वह शक्ति भी है जो उन पर अधिकार करनेवाले को प्राप्त होती है। इसलिए यह कोई अचरज की बात नहीं है यदि पूरबी देशों को पच्छिम निवासी केवल तकनीकी बातों में ही व्यस्त, अपने कार्यों के सम्पादन में सश्लेषणात्मक तर्क-बुद्धि का उपयोग करनेवाले, और पूर्णतया भौतिक वस्तुओं में ही लीन किसी भी प्रकार की उच्च आकाक्षा रखने में असमर्थ प्रतीत होता है। साथ ही यह भी अचरज की बात नहीं है कि इस साम्राज्य विस्तार के कर्त्ताओं ने, जिसे कि कभी बल प्रयोग से भी किया गया, यह भी पाया कि उनके लिए पूरब के अन्तर में प्रवेश करना असम्भव है, और जैसे-जैसे वह अपने अन्दर सिकुड़ता गया वैसे-वैसे वह प्रगतिशीलता और गरीबी का प्रतिरूप जान पड़ा।

यही कारण है दोनों सभ्यताओं के बीच के सबधों के दुष्परिणाम का। वही कारण है इस प्रकार परस्पर पूर्वाभासों से पीड़ित सस्कृतियों के बीच अधिक गहरी सद्भावना का क्षेत्र ढूंढ सकने की कठिनाई का।

यह जान लेने पर, हम यूनेस्को द्वारा आयोजित विचार-विमर्श के पूर्ण महत्व को जान लेते हैं, इसी तनाव को नि सकोच मान लेने पर पूरब और पच्छिम के मानव एक दूसरे के निकट आ सकते हैं, बशर्ते कि दोनों ही को उस स्थिति का और उन आवश्यकताओं का भान हो जाय जिनका उन्हें समान रूप से सामना करना है।

मानव समस्याओं की विश्वव्यापिकता और आज के संसार में मानव की आकाक्षायें

पच्छिम की तकनीकी प्रगति को आत्मसात कर लेने के फलस्वरूप ही पूरब के देश अब पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता और अपने मामलों को स्वय सचालन करने का उत्तरदायित्व प्राप्त कर रहे हैं। इसी तरह से वे बढ़ती आबादियों के जीवन-स्तर को भी ऊँचा कर सकते हैं जो कि आज हर दिशा में महामारी

अकाल और प्राकृतिक विपत्तियां की शिकार बनी हुई हैं। जैसा कि स्वामी शिवेश्वरानन्द लिखते हैं . 'आर्थिक दशा और सांस्कृतिक मानवता के निकट सबधों को परखने की आवश्यकता है। जब कि पूरब में लाखों-करोड़ों लोगों के पास दुध खाने तक को नहीं है, तब मानवतावाद और मानव की सकल्पना के विकास की चर्चा करना केवल एक व्यग है। अविद्या, भूख और बीमारी का अन्त करने के लिये कुशलता पूर्वक कदम उठाना जरूरी है।' किसी देश की आध्यात्मिक परम्परा चाहे कितनी महान् क्यों न हो, आज के मानव के लिये यह असम्भव है कि वह उन तकनीकी प्रगति को भुला डाले जिनकी सहायता से ही मनुष्य उस ससार में रह सकते हैं जिसे इस तकनीकी की प्रगति ने बदल डाला है। पूरब के लिये इस टेकनालाजी के ज्ञान को आत्मसात करने का तात्पर्य है राजनीतिक और सामाजिक सगठन, शिक्षा का विकास, कृषि का आधुनिकीकरण, और औद्योगीकरण के विराट कार्यक्रम का बीड़ा उठाना। इस नये प्रसग में उसकी आध्यात्मिक परम्परायें कौन सा रूप और कौन-सा नया अर्थ ग्रहण करेंगी? उन्हें पहले से कहीं बड़ा काम करना है, और यह काम इस दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण है कि वह मनुष्य को सदा उसके भीतर के उस परमतत्व का ध्यान दिलाती रहेगी जो इस खतरे में है कि कहीं नष्ट न हो जाय। इसलिये पूरब अपने ज्ञान की नये सिरे से परिभाषा करने में, और अपने तत्वों में जो सबसे महत्वपूर्ण है, उसका मूल्य निर्धारित करने में प्रयत्नशील है। वह पश्चिमी मन की परम्पराओं को भी आत्मसात करना चाहता है, जो मन बहुत काल तक विज्ञान की शिक्षाओं से सम्बद्ध रहा है और जिसके ज्ञान में मानव परिश्रम द्वारा रूपान्तरित प्रकृति की सीख भरी हुई है। इसलिये पूरब अपनी परम्परा से ऐसे सभी तत्वों को उखाड़ देने की कोशिश में है जो अतीत के दासत्व के साथ बुरी तरह से चिपके हुए हैं। वे उनके स्थान पर एक सृजनात्मक परम्परा बना रहे हैं उसके तत्वों को वास्तविकता के सम्पर्क से नया रूप दे रहे हैं और दूसरों की सभ्यताओं से मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। सक्षेप में, पूरब सभ्यता का एक ऐसा स्वरूप विकसित करना चाहता है जिसमें मानव की भौतिक आवश्यकताएँ और उसकी आध्यात्मिक आकाक्षाएँ, दोनों ही सन्तुष्ट हो सकें[१]।

---

१ अपने देश-वासियों के आगे भाषण देते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है 'मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं किसी भी सभ्यता का इसलिये अविश्वास नहीं करता कि वह विदेशी है। इसके विपरीत मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की शक्तियों से मुकाबला करना हमारे बौद्धिक स्वभाव की जीवनी शक्ति की रक्षा के लिये आवश्यक है—

जहाँ तक पश्चिमी मानव का प्रश्न है, वह विज्ञान की प्रगति से प्राप्त मात्र तकनीकी ज्ञान से या हितों और महत्वकांक्षाओं पर आधारित नैतिक व्यवस्था से अब और भी कम सन्तुष्ट रह सकेगा। मानव ने जिन यन्त्रों का निर्माण किया था उनकी शक्ति से वह स्वयं ही परास्त हो चुका है। इन यन्त्रो ने ससार को ऐसा रूपान्तरित कर डाला है और ऐसी नयी और जटिल समस्याएँ पैदा कर दी है कि वे मूल्य जिन्हे हम समान्यत (और बहुधा पूर्ण रूपेण) स्वीकार कर लेते थे, इस प्रकार अचानक चुनौती का सामना करने पर अब इस योग्य नही रह गये, हैं कि मानवो को यह सिखला सके वह ससार की शान्ति और सुख के लिये अपनी शक्ति का कैसे उपयोग करें और अपने सबधो को किस प्रकार सगठित करे। यहाँ तक कि विज्ञान की स्वतन्त्रता भी सरकारी नियन्त्रणा से नस्त है। शक्ति की लालसा मानव जाति के सजीवन के लिये जो खतरे खडे-कर सकती है वे बहुत ही स्पष्ट हैं। अपने चारो ओर के ससार से अनुकूलन कर लेने की मानव की इच्छा को किस हद तक चलने देना उचित है? मानव म यह प्रेरणा कैसे भरी जाय कि उसके हाथो में जो प्रसाधन हैं उनका उपयोग वह सच्चे मानवीय उद्देश्यो के लिये कर सके? पश्चिम अपनी नैतिक तथा राजनीतिक परम्परा मे से फिर से उन आदर्शों को खोज निकालने में लगा हुआ है जो ससार की वर्तमान परिस्थिति से अपना अनुकूलन कर सके और जिस सकट से मानव जाति गुज़र रही है उसमें उसका पथ-दर्शन कर सकें। परन्तु वह पूरब के ज्ञान से भी नये सुझाव प्राप्त कर सकता है ताकि उसकी अपनी वैज्ञानिक और तकनीकी परम्परा का प्रति-तोलन हो सके।

क्या एक समन्वय सम्भव है? क्या पूरब और पश्चिम में मानव की जो विशिष्ट सकल्पनायें हैं उनकी तुलना ऐसे मूल्यो के उद्घाटन में सहायक हो सकती है जिन पर एक ऐसे मानवतावाद की प्रतिष्ठा की जा सके जो हमारे युग के अनुकूल हो? यूनेस्को को विचार-विमर्श में इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना पडेगा। सक्षेप में, सभी राष्ट्रो की समान तकनीकी और भौतिक आवश्यकताओ, और ऐसे मूल्यो के प्रतिपादन की तत्काल माँग जिन पर वे सभी सहमत होते हुए भी

यूरोपीय सभ्यता हमारे आगे अपनी गति को ले कर आयी है और साथ ही अपने ज्ञान को ले कर भी। यद्यपि हम कभी पूरी तरह से इसे आत्मसात नही कर पाये हैं और इससे कई बातो में हमारा विपयन हुआ है, फिर भी इससे हमारे बौद्धिक जीवन को उसकी पुरानी आदतो के तमस से जगा कर बढ़ती सचेतनता दी है, क्योकि हमारी मानसिक परम्पराओ के वे सर्वथा विपरीत हैं।'

अपने विशिष्ट तत्व सुरक्षित रख सकें, एक ऐसा सर्वसामान्य धरातल हो सकता है जिस पर इस विचार-विमर्श का सूत्रपात हो सके।

शिक्षा-समस्या का प्राण

पूरब और पश्चिम दोनों में शिक्षा ही आज समस्या का प्राण है : समाज में क्षमतापूर्वक हाथ बँटाने के लिये तकनीकी लोगों की सिखलाई, बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के हर एक व्यक्ति की शिक्षा, ताकि वह अपने भीतर निहित शक्तियों का पूरा-पूरा विकास कर सके और स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में अपना हाथ बँटा सके, और अन्त में, मनुष्य की सामान्य शिक्षा जिसके द्वारा वह अपने आविष्कारो पर अधिकार करना सीखे, और कुछ नही तो ज्ञान तो प्राप्त करे। इस प्रकार, शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह हर सभ्यता में ऐसे नर-नारियों का निर्माण करे, जो अपने मूल्यों पर निष्ठा रख कर और उनकी फिर से परिभाषा कैसे की जाय इसका ज्ञान रख कर, उस योग्य हो सके कि समाज की स्थिति में नये तत्वो के विकास से जो खतरो का जन्म होता है उससे वे जीवन के दैनिक संघर्ष में अपनी मानवता की रक्षा कर सकें।

प्रत्येक सभ्यता को अपने अतीत से मानव का जो आदर्श विरासत में मिला है, और जिसकी वह आधुनिक आवश्यकताओ के प्रकाश में फिर से परिभाषा करना चाहता है, उस आदर्श के साथ रख कर देखने पर शिक्षा की समस्याएँ अपने पूर्ण अर्थ और विस्तार के साथ प्रकट होती है। विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों में व्यक्तियों को कैसे शिक्षा दी जाय जिससे वे आधुनिक ससार में रहने के अनुकूल बन सके, जिससे उन्हें अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने में सहायता मिल सके, जिससे वे अधिक उन्नायता प्राप्त कर सकें, और अपनी सांस्कृतिक मौलिकता बनाये रखें, जिससे हर देश दूसरे देशो को समझने में सहायता दे, और अन्त में जिससे मानव अधिकारो, न्याय और शान्ति की स्थापना में मदद मिल सके?

पिछली कुछ दशाब्दो मे मानव की आदर्श संकल्पना मे जो परिवर्तन हुए है उसके सबध में पूरब और पश्चिम दोनो में अनेक शिक्षा सबधी प्रयोग किये गये। भारत मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाधी द्वारा प्रेरक बल, इस्लामी ससार में और पूरब के दूसरे कई भागों मे शिक्षा के प्रसार और उसे लोकतन्त्रीय आधार पर सगठित करने के वर्तमान आन्दोलन; पश्चिम में, श्रीमती मोन्टेसोरी, जान डिवूई और जें पिआजे द्वारा शुरू किया गया आन्दोलन, और शिक्षा के नये प्रयोग जिनमें व्यक्ति की सृजनात्मक स्वतन्त्रता और उसके व्यवहारिक अनुभवो का फल दोनो कार्य करते है, और अन्त में वह काम जो प्रयासको

और तकनीकी व्यक्तियो की सिखलाई के लिये चारो ओर विशाल पैमाने पर हो रहा है। इस प्रकार के पूर्ण विकसित नर-नारियो के लिये परिकल्पित प्रारम्भिक शिक्षा, तकनीकी सिखलाई और सामान्य शिक्षा, इन तीनो में एक अटूट सम्बन्ध है। परन्तु जब तक सभ्यता के वर्तमान प्रयत्न नये आदर्शों को जन्म देते हैं तब तक बहुत सम्भव है कि उन सभी पहलुओ का प्रभावपूर्ण सयोजन न किया जा सके। यदि यह विचार-विनिमय आदर्शों की परिभाषा करने में सहायता कर सके तो यूनेस्को के इस आयोजन का उद्देश्य सफल होगा।

तितिम्मा. कुछ निर्णायक प्रश्न

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें हमने कुछ विशिष्ट प्रश्नो की बहुत यथार्थ परिभाषा करने से जान बूझ कर अपने को बचाया है। वैसा करने पर विचार विमर्श अनावश्यक रूप से सकुचित परिधि के भीतर बन्ध जाता और उन प्रश्नो के सफल विकास और सम्पादन के विरुद्ध तर्क-कुतर्क उठ खडे होते। जिस समस्या का सामना समस्त मानव-जाति को करना पड रहा है, हमने सिर्फ उसके प्रमेयो का वर्णन किया है, फिर भी, विचार-विमर्श के लिये शीर्षको को क्रमपूर्वक प्रस्तुत रने का प्रयत्न न करते हुए भी हम उन कुछ दृष्टिकोणो को सूचीबद्ध करेंगे, जिन द्वारा पूरब और पच्छिम की सभ्यताओ ने अपनी मानवता के आदर्शों की परिपा की है, और जो आज हमारे सामने उन बातो की एक साफ तस्वीर दिखा करेंगे जिनके आधार पर मनुष्य सामान्यतया अपने ही स्वभाव के प्रति प्रश्नोन्मुख । उदाहरण के लिए हमने नीचे समस्या क ऐसी ही पहलुओ की एक सूची न का प्रयास किया है, इस आशा से कि वे ऐसे उदाहरणो का सुझाव देंगे जिसे समें निहित प्रश्नो का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने मे सहायता मिलेगी।

ानव का देवत्व और पुनीतता से सबध

ुनीत और अपुनीत में सबध। धर्म तथा अध्यात्म नैतिकता और राजनीतिक ीवन के बीच सबध। दिन प्रति दिन सासारिक अस्तित्व को अतिक्रात करनेवाली ोत्म, की आगे।[1] मानव स्वभाव मे अर्तनिहित पूर्णता की सकल्पना और

[1] जो बातें मनमें उदय होगी वे हैं 'शरिया' या कुरान के विधान की विशेषतायें, जो कि कर्मकाड, कानून, नीतिशास्त्र और सामाजिक सगठन का समन्वय है। भारत में नैतिकता के तीन स्तरो के बीच का सबंध अर्थात् आध्यात्मिक व्यक्ति की उच्च नैतिकता, सामाजिक पद के अनुसार बदलती हुई विशेष कर्तव्यो की नैतिकता (स्वधर्म), और अन्त में सामान्य नैतिकता जो सभी मानवो पर जिम्मेदारियाँ लगाती है (सामान्यधर्म), आदि।

आदिम पाप या मानव के पतन की सकल्पना, और दर्शन के सम्बन्ध में उसके परिणाम[1]।

मानव का विश्व और प्रकृति से संबंध

टेक्नोलाजी द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित करते हुए मानव की सकल्पना, और प्रकृति से सलाप करते हुए मानव की सकल्पना। पशु-जगत के प्रति मानव का दृष्टिकोण[2] अहिंसा का विश्वग्राही अर्थ और सार्वभौम विश्व-न्याय की कल्पना[3]।

मानव और ज्ञान

मानव के परिमाण और उसकी खुशहाली के साधन रूप में ज्ञान का मूल्य। आरंभ और आविष्कार। ज्ञान और प्रज्ञा, बौद्धिक शक्ति की सीमायें बाधना, बौद्धिक ज्ञानार्जन और पूर्ण अस्तित्व[4] शिक्षण और शिक्षा में सबध। ज्ञान के सार्वभौम वितरण की आवश्यकता की दृष्टि से देखा गया शिक्षा के परपरागत आदर्श।

मानव और आदर्श

आचरण और सस्थाओ के सबध में विचारो का प्रभाव। उपर्युक्त और सद्गुण के बीच सबध। शिक्षा में सौंदर्यात्मक मूल्यो का महत्व, नैतिक मूल्यो से उन का

---

१ 'जीवन के भारतीय दृष्टिकोण. . . . .का विश्वास है कि पूर्णता मनुष्य के भीतर स्वय है, और शिक्षा का उद्देश्य केवल उसे खोज निकालना है।
(स्वामी निर्वेदानन्द)

२ कुछ पूरबी सभ्यताओ में पशु-जीवन के प्रति जो आदर की भावना मिलती है उसकी पच्छिम के 'पशु-निर्दयता निरोधक आन्दोलन और प्राकृतिक सौंदर्य तथा पशु-जीवन की सुरक्षा के लिये उठाये गये कदमो के साथ तुलना की जानी चाहिये। दूसरी ओर, प्रकृति के प्रति अध-सम्मान के कारण, मनुष्य की दृष्टि से, जो सभाव्य खतरे खडे हो सकते हैं उन की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिये।

३ मन में जो बाते उदय होंगी वे हैं पच्छिम में सासारिक न्याय की भावना, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में कर्म-सिद्धान्त, और दैवी न्याय की इस्लामी सकल्पना।

४ इस प्रसग में अक्सर चीनी विचारधारा का उदाहरण दिया जाता है, जो कि केवल बौद्धिक विकास से अधिक पूर्ण मानव के परिष्कार को महत्व देता है। यह भी कहा जाता है कि पच्छिम के लोग बहिर्मुखी निर्णय को अधिक महत्व देते हैं, जब कि पूरब के लोग मूल्य के निर्णयो में अधिक रुचि रखते हैं।

सबध, परिष्कृत मानव की सकल्पना। मानव-सापेक्ष आदर्श और एक ऐसे जीवन की मागो के बीच सबध, जो कि शुद्ध मानवीय जीवन का अतिक्रमण करता हो[१]।

व्यक्ति और समाज

लोकतत्र के मानवतावादी आधार, शुद्ध राजनीतिक लोकतत्र और सामाजिक तथा आर्थिक लोकतत्र, व्यक्ति और समुदाय के बीच सबध स्थापित करने में इन सकल्पनाओ का महत्व। न्याय का आदर्श और असमानता की वास्तविकता[२]। शिक्षा की सकल्पनायें और समानता का आदर्श, सब का सास्कृतिक जीवन मे भाग लेना। वैयक्तिक और सामाजिक सामजस्य को अधिक अच्छा बनाना[३]। व्यक्ति को मुक्त करने के साधन रूप में शिक्षा, और मनुष्य को सास्कृतिक समुदाय के अनुकूल बनाने के साधन के रूप में शिक्षा। अनुरूपता का आदर्श और व्यक्तिगत स्वतत्रता का आदर्श।

राजनीतिक सस्थाओ का योग और उनका महत्व

एक नव मानवतावाद के निर्माण में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सस्थाए क्या योग दे सकती हैं[४] ? नीतिशास्त्र और राजनीति के बीच सम्बध की समस्या[५]। देश भक्ति का मूल्य और राष्ट्रीयता से खतरे।

---

[१] नीत्से के दर्शन, योग-साधना और भारतीय सभ्यता में अरविन्द दर्शन के समान दर्शन के महत्व का ध्यान रखना चाहिए।

[२] विभिन्न सस्कृतियो में, क्या मानव को पूर्ण समानता का पद दिया जाये या कर्म तथा अन्य दूसरे कारणो से उसमें असमानता भी रहे? पश्चिम मे सामान्य न्याय और तत्स्थानीय न्याय में जो अन्तर है, इस्लाम में परमात्मा के आगे धर्म पर विश्वास करनेवालो की समानता, और परपरागत हिन्दू समाज की वर्ग व्यवस्था, जो सब पर समान घटित होनेवाले कर्म-सिद्धात से भी सबद्ध है, इनकी तुलना करने की आवश्यकता है।

[३] चीनी सतो के उदाहरणार्थ, मेसिग्रस और कन्फ्यूशस ने इन दो वाक्यो के बीच में सामजस्य स्थापित करने में ही अपने ज्ञान को लगाया है, पूरब और पश्चिम में लोकतत्र के जो कुछ सिद्धात हैं उनका मिलान करना आवश्यक है।

[४] शासन को तर्क-बुद्धि और सद्गुण का प्रयोग समझनेवाली यूनानी और चीनी परपरा, हिंदूधर्म में सामाजिक और राजनीतिक मामलो म परम्परगत पार्थक्य और इस्लाम द्वारा कुरान के कानून का शक्ति-प्रयोग पर लागू किया जाना।

[५] राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक् एक तकनीक में बदल देने का मोह सभी

मानव और उसका पड़ौसी

सहिष्णुता की समस्या उसका तात्पर्य सहिष्णुता और सद्यवाद। परोपकार का महत्व।

मानव का काल और इतिहास से सबध

सत्ता तथा नित्यता। प्रगति और सजीवन। शिक्षा-दर्शन म निर्माणकारी तत्वो के रूप म परपरा तथा नवीकरण की सवल्पनाये।

कर्म का महत्व और उसका क्षेत्र

कर्म और चितन के बीच का सबध। साधु, दार्शनिक, मत और रहस्यद्रष्टा, कर्म की आवश्यकता के प्रति उन की प्रतिक्रिया। अहिंसा का नैतिक और राजनीतिक महत्व। क्या इसे मानव प्रगति का चरम विकास माना जाय, या केवल एक सामयिक साधन ?

मानव, उसकी शारीरिक दशा और उसका काम

ससार की तकनीकी जानकारी और जीवन को नियमित करने की आवश्यकताओ के सबध में विभिन्न सस्कृतियो की प्रमुख परपरायें। 'आत्म' पर विजय और बाह्य परिस्थितियों पर विजय। सौंदर्यात्मक आदर्श और चतुर्दिक कल्याण की इच्छा के बीच सबध। मानव श्रम के दर्शन का महत्व।

सामयिक समस्यायें और शिक्षा सबधी प्रयोग

आध्यात्मिक परपरा और भौतिक विकास। ऊपर बताये गये दृष्टिकोणो से मानव की सकल्पना पर वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव। जो सब से अलग है और नया

सभ्यताओ में देखने में आता है, इस प्रवृत्ति के विरुद्ध इसी प्रकार की अनेक प्रतिक्रियायें भी हुई है, उदाहरणार्थ यूनान में प्लेटो और अरस्तू, मध्ययुगीन ईसाई धर्म, जो शासन को राजनीतिक सद्गुणो का प्रयोग मानती है, भारत में धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोण, जिस में से पहला राजनीति को नैतिक दृष्टिकोण से देखता है तो दूसरा तकनीकी दृष्टि से देखता है, कनफ्यूशस जिसने सभ्यता की सकल्पना को राज्य की सकल्पना से ऊचा माना है, और समस्त चीनी ज्ञान भण्डार, जिस में विश्व सिद्धान्त में समाज की सर्वाङ्गीयता प्राप्त करने के लिये जीवन और मानव क्रिया-कलापों को नियमित करने की सकल्पना है।

है उसके प्रति आदर का दृष्टिकोण। दूसरे विचार दूसरे समुदाय, नये तरीके। वस्तुबोध और आत्मसात करने की समस्या। समुदाय के सदस्य तथा विश्व के नागरिक की हैसियत में मानव। शिक्षा में पूर्ण विश्व-दृष्टि का समावेश करने के साधन।

सामयिक समस्यायें और शिक्षा सबधी प्रयोग

इधर जो प्रयोग हुए हैं उन मे कुछ प्रमुख प्रयोगों के प्रकाश में नीचे लिखी समस्यायें बताई जा सकती हैं। शिक्षा में परपरा का स्थान और सामाजिक ढाचें में परिवर्तन। शिक्षा और शिक्षण। पूर्ण मानव की शिक्षा और विशेषज्ञ की सिखलाई। साधारण मानव की शिक्षा और समाज की दृष्टि से उपयोगी नागरिको की सिखलाई। शिक्षा में अनुरूप का आदर्श और व्यक्तिगत स्वतत्रता का आदर्श। शारीरिक श्रम और दस्तकारी का महत्व। कला और सौंदर्यात्मक अनुभूति का महत्व। सामाजिक सस्था के रूप में अध्यापन कार्य की तुलना में केवल शिक्षा देने मे सहायता के रूप में अध्यापक का योग। 'आधुनिक शिक्षा के प्रयोग स्वतन्त्र पहल-शक्ति और व्यवहारिक अनुभव। एक विश्व-अत करण की समस्या की दृष्टि से शिक्षा।

उपसहार

एक सतुलित लोकतन्त्रीय शिक्षा में जो कुछ होता है उसकी ऐसी सभाव्य परिभाषा करना जो हमारे युग की आवश्यक्ताओ को सन्तुष्ट करनेवाले आदर्शों से प्रेरित हो।

मानव और उसका पड़ोसी

सहिष्णुता की समस्या उसका तात्पर्य: सहिष्णुता और समन्वयवाद। परोपकार का महत्व।

मानव का काल और इतिहास से संबंध

कला तथा नित्यता। प्रगति और सजीवन। शिक्षा-दर्शन में निर्माणकारी तत्वों के रूप में परंपरा तथा नवीकरण की संकल्पनायें।

कर्म का महत्व और उसका क्षेत्र

कर्म और चिंतन के बीच का संबंध। साधु, दार्शनिक, संत और रहस्यद्रष्टा, कर्म की आवश्यकता के प्रति उन की प्रतिक्रिया। अहिंसा का नैतिक और राजनीतिक महत्व। क्या इसे मानव प्रगति का चरम विकास माना जाय, या केवल एक सामयिक साधन?

मानव, उसकी शारीरिक दशा और उसका काम

संसार की तकनीकी जानकारी और जीवन को नियमित करने की आवश्यकताओं के संबंध में विभिन्न संस्कृतियों की प्रमुख परंपरायें। 'आत्म' पर विजय और बाह्य परिस्थितियों पर विजय। सौंदर्यात्मक आदर्श और चतुर्दिक कल्याण की इच्छा के बीच संबंध। मानव श्रम के दर्शन का महत्व।

सामयिक समस्यायें और शिक्षा संबंधी प्रयोग

आध्यात्मिक परंपरा और भौतिक विकास। ऊपर बताये गये दृष्टिकोणों से मानव की संकल्पना पर वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव। जो सब से अलग है और नया

सभ्यताओं में देखने में आता है, इस प्रवृत्ति के विरुद्ध इसी प्रकार की अनेक प्रतिक्रियायें भी हुई हैं, उदाहरणार्थ यूनान में प्लेटो और अरस्तू, मध्ययुगीन ईसाई धर्म, जो शासन को राजनीतिक सद्गुणों का प्रयोग मानती है, भारत में धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोण, जिस में से पहला राजनीति को नैतिक दृष्टिकोण से देखता है तो दूसरा तकनीकी दृष्टि से देखता है, कन्फ्यूशस, जिसने सभ्यता की संकल्पना को राज्य की संकल्पना से ऊंचा माना है, और समस्त चीनी ज्ञान भण्डार, जिस में विश्व सिद्धान्त में समाज की सर्वाङ्गीयत प्राप्त करने के लिये जीवन और मानव क्रिया-कलापों को नियमित करने की संकल्पना है।

है उसके प्रति आदर का दृष्टिकोण। दूसरे विचार दूसरे समुदाय, नये तरीके। वस्तुबोध और आत्मसात करने की समस्या। समुदाय के सदस्य तथा विश्व के नागरिक की हैसियत में मानव। शिक्षा में पूर्ण विश्व-दृष्टि का समावेश करने के साधन।

सामयिक समस्याये और शिक्षा सवंधी प्रयोग

इधर जो प्रयोग हुए है उन मे कुछ प्रमुख प्रयोगो के प्रकाश में नीचे लिखी समस्यायें बताई जा सकती हैं। शिक्षा में परपरा का स्थान और सामाजिक ढाचें में परिवर्तन। शिक्षा और शिक्षण। पूर्ण मानव की शिक्षा और विशेषज्ञ की सिखलाई। साधारण मानव की शिक्षा और समाज की दृष्टि से उपयोगी नागरिको की सिखलाई। शिक्षा में अनुरूप का आदर्श और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर्श। शारीरिक श्रम और दस्तकारी का महत्व। कला और सौदर्यात्मक अनुभूति का महत्व। सामाजिक सस्था के रूप में अध्यापन कार्य की तुलना में केवल शिक्षा देने में सहायता के रूप में अध्यापक का योग। 'आधुनिक शिक्षा के प्रयोग स्वतन्त्र पहल-शक्ति और व्यवहारिक अनुभव। एक विश्व-भ्रत करण की समस्या की दृष्टि से शिक्षा।

उपसहार

एक सतुलित लोकतत्रीय शिक्षा मे जो कुछ होता है उसकी ऐसी सभाव्य परिभाषा करना जो हमारे युग की आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करनेवाले आदर्शों से प्रेरित हो।

परिशिष्ट २

लेखकों का जीवनी-कृति सूचक

एल्बर्ट बेगुएं

जन्म स्विटज़रलैण्ड, १७ जुलाई १९०१ को नव चातेल के कैन्टन में। पहले जेनेवा विश्वविद्यालय और बाद में सोरबान् में शिक्षा पायी।

हाले-विट्टेमबर्ग (जर्मनी) के विश्वविद्यालय में फ्रेंच साहित्य और फ्रेंच भाषा, तथा प्राचीन यूनानी साहित्य के प्राध्यापक फिर जेनेवा में रह, और फिर १९२९ से १९४५ तक बेल विश्वविद्यालय म। १९४५ से पेरिस में लेखक के रूप में रह रहे है।

१९४१ में एल्बर्ट बेगुए ने 'काहीर दु रहोन' पत्रिका की सस्थापना की। बाद में उसके सम्पादक बन गये और फासीसी प्रतिरोध के लेखकों की रचनाएं प्रकाशित की। १९५० में इमेनुग्रल मूनियरे की मृत्यु पर 'एस्प्री' मासिक पत्र के सम्पादन का भार सम्हाला। स्वर्गीय जौर्ज बेर्नानोस ने उन्हें अपनी मृत्यु के बाद अपने साहित्य के प्रकाशन का भार सौंपा।

बेगुए की रचनाएं ये हैं। 'लोम रोमान्तीक ए ल रैव', 'ऐसे स्यूर ल रोमान्तीस्म ग्रालमाण्यए ला पोएसी फ्रासे' (१९३७ नवीन परिवर्धित सस्करण १९४५', 'जेरार्द द नेवाल' (१९३७, नवीन परिवर्धित सस्करण १९४६), 'ला प्रिएर द पेगुई' (१९४२), 'ल 'ईव' द पेगुई' (१९४८), 'लिम्रो ब्लुवा ल एम्पासिया' (१९४३), 'लिम्रो बलुवा, मिस्तीक द ला दूलूर' (१९४८), 'फेब्लेस्स द लालमाण्य' (१९४५), 'बालजाक विज़िग्रोनेर' (१९४६), 'पैसियाल द रामूज' (१९४९), 'ब्लास पास्काल' (१९५२)।

नीचे लिखी पुस्तकें उन्होंने दूसरों के साथ मिलकर लिखी हैं 'ग्रोम्माज ए वगेसा' (१९४१), 'लिम्रो ब्लुवा' (१९४३), 'जोर्ज बर्नानोस' (१९४८), 'ल रोमान्तीस्म ग्रालमाण्य' (१९३७ और १९४८), 'सेंकान्तए, या द देकु-वेर्त' (१९५०)।

जर्मन भाषा से गेटे, टीसक, ग्रार्नीम, हौफ्मान, मोरीक, जौं-पाल रिक्टर (१९२९ से १९५० तक प्रकाशित १० भाग), 'संत बर्नार्द द केर्यो' ('ला केस्त दुग्राल'), मोरिस सेव, पास्काल, जेरार्द द नर्वाल, बालजाक (सभी रचनाएं) और लिम्रो ब्लुवा आदि सभी की रचनाओं का सम्पादन अथवा

रूपान्तरण किया है। जिन पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित हुई वे ये हैं— 'एस्प्री', 'फोर्ते', 'ले काहीएर दुसूद', 'ल नफ़', 'पोएसी ४६', 'रीव्यू द पोरी', 'रीव्यू द इस्तुआर लितेरेर', 'एत्यूद कारमेलितें', 'उन सेमा दा ल मौंद', 'तेर देश्रोम', 'तिमुमान्याज ऋलिएन गजेत द लूसान्', 'ला तावुल राद', 'वोर्त उन्द वारहाइत', इत्यादि।

जान ट्रेल क्रिस्टी

१८६६ में जन्म हुआ, विन्चेस्टर कालेज के विद्यार्थी रहे, १६१८ में कोल्डस्ट्रीम गार्ड्स में कमीशन लिया और बाद में ट्रिनिटी कालेज, आक्सफोर्ड,के लिए वज़ीफ़ा मिल गया।

रग्बी स्कूल में प्राचीन साहित्य के मुख्य अध्यापक नियुक्त हुए, फिर मेगडेलेन कालेज के फेलो और ग्रीक-लैटिन के अध्यापक नियुक्त हुए। रेंप्टन और वेस्ट-मिनिस्टर में हेडमास्टर के पद पर रहने के बाद, १६५० में जीसस कालेज के प्रिंसिपल हो गये।

धार्मिक तथा शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर आपने लेख, रिव्यू तथा भाषण प्रकाशित करवाए हैं।

रास बिहारी दास

जन्म १८६४ के आसपास सिलहट जिले के एक गांव में हुआ, जो अब पूर्वी पाकिस्तान का एक भाग है। पहले मिडिल वर्नेकुलर स्कूल, फिर अंग्रेजी माध्यमिक स्कूल और अंत में कलकत्ता विश्वविद्यालय में वज़ीफ़े मिले। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने एक रात्रि स्कूल खोला और गरीब विद्यार्थियों को मदद देने के लिए एक समाज की स्थापना की।

एम० ए० में उन्होंने द्वन्द्वात्मक तथा तत्वमीमांसा के तर्क का अध्ययन किया। पाठ्यक्रम में हेगल की 'लाजिक', कान्ट की 'क्रिटीक आफ़ प्योर रीज़न', फिक्ते का 'सायन्स आफ़ नालेज', और लोदज़े की 'मेटेफ़िज़िक्स' प्रमुख थीं।

१६४६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए और १६५१ में सागर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के 'डीन' हो गये।

उनकी पहली पुस्तक 'द सेल्फ एंड द आइडियल' नैतिक चेतना पर आधारित तत्वमीमांसा विषयक निबंध था। उनके दो ग्रंथ 'एसेंशियल्स आफ़ अद्वैतिज्म' और 'अज्ञान और द थियरी आफ़ इग्नोरेंस' (जो कि दो मित्रों के साथ मिल कर

लिखी गयी है) अद्वैत वेदांत की आलोचना से सबंधित हैं। अंग्रेजी में उन्होंने 'द फिलासफी आफ ह्वाइटहेड' और 'ए हैन्डबुक टु कान्टस क्रिटीक आफ प्योर रीजन' भी लिखी है और बंगला में कान्ट पर 'कान्टेर दर्शन'।

क्लेरेंस एच० फौस्ट

जन्म ११ मार्च १६०१ को डेफाएन्स (आयोवा) में हुआ। ४ अप्रैल १६५१ को जब फोर्ड फाउन्डेशन संस्था ने 'फंड फार द एडवांसमेंट आफ़ नालेज' नाम से एक निधि की स्थापना की तो आप उसके अध्यक्ष चुने गये। यह 'फंड' निजी लाभ के लिए नहीं बना है, और शिक्षा में सुधार करने के लिए प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा को सहयोग देने के लिए बनाया गया है।

इस पद को स्वीकार करने के पहले आप १६४७ से स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में नियुक्त थे। पहले पुस्तकालयों के निर्देशक के रूप में, और बाद में मानवीय विद्याओं और विज्ञानों के 'डीन' के रूप में। १६४७ में आप विश्वविद्यालय के स्थानापन्न अध्यक्ष थे।

पहले आप शिकागो विश्वविद्यालय में थे, जहाँ आप सतरह वर्ष तक अनेक पदों पर रहे: मानवीय विद्याओं के 'डीन आफ स्टुडेन्टस' अंग्रेजी और मानवीय विद्याओं के प्रोफेसर तथा 'ग्रेजुएट लाइब्रेरी स्कूल' के 'डीन'।

क्लेरेंस फौस्ट शिकागो विश्वविद्यालय, नार्थ सेन्ट्रल कालेज और इवेंजेलिकल थियोलाजिकल सेमीनेरी के ग्रेजुएट हैं।

आपकी रचनाएँ हैं 'जोनेथन एडवर्ड्स' (क्लेरेंस जानसन के सहयोग से, १६५५), 'जोनेथन एडवर्ड्स एन्ड साइन्स' (अमरीकी साहित्य १६३०), 'द बेकग्राउन्ड आफ द यूनिटेरियन अपोजिशन टु ट्रासेंडेंटेलिजम' (माडर्न फिलालाजी, १६३८), 'एमर्सन्स लिटरेरी थियरी एन्ड प्रेक्टिस' (माडर्न फिलालाजी, १६४६), 'फ्राम एडवर्ड्स टु एमर्सन' (ब्राउन विश्वविद्यालय में १६४५ में दिये गये भाषण)। आपके लेख 'ए जनरल एजुकेशन इन ट्रांजिशन' 'एलुक एहेड' (१६५१) में भी प्रकाशित हुए हैं।

हेलमुथ फान ग्लासेनेप्प

६ सितम्बर १८६१ को बर्लिन में जन्म हुआ। ट्युबिंगन, बर्लिन, म्यूनिच तथा बोन के विश्वविद्यालयों में शिक्षा पायी। वहाँ से आप ट्युबिंगन, बर्लिन, म्यूनिच और कोएनिग्सबर्ग विश्वविद्यालयों में भारतीय सभ्यता और तुलनात्मक धर्म पर भाषण दे रहे हैं। आप ट्युबिंगन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं और 'मेन्ड

एकेडमी आफ साइन्स एन्ड लिट्रेचर', लाहौर (अब नागपुर), 'एकेडमी आफ इंडियन सिवलिजेशन' तथा 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्' के सदस्य हैं।

आप १९२७-२८ में भारत आये, और १९३१ और १९३३में आपने भारतीय सभ्यता और आवास के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए यूरोप, जापान, चीन, हिन्दचीन, इन्डोनीशिया, उत्तरी और दक्षिणी अफ्रीका, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, फिजी द्वीपसमूह और आस्ट्रेलिया का विस्तृत भ्रमण किया।

आपने जर्मन भाषा में हिन्दू धर्म, जैन मत, बौद्ध मत, भारतीय साहित्य और दर्शन पर अनेकों ग्रंथों की रचना की है, विशेष रूप से भारतीय दार्शनिक माधव, वल्लभ तथा शंकराचार्य पर। उनके अन्य दो ग्रन्थ हैं : 'कान्ट एन्ड द रिलिजन्स आफ दि ईस्ट' और 'द फाइव ग्रेट रिलिजन्स'। आपके नीचे लिखे ग्रंथों का अनुवाद हो चुका है - 'जैन धर्म' (गुजराती में अनूदित, १९२७), 'ब्रह्म एन्ड बुद्ध' (फ्रेंच अनुवाद, १९३७), 'द डाक्ट्रिन आफ कर्म इन जैन फिलासफी' (अंग्रेजी अनुवाद, १९४२), 'बुद्धिस्ट मिस्ट्रीज' (फ्रेंच अनुवाद, १९४४) 'इंडियन फिलासफी', (फ्रेंच अनुवाद, १९५१)।

हुमायूं कबीर

हुमायूं कबीर का जन्म १९०६ में फरीदपुर, बंगाल में हुआ। आप आंध्र और कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रह चुके हैं। आपने दो प्रकार के कार्यों में विशेष रुचि ली है। एक ओर, दर्शन और काव्य में और दूसरी ओर राजनीति और प्रशासन में। आप बंगाल कृषक पार्टी के सेक्रेटरी जनरल और उसकी ओर से बंगाल विधान परिषद् के नेता रहे हैं। आप १९४१ और १९४५ में इंडियन फिलासाफिकल कांग्रेस के नीतिशास्त्र तथा राजनीति खंड के, और १९५० में उक्त कांग्रेस के रजत जयंती अधिवेशन में दर्शनशास्त्र के इतिहास से संबंधित खंड के अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे।

यूनेस्को की जनरल कान्फ्रेंस के तीसरे अधिवेशन में आप भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के उपाध्यक्ष थे। अब आप भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार हैं।

आपकी अंग्रेजी पुस्तकें हैं 'महात्मा एन्ड अदर पोएम्स', 'ओवर हेरिटेज' (भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन), 'पोएट्री मोनड्ज़ एन्ड सोसाइटी' (एक सौंदर्य शास्त्रीय अध्ययन), 'मेन एन्ड रिवर्स' (एक उपन्यास, स्वीडिश में अनूदित)।

'कान्टेम्परेरी इंडियन फिलास्फी' ग्रंथ में भी आपका लेख है, और 'हिस्ट्री आफ फिलास्फी : ईस्टर्न एन्ड वेस्टर्न' के सम्पादक मंडल के आप सेक्रेटरी हैं।

आपने कान्ट के 'क्रिटीक आफ़ जजमेंट' की भूमिका का अंग्रेजी में सर्वप्रथम अनुवाद किया, और बंगला में भी आपकी बहुत सी पुस्तकें छपी हैं, जैसे 'इमेनुएल कान्ट', 'मार्क्सवाद' आदि।

यशो कनाकुरा

जन्म १७ नवम्बर १८९६ में हुआ। आप टोकियो विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट हैं। 'तोहोकु सेन्दाइ' के शाही विश्वविद्यालय के आप प्रोफेसर रह चुके हैं, बाद में आप कानून और साहित्य की 'फैकेल्टी' में भारतीय सभ्यता के प्रोफेसर ए और तदनन्तर साहित्य की 'फैकेल्टी' के 'डीन' और १९४९ से सामान्य शिक्षा फैकेल्टी के 'डीन' हैं।

१९२३ और १९२६ के बीच आप भारतीय सभ्यता का अध्ययन करने के लिए इंग्लैण्ड, जर्मनी और भारत गये। १९४९ से आप जापानी विज्ञान परिषद् के सदस्य हैं।

आपके प्रमुख ग्रंथ : 'एन इनक्वायरी इन्टू द वेद फिलासफी', 'इंडियन मारल हिस्ट्री इन एनशियेन्ट टाइम्स', 'इंडियन मारल हिस्ट्री इन मिडीवल टाइम्स', 'फारमेशन आफ इंडियन स्प्रीचुअल कल्चर', 'एन इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन फिलासफी', 'इंडियन थाट एन्ड कल्चर', 'सेनरोन गेगी', 'इंडियन स्टडीज बाइ जपेनीज', 'स्टडी आफ़ धर्म', तथा पूरबी दर्शन पर दूसरी कई पुस्तकें।

इब्राहीम मदकूर

जन्म १९०२, क़ाहिरा के 'टीचर्स ट्रेनिंग कालेज' के विद्यार्थी। फिर फ्रांस में अध्ययन किया, जहां के आप साहित्य और कानून के ग्रेजुएट हैं और जहां बाद में आपने डी० लिट० की डिग्री प्राप्त की। १९३० से १९४० तक क़ाहिरा के फ़ुआद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रहे। मिस्री सेनेट के सदस्य चुने गये और १९४५ से 'फ़ुआद एकेडमी आफ़ अरेबिक' के सदस्य हैं।

आपकी फ्रेंच की रचनाएँ ये हैं : 'ला प्लास दाल फराबी दा लेकोल फिलोसोफीक मुसुलमान' (पेरिस, १९३४), 'ला ओरगेनोन', 'दारिस्तोत दा ल मोंद आराब' (पेरिस, १९३४), 'ला रेफोर्म आग्रेरे' (राब्यू द लीजिप्त कातोपोरेंस), 'द कानाल द सुएज़ ए लेकोनोमी एजिप्तिएन्' (राव्यू द ला सोसिएते देझेत्यूद बल्ज़), 'इब्न सीना ए लालकीमी अराब'।

अरबी में आपकी रचनाएँ हैं : 'दर्शन के इतिहास से सबक़', (काहिरा, १९३७), 'मुस्लिम दर्शन एक पद्धति और उसका प्रयोग' (क़ाहिरा, १९४८),

'मिस्र में शासन पद्धति' (काहिरा, १६३७), 'अल शिफा : इब्न सिना के दर्शन की एक सामान्य प्रस्तावना' (काहिरा, १६५१)।

विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग में अध्यापन करने के साथ-साथ इब्राहीम मदकूर पिछले दस वर्षों से सेनेट के वित्त समिति के सेक्रेटरी भी हैं।

आपकी रुचि विशेष रूप से इस्लामी विचार के इतिहास और समाज विज्ञान में है। जब से आप अकादमी के सदस्य हुए हैं, तब से आप अरबी की पारिभाषिक शब्दावली में विशेष रुचि ले रहे है, जिसे आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा की जरूरतो को पूरा करने के योग्य बनाने की आवश्यकता है।

गुणपाल पियासेन मललसेकेर

गुणपाल पियासेन मललसेकेर पी-एच० डी०, की आयु ५२ वर्ष की है और आप 'फेकेल्टी आफ ओरिएन्टल स्टडीज' के 'डीन' तथा सीलोन विश्वविद्यालय के पाली विभाग के (जिसमें बौद्ध सभ्यता भी सम्मिलित है) प्रोफेसर और अध्यक्ष हैं। आप बौद्धो के विश्व-सगठन (जिसमे ५३ देशो के प्रतिनिधि हैं) के अध्यक्ष हैं, अखिल श्रीलका बौद्ध काग्रेस के अध्यक्ष हैं, जिससे श्रीलकावासी बौद्धो के सभी धार्मिक, सास्कृतिक तथा मानवतावादी समाज सम्बद्ध है। काउसिल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (श्रीलका शाखा) के सदस्य हैं। १६२७ से श्रीलका की सोसायटी आफ आर्ट्स के अवैतनिक सेक्रेटरी हैं, श्रीलका के राष्ट्रीय सग्रहालय के सलाहकार बोर्ड तथा श्रीलका के पुरातत्वीय सर्वेक्षण के सदस्य हैं, यूनेस्को की सिंहली राष्ट्रीय परिषद् की कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं।

आपने एशिया, अमेरिका और यूरोप में बड़ा विस्तृत भ्रमण किया है और आप हाल में दक्षिण-पूरबी एशिया की यात्रा करके लौटे हैं, जहाँ आप बर्मा थाइलैण्ड, सिंगापुर, मलाया, कम्बोडिया, वीएतनाम, लाओस और भारत गये। इस दौरान मे आपने बौद्ध सस्कृति पर भाषण दिये।

आपने सास्कृतिक और धार्मिक दोनो प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो में भाग लिया है, जिनमें से प्रमुख हैं—'वेम्बर्ले कानफरेन्स आफ लिविंग रिलिजन्स' (१६२४), 'वर्ल्ड फेलोशिप आफ फेथ्स' का उद्घाटन सम्मेलन (१६३६), हवाई में हुए 'ईस्ट-वेस्ट फिलासफर्स कानफरेन्स' (अक्तूबर, १६४६) और अखिल भारतीय ओरियटल कान्फ्रेंस (अक्तूबर, १६४६)। अतिम सम्मेलन में आपने, पाली और बौद्धमत के अनुभाग का सभापतित्व किया। आप सीलोन रेडियो से बराबर सास्कृतिक विषयो पर भाषण प्रसारित करते आये हैं और भारत, इग्लैण्ड तथा अमेरिका में भी आपने बहुत से भाषण प्रसारित किये हैं।

आपकी प्रकाशित रचनाएँ हैं : 'द पाली लिट्रेचर आफ सीलोन' (रायल एशियाटिक सोसायटी में पुरस्कृत प्रकाशन), 'द कमेन्ट्री आफ द महावंश' (श्रीलंका सरकार द्वारा प्रकाशित श्रीलंका का इतिवृत्त), 'द डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स' (भारत सरकार की 'इंडियन हिस्टोरिकल टेक्सट सीरीज' में प्रकाशित दो भाग), 'द एक्सटेंडेड महावंश' (श्रीलंका की 'रायल एशियाटिक सोसायटी' द्वारा प्रकाशित श्रीलंका से संबंधित पाली इतिवृत्त)।

श्रीलंका की बौद्ध कांग्रेस के तत्वावधान में लिखे गये पाली के बौद्ध धर्म-विधान के ग्रंथों की अनुवाद माला के आप प्रधान सम्पादक रहे हैं, (पाँच भाग प्रकाशित हो चुके हैं)।

बौद्ध धर्म विधान संबंधी इतिवृत्तों की अंग्रेजी अनुवाद माला का प्रधान सम्पादक बनाने के लिए हाल ही में बर्मा सरकार ने आपको आमंत्रित किया है। विद्वानों के विनिमय की योजना के अन्तर्गत आपने १९५२ में अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में भाषण दिये हैं।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

एम० ए०, आक्सफोर्ड तथा मद्रास से। डी० लिट० (सम्मानार्थ) आंध्र, आगरा, इलाहाबाद, पटना और लखनऊ से। एल० एल० डी० (सम्मानार्थ), लन्दन, बनारस और सीलोन से। डी० एल० कलकत्ता से। एफ० बी० ए०, एफ० आर० एस० एल०, आल सोल्स कालेज आक्सफोर्ड के फैलो। रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल के फैलो (सम्मानार्थ)। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के पूरबी धर्म और नीति के स्पेल्डिंग प्रोफेसर।

जन्म ५ सितम्बर, १८८८ को हुआ और शिक्षा मद्रास कालेज में पायी। १९११ से १९१७ तक प्रेसिडेन्सी कालेज, मद्रास में दर्शनशास्त्र के सहायक प्रोफेसर रहे, इसके बाद मैसूर (१९१८-२१) और कलकत्ता (१९२१-३१) और (१९३१-४१) के विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर रहे। १९३१ से १९३६ तक आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर के उप-कुलपति और १९३९ से १९४८ तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उप-कुलपति रहे। मेन्चेस्टर कालेज, आक्सफोर्ड (१९२६ और १९२९-३०) और शिकागो विश्वविद्यालय में लेक्चरर के पद पर रहे। १९२९ में आप हिबर्ट लेक्चरर रहे। सन् १९४१ से आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के सर सयाजीराव गायकवाड़ अध्यापन-पीठ पर सुशोभित हैं। १९२७ और १९४२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में व्याख्यान दिये और १९४६ में नीचे लिखे विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने के

लिये गये : हार्वार्ड, येल, प्रिंसटन, कोलम्बिया, शिकागो, मिशिगन, मिनेसोटा और दक्षिण केलिफोर्निया।

आपने १९२७ में भारतीय दर्शन कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन का बम्बई में सभापतित्व किया और १९२५-२७ मे आप कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के भी अध्यक्ष रहे। १९३० में आप अखिल-एशिया शिक्षा सम्मेलन के सभापति रहे, यह सम्मेलन बनारस में हुआ था। १९३१ से १९३९ तक आप लीग आफ़ नेशन्स की बौद्धिक सहयोग समिति में काम करते रहे। १९४६-१९४९ में आप भारतीय विधान सभा के सदस्य रहे, १९४९ में यूनेस्को कार्यकारिणी बोर्ड के अध्यक्ष रहे और १९४८, १९४९ मे आप इंडियन पैन क्लब के अध्यक्ष नियुक्त किये गये।

१९४९ से १९५२ तक सर्वपल्ली राधाकृष्णन मास्को में भारत के राजदूत रहे। १९५२ में आप भारतीय गणराज्य के उप-राष्ट्रपति चुने गये।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें ये हैं 'इंडियन फिलासफी', 'द फ़िलासफी आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर', 'द रेन आफ रिलिजन इन कन्टेम्परेरी फिलासफी', 'द फ़िलासफी आफ द उपनिषद्स', 'द हिन्दू व्यू आफ लाइफ', 'ऐन आइडेलिस्ट व्यू आफ लाइफ', 'ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलिजन', ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थाट', 'महात्मा गांधी', 'इंडिया एण्ड चाइना', 'एजुकेशन, पालिटिक्स एण्ड वार', 'रिलिजन एण्ड सोसायटी', 'इज़ दिस पीस ?', 'भग्वद्गीता', धम्मपद'।

आपने 'कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी' का सम्पादन किया।

आंद्रे रूसो

आपका जन्म १८९६ में पेरिस म हुआ। १९२० से आप बराबर पेरिस की साहित्यिक तथा दूसरी पत्रिकाओं के लिए लेख लिख रहे हैं। आप विशेष रूप से आलोचनात्मक लेख लिखा करते हैं और १९३६ में 'आरी द रेन्येर की मृत्यु के बाद' 'फिगारो' के साहित्य विभाग के सम्पादक हो गये। आपकी अधिकतर रचनाएँ सामयिक साहित्य को उस काल के प्रमुख लेखकों के माध्यम से देखने का प्रयास है। उदाहरण के लिए—'आम ए विसाज़ टु विएतीच सिएक्ल', 'ला पारादी पेदू', 'प लितरात्यूर टु विएती सिएक्ल' (३ भाग)।

सामयिक साहित्यिकों के चित्रण के अतिरिक्त आप प्राचीन उद्भट साहित्यिकों का अध्ययन भी प्रस्तुत कर रहे हैं। इस ग्रंथमाला के तीन भाग 'ल माद क्लासीक' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

१९४० म आपने इन उन लेखकों का साथ दिया जो जर्मन कब्जे के विरोधी थे। यह प्रवृत्ति आप में चार वर्ष तक रही, जिस आपने पहले जर्मनी के अधिकार के बाहर के क्षेत्र में जो समाचार स्वातन्त्र्य कुछ महीने रहा उसका लाभ उठा कर कलम द्वारा प्रकट किया, और बाद में एकदम मौन होकर। आपने इस अवकाश-काल का सदुपयोग किया और पेगुई पर एक बहुत बड़ी पुस्तक 'ल प्रोफ्त गुई' लिख डाली, जो अब इस लेखक के सबध में सब से महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक मानी जाती है। जर्मनी के अधिकार काल में आपने 'क्रोनीक द लेस-पेरांस' पुस्तक प्रकाशित करवाई, जो फ्रांस के कष्ट-काल के सब से निराशापूर्ण दिनों में उसके अदम्य विश्वास की साक्षी है।

सोरबोन, सेंत्र युनिवरसितेर मेदितरानियेन, और ब्रुसेल, एन्टवर्प, लिएज, लूवें, नामूर, जेनेवा, लाउसान्, बेल, ज्यूरिख, फ्राइबुर्ग आल्जिएर, त्यूनिस, राबात, कैसाब्लांका आदि विश्वविद्यालयों में आपने व्याख्यान दिये। फुआद विश्वविद्यालय के तत्वावधान में १९०० से १९५० तक फ्रेंच साहित्य पर व्याख्यान देने के लिए आप १९५१ में जनवरी से मार्च तक काहिरा में रहे। आप सिकन्दरिया, बेरुत और दमिश्क के विश्वविद्यालयों में भी गये और हाल में आपने निकटपूर्व की जो यात्राएँ की उससे पूरब और पच्छिम के सबधो की समस्या में आपकी दिलचस्पी विशेष रूप से बढ़ गयी है और आपने उसे अपने अनेक व्याख्यानों और लेखों का विषय बनाया है।

जॉक रुएफ

जन्म सन् १८९६। आपने 'एकोल पोलीतेकनीक' (पेरिस) में गणित की ठोस शिक्षा पाई है। १९२२ म आपकी पहली पुस्तक 'दे सिमास फिज़ीक ओ सियास मोराल' (एन्त्रोदूक्सियोन अ लेत्यूद द ल मोराल ए द ला पोलीतीक रासियोनेल्ल) प्रकाशित हुई। इसके बाद आप की 'थेओरी दे फ़ेनोमेन मोनितेर' १९२७ मे प्रकाशित हुई और फिर एक ऐसी पुस्तक लिखी जो आज बेकारी की समस्या पर सब से प्रामाणिक कृत मानी जाती है (१९३१)। १९४५ में 'लोर्द्र सोसिआल' की रचना की जिसमें आपने अपने द्रव्य सबधी सिद्धांतों की फिर से पुष्टि की है और समाज की गठन की विस्तृत विवेचना की है। कुछ आलोचकों का मत है कि इस ग्रंथ में सामाजिक विकास के एक नये दर्शन का सूत्रपात किया गया है। १९४९ में 'एपीत्र ओ दिरिजिस्त' और १९५१ में 'दिस्कूर्ज ओज्र एदेपैंदा' प्रकाशित हुए।

पेरिस स्कूल आफ पोलिटिकल साइन्स में आप अर्थशास्त्र की अध्यापन-पीठ पर सुशोभित है, और साथ ही वित्त मन्त्रालय के मुद्रा सबंधी एक विभाग के सचालक है, फ्रास के राज्य बैंक के उप-गवर्नर हैं। आप दर्शनशास्त्र तथा मानववादी अध्ययन की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् के अध्यक्ष हैं और 'आकादेमी दे सियास मोराल्ज-ए-पोलीतीक' के सदस्य भी हैं।

हिल्मी जिया उल्केन

जन्म १९०१ में इस्ताम्बूल में हुआ। आप इस्ताम्बूल में विज्ञान विभाग के प्रोफेसर जिया उल्केन के सुपुत्र हैं। इस्ताम्बूल विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद आप शिक्षा मत्रालय मे सांख्यिकी के सचालक नियुक्त हुए। १९४० में विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र तथा इतिहास-दर्शन के लेक्चरर नियुक्त हो गये और बाद को इस्ताम्बूल विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

आपकी रचनाएँ ये हैं 'लेथीक द लाभूर' (१९३०), 'ला पानिमुआन यूमानीतेर' (१९३२), 'इस्तुआर द ला पासे तुर्क' (१९३३), 'ले कोनादिक्सियो द् कौनफोरमिस्म' (१९३३), 'ले फिलोसोफ द विएतीम सिएक्ल' (१९३६), 'ला सोसियोलाजी जेनेराल' (१९४२), 'ला पासे द लिस्लाम' (१९४६), 'लेजाफ लुआस रेसिप्रोक दा ला सिविलिजासियो निस्लामीक' (१९४७), 'ला मोराल' (१९४७), 'ला नासियोन ए ला कोसियास द लिस्तुआर' (१९४८), 'क्रितीक द् मातेरियालिज्म इस्तोरीक' (१९५१)। अतिम पुस्तक उनकी 'लक्सपेरियास तोताल द लोम्' की भूमिका है।

आप एक समय 'लोम' पत्रिका के सम्पादक थे और अब 'रिव्यू द सोसिलीजी' के सम्पादक है, जिसके अतिम कुछ अक तुर्की, फ्रेंच और अग्रेजी तीनो भाषाओं मे प्रकाशित हुए हैं। आप आई० एस० ए० के सस्थापकों में से एक हैं, फ्रेंच समाजशास्त्रीय सस्था के सदस्य और तुर्की समाजशास्त्रीय सस्था के अध्यक्ष हैं।

ए० आर० वाडिया

आपका जन्म ४ जून १८८८ को बम्बई मे हुआ। १९०९ म बम्बई विश्वविद्यालय से ग्रेजुएट हुए और फिर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र और राजनीति में (विशेष योग्यता के साथ) डिप्लोमा प्राप्त किया। आप कानून पढने लन्दन गये और केम्ब्रिज म आपने नैतिक विज्ञान के 'ट्राइपोस' के लिए अध्ययन किया।

आप बम्बई विश्वविद्यालय में अग्रेजी और दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर और मनोविज्ञान के लेक्चरर रहे और मैसूर विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर रहे।

आप मैसूर, अन्नमलइ, आगरा और बड़ौदा विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के अध्ययन बोर्ड के सदस्य रहे हैं।

आप १६२५ में भारतीय दर्शन कांग्रेस के नीतिशास्त्र अनुभाग के सभापति रहे, १६२६ में उसके तर्कशास्त्र तथा तत्व मीमांसा अनुभाग के सभापति और १६३१ में सारी कांग्रेस के सभापति रहे। १६३७ से आप उसकी कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष हैं।

आपकी प्रकाशित रचनाएँ ये हैं : 'द इथिक्स आफ फेमिनिज्म' (एलन एण्ड अनविन), 'ए टेक्स्ट बुक आफ मारल इन्स्ट्रक्शन फोर टीचर्स' (मैसूर सरकार), 'ज़ोरोआस्टर' (जी० मेटसन एण्ड क०, मद्रास), 'सिविलिज़ेशन ऐज अ को-आपरेटिव एडवेंचर' (मद्रास विश्वविद्यालय), 'रिलिजन ऐज अ क्वेस्ट फार वेल्यूज़' (कलकत्ता विश्वविद्यालय)।

आपने निम्नलिखित ग्रंथों के निर्माण में सहयोग दिया : 'कन्टेम्परेरी इण्डियन फिलासफ़ी' (एलन एण्ड अनविन), 'राधाकृष्णन' (उनके साठवीं वर्षगाँठ पर संकलित ग्रंथ), 'द सोशल फ़िलासफ़ी आफ़ राधाकृष्णन'।

आपने नीचे लिखी पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित किये हैं :
'माइन्ड एण्ड फिलासफ़ी' (इंग्लैण्ड में), 'द मोनिस्ट', 'फिलासफिकल रीव्यू' और 'इन्टरनेशनल जर्नल आफ एथिक्स' (अमेरिका में), 'आर्यन पाथ', 'फिलासफिकल क्वार्टरली' (भारत में) इत्यादि।